भाषा का इतिहास

(परिवर्धित तथा परिष्कृत संस्करण)

History of Language

लेखक

भगवद्दत्त

प्रकाशक

इतिहास प्रकाशन मण्डल

१/२८ पञ्जाबी बाग, दिल्ली-३४

प्रकाशक :

इतिहास प्रकाशन मण्डल
१/२८, पञ्जाबी बाग, दिल्ली-३४

प्रथम मुद्रण संवत् २०१२
द्वितीय संस्करण संवत् २०१४
तृतीय संस्करण संवत् २०२१

मूल्य : आठ रुपया

मुद्रक :
बदलिया प्रिंटिंग प्रेस,
दाईवाड़ा, नई सड़क,
दिल्ली-६
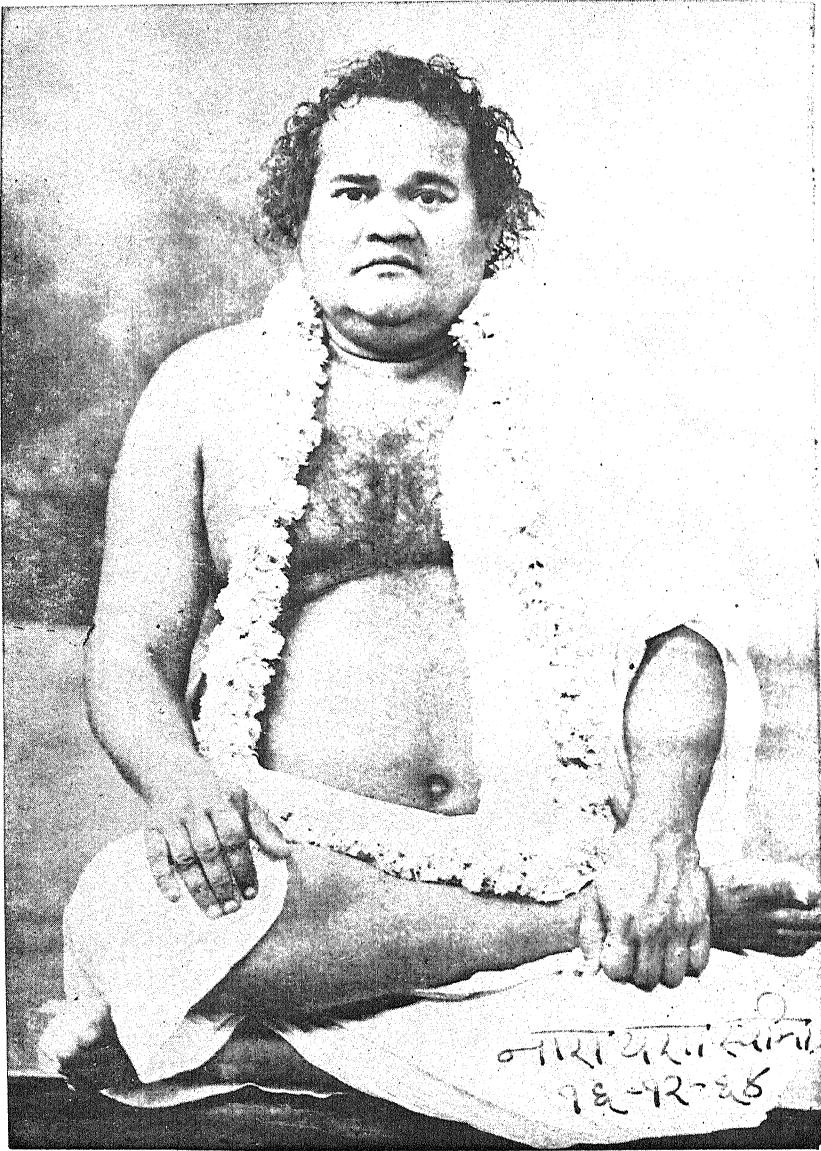
भारतीय संस्कृति के अनन्य रक्षक
सकल शास्त्र-निष्णात, तपोमूर्ति
श्री नारायण स्वामी जी महाराज

विविध शास्त्र-निष्णात

आदरणीय

श्री नारायण स्वामी जी महाराज को

समर्पित

तृतीय संस्करण का प्राक्कथन

इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण को समाप्त हुए आज चार वर्ष हो चुके हैं। अनेक कारणों से नया संस्करण शीघ्र नहीं छप सका। इस संस्करण में प्रायः सब ही व्याख्यानों में नई सामग्री जोड़ी गई है। अन्त का अंग्रेज़ी विषयक व्याख्यान सर्वथा नया है। कई-कई पृष्ठ नए सिरे से लिखे गए हैं।

इतने वर्षों के अधिक अध्ययन से भी मेरे पहले परिणाम ही अधिकाधिक पुष्ट हो रहे हैं। पाठकों को पता लगेगा कि प्राचीन आर्य विद्वानों के भाषा-विषयक विचार speculation[1] मात्र नहीं थे। वे सत्य विचार थे और उन विद्वानों की ऊहा को वर्तमान संसार अभी नहीं पहुँच सका। ईसाई-यहूदी लेखकों के भाषा-विषयक प्रायः मत पक्षपात-पूर्ण हैं। उनका यह पक्षपात इस संस्करण से अधिक स्पष्ट होगा।

आक्सफोर्ड अंग्रेजी कोष की कई भ्रान्तियाँ यहाँ दिखाई गई हैं। पर यह दिग्दर्शनमात्र है।

अन्तिम अंग्रेज़ी-विषयक व्याख्यान के लिखने में श्री पंडित आत्मानन्द जी विद्यालङ्कार ने पर्याप्त सहायता की है। मैं उनका आभार मानता हूँ।

इस संस्करण के प्रकाशन आदि का सारा श्रेय वैदिक ज्ञान के प्रचारार्थ उत्साह-विशेष प्रदाता, आदरणीय श्री नारायण स्वामी जी महाराज का है। मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

भारत के द्वितीय प्रधान मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री के शासन संभालने के सातवें मास में यह संस्करण छपा, जब विद्वान् इस बात की प्रतीक्षा में हैं कि कब ये प्रधान मन्त्री अंग्रेजी भाषा का वृथा-भार भारत के कन्धों से हटा कर स्वर्गीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन जी का ऋण चुका सकेंगे।

दयानन्द सरस्वती अनुसन्धान आश्रम — भगवद्दत्त

१।२८ पञ्जाबी बाग

दिल्ली-३४

२२-१२-६४

---

१. जूलिअस ऐग्लिंग, शतपथ ब्राह्मण, भाग १, भूमिका, पृ० २३।

प्रथम मुद्रण का प्राक्कथन

पञ्जाब विश्वविद्यालय के एम० ए० संस्कृत, हिन्दी के पाठ्य-क्रम में भाषा-विद्या का विषय सन्निविष्ट है। संस्कृत पाठ्यक्रम में लिखा गया है कि विद्यार्थी को भाषा-विद्या-विषयक प्राचीन भारतीय पक्ष भी जानना चाहिए। इस प्रकार की कोई पुस्तक छात्रों के लिए सुलभ न थी।

पञ्जाब विश्वविद्यालय के कैम्प कालेज में इस विषय पर व्याख्यान देते समय मुझे भारतीय विचारधारा पर प्रकाश डालना पड़ता था। उसी का फल प्रस्तुत व्याख्यान हैं। इन व्याख्यानों में भारतीय पक्ष का दिग्दर्शन कराया गया है।

इसके साथ ही पश्चिम के सर्वमान्य भाषा-विदों के विभिन्न मत भी प्रायः उद्धृत किये गए हैं। अनेक विषयों पर पश्चिम के विद्वान् सहमत नहीं हैं। पर भारत के विश्वविद्यालयों में उनका प्रायः एक पक्ष ही पढ़ाया जाता है। पश्चिम के तद्विपरीत पक्षों का कोई उल्लेख नहीं करता। मैंने यत्र-तत्र सब पक्षों को उद्धृत किया है। श्री अरविन्द घोष सदृश उद्भट विद्वान् का विचार भी उद्धृत किया गया है।

इस तुलनात्मक अध्ययन से छात्रों का ज्ञान बहुत परिमार्जित हो जाएगा। ये व्याख्यान पुस्तक के रूप में नहीं हैं, टिप्पण-मात्र हैं। फिर भी योग्य पाठक इनसे पूरा लाभ उठा सकते हैं। मेरे विद्यार्थी शीघ्रातिशीघ्र इनका मुद्रण चाहते थे, अतः इनका विस्तार नहीं किया गया।

भारतीय पक्षों के विचार में श्री पं० युधिष्ठिर मीमाँसक से सदा गम्भीर परामर्श मिलता रहा है। तदर्थ उनका आभारी हूँ। ओरिएण्टल बुकडिपो के संचालक जी ने इस टिप्पण-मात्र का प्रकाशन स्वीकार कर लिया, अतः उनका बड़ा आभारी हूँ।

ईस्ट पटेल नगर
६—३—५६

—भगवद्दत्त

द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन

इस पुस्तक के पहले मुद्रण की प्रतियाँ कुछ ही मास में समाप्त हो गईं। वह मुद्रण अपने छात्रों के लिए टिप्पण-मात्र था। अतः इस परिवर्धित संस्करण की आवश्यकता शीघ्र आ पड़ी। इस काल में कई योग्य विद्वानों ने इस पुस्तक को पढ़ा। उन्होंने इस ग्रन्थ की विचार-सरणी की उपादेयता की प्रशंसा की और मेरा उत्साह बढ़ाया। पाश्चात्य-विचारानुगामी अनेक विरोधियों ने भी इस पुस्तक को पढ़ा, पर उनमें से किसी को इसके खण्डन का साहस नहीं हुआ।

भारतीय सत्य इतिहास को प्रकाशित करने वाले वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भारतवर्ष का इतिहास, तथा भारतवर्ष का बृहद् इतिहास आदि ग्रन्थों के अनुक्रम में यह पुस्तक है। विरोधी लोगों ने इन ग्रन्थों के विरुद्ध यत्र-तत्र गुप्त आन्दोलन किया, पर वे ग्रन्थ फैलते ही जा रहे हैं। यूरोपीय विचार-धारा को इन ग्रन्थों ने पर्याप्त निस्तेज और जर्जरित किया है। उस विचार के लोग इन ग्रन्थों से खिझते हैं, पर कर कुछ नहीं सकते। उनके पास न सत्य इतिहास का आश्रय है, न पक्षपात-राहित्य और न तर्क का तीक्ष्ण खड्ग। उनकी योग्यता इतनी ही है कि वे लिखें कि यह unconvincing है। वे अपने कथनों को हेतुओं से परिपुष्ट नहीं कर सकते।

अब यह ग्रन्थ टिप्पण-मात्र नहीं रहा। यह पहले से द्विगुण आकार में प्रस्तुत किया जाता है। इसमें छः (४, ७, १०, १६, १८, २०) व्याख्यान सर्वथा नए हैं। कई प्रकरण (१३-१५ व्याख्यान) जो पहले अति संक्षिप्त और किसी दूसरे व्याख्यान के अन्तर्गत थे, अब स्वतन्त्र व्याख्यान के रूप में पृथक् कर दिए गए हैं। अन्य व्याख्यानों की सामग्री भी परिमार्जित की गई है।

इस ग्रन्थ में जर्मन-लेखकों का भाषा-विद्या-विषयक मिथ्याभिमान परीक्षित किया गया है और उसका खोखलापन दर्शाया गया है। उन्होंने भारतीय ऋषियों के ज्ञान पर जो लाञ्छन लगाए थे, और आधुनिक अल्पज्ञ, पक्ष-पाती लेखकों को प्रच्छन्न रूप से ऋषि पदवी से अलंकृत करने का जो यत्न किया था, उस सबकी निस्सारता उद्घाटित की गई है। यदि इन लोगों में साहस है तो उन्हें हमारे तर्कों का युक्ति-युक्त और आमूलचूल निराकरण करना चाहिए।

हमने वर्तमान भाषा-मत के दोषों को नग्न कर दिया है और प्राचीन भारतीय आर्य ग्रन्थों की सहायता से इसे मत-मात्र से ऊपर उठाकर भाषा-विद्या के स्थान तक पहुँचाया है।

भाषा-विद्या के ग्रन्थों में साधु शब्दों का इतिहास अवश्य होना चाहिए। पाश्चात्य ग्रन्थों में यह है नहीं। उनमें अपशब्दों का इतिहास है, और वह भी अधूरा। हमने अतिभाषा का व्याख्यान लिखकर इस त्रुटि को आंशिक रूप से दूर कर दिया है। साधु शब्दों के अस्तित्व में इतिहास का प्रमाण है। इस सत्य से भयभीत होकर पाश्चात्यों ने भारतीय इतिहास की सत्यता पर जो आक्षेप किये थे, उनका उत्तर हमने अपने विभिन्न ग्रन्थों में दे दिया है। तदनुसार भारतीय ग्रन्थों की जो तिथियाँ हमने दी हैं, वे ही ठीक हैं और पाश्चात्यों की कल्पित तिथियाँ मतान्धता का फल हैं। इस सत्य इतिहास के अनुसार लौकिक संस्कृत का काल भी भारत-युद्ध से कई सहस्र वर्ष पूर्व का है। इस सारे इतिहास को अपनी गप्पों से ईसा से दो सहस्र वर्ष पहले तक सीमित कर देना जड़-बुद्धियों का काम है। प्रस्तुत ग्रन्थ उनकी एतद्विषयक मौलिक भूलों पर कुठाराघात है। इसमें भाषा-विद्या-विषयक उनके दो शती में निर्मित अभेद्य समझे जाने वाले दुर्ग का भेदन कर दिया गया है।

वर्ण-विकारों के कारण केवल आर्ष-ग्रन्थों से स्पष्ट हुए हैं। प्राचीन शिक्षा-शास्त्रों ने इसमें महती सहायता की है। इन्हीं के आधार पर हमारा वर्ण-विमर्श नामक ७वां व्याख्यान लिखा गया है। वैदिक और लौकिक संस्कृत के व्यापक और असंशय ज्ञान से ही भाषा-विद्या का यथार्थ बोध होता है। ऐसा व्यापक ज्ञान पाश्चात्यों में अणुमात्र नहीं है। इसके उदाहरण, **द्विविधा** (पृष्ठ ५४), **अट्णार** (पृष्ठ १७७) तथा **विड्डो और विडोअर** (पृष्ठ २२९) पदों के अध्ययन से स्पष्ट हैं।

तालव्य-नियम पर अनेक पाश्चात्य भाषाविज्ञों को महान् गर्व था। उसका खण्डन यूरोप में भी हुआ है, पर हमने उसका समूल उन्मूलन कर दिया है। अब किसी को यह कहने का दु:साहस नहीं होना चाहिए कि वेद से पहले कोई और भाषा थी, अथवा वेद विभिन्न बोलियों का सम्मिश्रण है।

भारतीय प्राकृतों का अध्ययन बताता है कि भारोपीय समूह की सम्पूर्ण भाषाओं में म्लेच्छपन कहीं-कहीं भारतीय प्राकृतों के स्तर पर है। इसके अतिरिक्त विभिन्न यूरोपीय देश-नामों का दैत्य नामों से सन्तोलन (पृष्ठ २१५-२१८) स्पष्ट कर देता है कि यूरोपीय भाषाओं का मूल दैत्यों से बोली गई प्राचीन संस्कृत थी। हमने मिश्री, बाबली, इब्रानी आदि भाषाओं पर कुछ लिखा नहीं। वह हमारे छात्रों के लिए इतना उपयुक्त नहीं था। अन्य कई विषय भी इन व्याख्यानों में नहीं कहे जा सकते थे। उन पर भारतीय यथार्थ विद्वानों को स्वयं ग्रन्थ लिखने चाहिएं। हमने मार्ग दर्शा दिया है और यूरोप तथा अमरीका के द्वारा उत्पन्न किये गए घटाटोप अंधकार को आर्यज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश द्वारा दूर कर दिया है।

पहले युगों में जब बौद्ध और जैन विचारकों ने वेद-मत पर कटाक्ष किए, तो उद्योतकर, कुमारिल, शंकर, जयन्त और उदयन प्रभृति वैदिक विद्वानों ने उनका घोर प्रतिवाद किया । फलतः बौद्धमत भारत से सर्वतः लुप्त हो गया । अब लगभग गत १५० वर्ष से यूरोपीय ईसाई और यहूदी पक्षपाती लेखकों ने वेद-मत और भारतीय इतिहास पर आघात आरम्भ किए। उनका उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यव्रत सामश्रमी, अरविन्द और रघुनन्दन शर्मा आदि ने दिया। हमने यूरोप के मूलाधार (तथाकथित भाषा-विज्ञान) का उच्छेद इन व्याख्यानों में किया है। यदि यूरोप के पास विद्या का प्रकाश है, तो वहाँ के लेखक हमारे लेख का अपासन करें।

इस विषय पर अध्यापक गुणे, मंगलदेव, बटकृष्ण घोष, धीरेन्द्र वर्मा, बाबूराम सक्सेना तथा सुनीतिकुमार चटर्जी प्रभृति ने अपने देश में भी ग्रन्थ लिखे। वे ग्रन्थ पाश्चात्य ग्रन्थों का प्रायः अनुवादमात्र हैं। उनमें मौलिक विचार अति न्यून हैं। इतना ही नहीं, भाषा-मत के सम्बन्ध में यूरोप में लिखे गए नए ग्रन्थों और मतों से भी इन ग्रन्थों के लेखक प्रायः अनभिज्ञ हैं। अतः उन पर अधिक नहीं लिखा।

सत्यवक्ता, नीरजस्तम, तत्त्ववेत्ता, महाज्ञान-सम्पन्न आर्य विद्वान् मूल भाषा संस्कृत के क्यों उपासक थे और विकृत, कलुषित अपभ्रंशों के क्यों विरोधी, यह तत्त्व इस ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट होगा।

पं० युधिष्ठिर मीमांसकजी के इस ग्रन्थ विषयक दिए गए बहुविध सुझावों के लिए मैं उपकृत हूँ। इस ग्रन्थ के परिमार्जन के व्यय में श्री ओंकारनाथ जी मुम्बई, श्री देवेन्द्र कुमार जी मुम्बई, लोधी रोड आर्य समाज और दीवानहाल आर्यसमाज, देहली की आर्थिक सहायता मिली है। इन सबका भी आभारी हूँ।

ईस्ट पटेल नगर
२८–७–५७

—भगवद्दत्त

ग्रन्थकार द्वारा लिखित

कतिपय विशिष्ट ग्रन्थ

१.	वैदिक वाङ्मय का इतिहास	
	प्रथम भाग—वेदों की शाखाएं, (परिवर्धित द्वितीय संस्करण)	१०)
	द्वितीय भाग—वेदों के भाष्यकार मुद्र्यमाण	
	तृतीय भाग – ब्राह्मण और आरण्यक ,,	
	चतुर्थ भाग—कल्पसूत्र और उनके भाष्यकार (शीघ्र छपेगा)	
२.	भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (प्रथम भाग)	१८)
३.	भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (द्वितीय भाग)	२०)
४.	भाषा का इतिहास	८)
५.	वेस्टर्न इण्डोलोजिस्ट्स (अंग्रेजी में)	११।)
६.	वेदविद्या निदर्शन	१२.५०
७.	यास्कीय निरुक्त का भाषार्थ और भाषाभाष्य	१५)

विषय-सूची

भाषा का इतिहास

पहला व्याख्यान

भाषाकी उत्पत्ति

भारतीय वाक्शास्त्रविद—स्फोटायन=कक्षीवान्[1] (द्वापर अथवा उससे पूर्व), औपमन्यव, औदुम्बरायण (वि०पू० ३१०० से पूर्व), यास्क (३१००वि० पू०), कृष्ण द्वैपायन व्यास (कलि आरम्भ, ३०४४ वि० पू०), व्याडि (२६०० वि० पू०), पतंजलि (१२५० वि० पू०) और भर्तृहरि (वि०१-३ शती) आदि आर्य ऋषियों अथवा आचार्यों ने भाषा की उत्पत्ति का अनवछिन्न इतिहास अपने ग्रन्थों में सुरक्षित रखा। वही एकमात्र सूक्ष्म तर्क-युक्त, सत्य और विज्ञान-सिद्ध सिद्धान्त है।

पाश्चात्य मत-आविर्भाव—भारतीय सिद्धान्त के तथ्य को न समझ-कर योरोप के विचारकों ने लाइब्निज़[2] (सन् १७१३) के काल से भाषा की उत्पत्ति के विषय में अनेक कल्पनाएँ उपस्थित कीं। वे अधूरी, परस्पर-विरुद्ध और तर्क से अति दूर हैं।

प्राचीन तथा योरोपीय विचारों का वर्गीकरण—अनेक वर्तमान लेखकों ने भाषा की उत्पत्ति के विभिन्न प्रसिद्ध मतों को चार वर्गों में बाँटा है। वे नीचे लिखे जाते हैं।

१—परम्परागत-मत (traditional)

इसके अन्तर्गत भारत, मिस्र और यूनान आदि के विचारकों के मत हैं।

२—रहस्यवादी मत (mystic)

३—अर्ध-वैज्ञानिक मत (semi-scientific)

४—मनोवैज्ञानिक मत (psychological)

अन्तिम निष्कर्ष—इन चारों मतों का सविस्तर वर्णन करने से पहले, भाषा विषयक प्रश्नों पर अपने को प्रमाण-भूत मानने वाले तीसरे पक्ष के विचारकों का भाषा की उत्पत्ति के विषय में अद्यपर्यन्त निकाला गया निष्कर्ष

---

१. कल्पद्रु कोश, पृ० ८३, श्लोक १३६। हेमकृत अभिधान चिन्तामणि ३।५१७॥

२. **न्यूटन का समकालिक और प्रतिद्वन्द्वी। देखो मैक्समूलरकृत** Lectures on the Science of Language, **भाग १, पृ० १४६।**

यहाँ लिखना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है। उससे इस विषय पर भूरि-प्रकाश पड़ेगा और अगला लेख अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

(क) कोलम्बिया विश्वविद्यालय का महोपाध्याय एडगर स्टुर्टिवण्ट लिखता है—

After much futile discussion linguists have reached the conclusion that the data with which they are concerned yield little or no evidence about the origin of human speech.[1]

अर्थात् बहुत व्यर्थ वाद-विवाद के पश्चात् भाषाविद् इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि एतद्विषयक प्रस्तुत सामग्री का आधार मानव-बोली की उत्पत्ति के विषय में कोई साक्ष्य नहीं देता।

(ख) इटली का मेरियो-पाई लिखता है—

If there is one thing on which all linguists are fully agreed, it is that the problem of the origin of human speech is still unsolved.[2]

अर्थात्—यदि कोई एक बात है जिस पर सब भाषाविद् पूरे सहमत हैं तो वह है, कि मानव-बोली की उत्पत्ति की समस्या अभी तक पूर्ति को प्राप्त नहीं हुई।

(ग) अमेरिका का जे० वैण्ड्रिएस लिखता है—

······the problem of the origin of language does not admit of any satisfactory solution.[3]

अर्थात्—मानव-भाषा की उत्पत्ति की समस्या का कोई सन्तोषजनक निष्कर्ष नहीं है।

पाश्चात्य लेखकों की एतद्विषयक इस अनिश्चित अवस्था की विद्यमानता में तथा प्राचीन पक्ष के जाने विना भाषा को मनुष्य-निर्मित कहना अज्ञान-मात्र है।

विवशता का कारण—योरोप की इस असहाय अवस्था का कारण है। जैसा आगे लिखेंगे, योरोप ने जब से विकासमत पर सर्वाङ्गीण विश्वास किया और भाषा के क्षेत्र में उसका प्रयोग किया, तब से भाषा के अभेद्यशैल से उस मत की टक्कर हुई। इस टक्कर में योरोप का नया मत पूर्ण पराजित हुआ। उसकी स्वीकृति जे० वैण्ड्रिएस के लेख में मिलती है।

But the oldest known languages, the "parent languages" as

1. An Introduction to Linguistic Science, p. 40, New Haven, 1948.
2. The Story of Language, p. 18, London, 1952.
3. J. Vendryes, Language, p. 315, London, 1952.

they are sometimes called have nothing of the primitive about them.[1]

अर्थात्—प्राचीनतम ज्ञात भाषाएँ, जिन्हें बहुधा 'मूल भाषाएँ' कहते हैं, अपने में प्राक्-कालिक कोई बात नहीं रखतीं।

वैण्ड्रिएस आश्चर्य करता है कि विकास-मत के अनुसार मूल भाषाओं में भाषा का 'प्राक्-कालिक' रूप नहीं मिलता। तद्विपरीत वे अति उन्नत दिखाई पड़ती हैं।

अरविन्द का भी ऐसा ही मत—

The greater the symmetry and unconscious scientific regularity, the more ancient the stage of the language. The advanced stages of language show an increasing detrition, deliquescence, caparious variation, the loss of useful sounds, the passage, some times transitory, sometimes permanent of slight and unnecessary variations of the same sound to the dignity of separate letters. (p. 48)

वस्तुतः संस्कृत के प्राचीनतम अतिभाषा रूप में पदों और वाक्यों के रूप अत्यधिक परिमार्जित और बहुविध थे।

चेतावनी—यह ऐसा सत्य है जिससे प्रकट है कि असत्य के आधार पर स्वीकृत विकास-मत संसार के दुःख का कारण कैसे बना।

श्लाईशर—इस विषय पर जर्मन भाषा-शास्त्री श्लाईशर का विचार द्रष्टव्य है। डार्विन का ग्रन्थ प्रकट होते ही श्लाईशर ने भाषा के इतिहास द्वारा उसका उचित खण्डन किया। श्लाईशर का ग्रन्थ भाषा का ह्रास-पक्ष योग्यता से उपस्थित करता है। उस ग्रन्थ का नाम है—

Darwinism tested by the Science of Language.[2]

श्लाईशर ने डार्विन के प्रतिकूल लिखा कि भाषा के साक्ष्य पर डार्विन-मत असत्य ठहरता है। योरोप ने श्लाईशर के विचार की उपेक्षा की और योरोप अन्धकार की ओर अग्रसर हुआ।

इसी असत्य डार्विन-मत पर पा० दा० गुणे, मंगलदेव, तारापुरवाला और बाबूराम सक्सेना आदि भारतीय लेखकों के भाषा-विषयक तर्क-शून्य विचार आधारित हैं।

---

1. Language, A Linguistic Introduction to History, p. 5, London, 1952.
2. English tr. from the German by Dr. Al. V.W.H. Bikkers (London: Hotten, 1869).
   देखो इस ग्रन्थ पर मैक्समूलर की आलोचना, ('नेचर' संख्या १०, जनवरी ६, १८७०)

परिणाम—(क) इसी मत के भय के कारण संसार की प्राचीनतम और मूल भाषा संस्कृत को बहुत अर्वाचीन माना जाता है। विकासमतस्थ लेखक जो आदि संसार को निज कल्पना के अनुसार बर्बर समझता है, इस सर्वतोमुखी भाषा को आदि की कैसे मान सकता है।

(ख) भाषा के कल्पित-इतिहास द्वारा भाषा की उत्पत्ति का ज्ञान-प्राप्त न होने पर पाश्चात्यों ने कहना आरम्भ कर दिया कि भाषा की उत्पत्ति का विषय भाषा-विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यथा—

The Statement that the problem of the origin of language is not of a linguistic order always provokes surprise. It is true nevertheless.[1]

अर्थात्—भाषा की उत्पत्ति की समस्या का भाषा-विषय से कोई सम्बन्ध नहीं, यही सत्य है।

लुई एच० ग्रे कुछ अधिक सावधान रहा है—

For the present, the whole question of the origin of language must be ruled out of the sphere of scientific consideration for lack of evidence.[2]

अर्थात्—वर्तमान स्थिति में भाषा की उत्पत्ति का सारा प्रश्न साक्ष्य के अभाव में वैज्ञानिक विचार के क्षेत्र से बाहर समझना चाहिए।

वस्तुतः इस विषय का भाषा-शास्त्र से गम्भीर सम्बन्ध है। लोक-भाषा और वेद-वाक् का इतिहास ही भाषा-उत्पत्ति के रहस्य का उद्घाटन करता है।

इतने प्राक्कथन के पश्चात् हम प्रस्तुत विषय के प्रथम मत का वर्णन और परीक्षण करते हैं—

१—परम्परागत मत—दैवी वाक्

अब परम्परागत सिद्धान्त का उल्लेख किया जाता है। वर्तमान लेखकों ने विना समझे इसकी उपेक्षा की है। प्राचीन योरोप में यह विचार भारत से ही गया था।

भारतीय सिद्धान्त

आर्य विद्वान् दो प्रकार की वाक् मानते आये हैं, दैवी और मानुषी। दैवी वाक् मन्त्रमयी है। दैवी इसलिए कि मन्त्र द्युलोक अथवा अन्तरिक्ष में देवों द्वारा उच्चरित हुए। मानुषीवाक् अर्थात् मनुष्यों में व्यवहृत वाक्। इसमें पद लगभग वही हैं जो दैवीवाक् में थे, पर वाक्य-रचना और आनुपूर्वी के हेर-फेर के कारण यह एक नया रूप धारण करती है। मूल इसका दैवीवाक् ही है। मानुषी-वाक् के उत्तरोत्तर चार रूप हुए। यथा—

1. J. Vendryes, Language, p. 5. 2. Found. of Lang. p. 40.

१. अतिभाषा[1] = अभिभाषा = आदि-भाषा—वैदिक शब्दबहुला।

२. आर्य-भाषा[1] = भाषा।

३ महाभारतकाल की लोकभाषा संस्कृत।

४. पाणिनि के उत्तरकाल की संस्कृत।

दैवी वाक् के विषय में ऋग्वेद का मन्त्रांश है—

१. देवीं वाचमजनयन्त देवाः ।८।१००।११॥

अर्थात्—दैवी वाक् को उत्पन्न किया देवों ने।

वागाम्भृणी सूक्त का मन्त्रार्ध है—

२. **तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्** ॥

ऋ० १०।१२५।३॥

अर्थात्—उसको, मुझ-वाक् को देवों ने स्थापित किया।

लौगाक्षिगृह्य में पठित मन्त्र है—

३. दैवीं वाचम् उद्यासं शिवाम अजस्रां जुष्टां देवेभ्यः । का० ४३।

अर्थात्—दैवी वाक् को उत्कृष्टता से प्राप्त होऊँ, श्रेयस्करी को और **अजस्रा** = नित्या को।

बृहस्पति आदि देव।

बृहस्पति देवता परक मन्त्रार्ध है—

४. उस्राइव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषाम् इज्जनिता ब्रह्मणामसि ।

ऋ० २।२३।२॥

अर्थात्—[हे बृहस्पते] (**विश्वेषाम् ब्रह्मणाम्**) सारे मन्त्रों के जनयिता तुम हो।

मध्यम स्थानी मरुत देवों के विषय का मन्त्रांश है—

५. ब्रह्मकृता मारुतेना गणेन ॥ ऋ० ३।३२।२॥

अर्थात्—मन्त्र करने वाले मरुत गण के साथ।

ये देवगण ईश्वर नियमों से प्रेरित सब कल्पों में एक समान नियमों में (eternal physical laws) में चलते हुए मन्त्रों को उत्पन्न करते हैं। उसी **स्वयम्भु ब्रह्म** (तै० आ० २।६॥ निरुक्त २।११) को ऋषि प्राप्त कर के लोक-भाषा को भी देते हैं।

इस रहस्यमयी विद्या को अणुमात्र भी न समझ कर डा० मंगलदेव शास्त्री जी ने गुरुकुल ज्वालापुर, उत्तर प्रदेश के वेदसम्मेलन में १४-४-१९५९ को दिये गए सभापति पद के भाषण (पृ० १९) में कुछ उपहास किया है। जिस व्यक्ति का इस विषय के साथ स्पर्श भी नहीं, उसे हम क्या कहें।

---

१. भरत नाट्यशास्त्र १७।२८ के आधार पर।

मिश्री मत

मिश्र के विद्वान् 'पवित्र लेख' को 'न्द्वन्त्र' अर्थात् (the speech of Gods) कहते थे।[1] ये पद वेदमन्त्रस्थ 'देवमन्द्रा' का अपभ्रंश प्रतीत होते हैं।

यूनानी मत

(क) यूनान के होमर (ईसा से ८०० वर्ष पूर्व ?) का मत था—

The language of Gods and of men.[2]

अर्थात्—देवों की भाषा और मनुष्यों की भाषा।

(ख) होमर के पश्चात् यूनानी लेखक हेरैक्लिटस का भाव भी द्रष्टव्य है—

Heraclitus (503 B.C.) held that words exist naturally...... He said, to use any words except those supplied by nature for each thing, was not to speak, but only to make a noise.[3]

अर्थात्—शब्द आकाश में स्वाभाविक हैं। मनुष्य के घड़े शब्द वृथा शोर हैं।

(ग) स्ट्रैबो लिखता है—

10. And on this account Plato, and even before his time the Pythagoreians, called philosophy music; and they say that the universe is constituted in accordance with harmony, assuming that every form of music is the work of the gods. (10. 3.)

अर्थात्—ब्रह्माण्ड छन्दों का परिणाम है। और सब छन्द देवों द्वारा निर्मित हुए।

हमने यूनानी पक्ष को स्पष्ट कर दिया है। यह वैदिक पक्ष का अति धूमिल और अधूरा रूप है।

भाषा देवों अर्थात् महाभूत आदिकों से स्वाभाविक उत्पन्न हुई। सब पुराने संसार का यही मत था। यह मत वेद से लिया गया था। जिस प्रकार आत्मा की प्रेरणा और मन के योग तथा कण्ठ आदि के व्यापार से वैखरी वाक् (=ध्वन्यात्मक शब्द) की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार महान् आत्मा की प्रेरणा, देवों के योग, तथा तन्मात्रा रूपी वागिन्द्रिय से द्यु और अन्तरिक्ष आदि लोक में दैवी वाक् उत्पन्न हुई।

प्रति सृष्टि यही वाक् स्थिर भौतिक नियमों के आधार पर उत्पन्न होती है।

---

१. **वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग प्रथम (संस्करण द्वितीय), पृ० ४ टिप्पणी १।**

२. **तथैव, टिप्पणी २।**

3. L. S. L. Vol. II, p. 334.

देव कौन हैं

भारतीय मत—बृहदारण्यक में लिखा है कि प्रजापति पुरुष से देवों की उत्पत्ति हुई।[1] ये देव अनेक प्रकार के भौतिक प्राण, विद्युत् और ग्रह आदि हैं। इनका वैज्ञानिक स्वरूप समझने में कुछ काल लगेगा। ऋषि और पितर आदि भी इन्हीं के साथ-साथ आकाश में उत्पन्न हुए। ये भी भौतिक थे, पर मानव नहीं थे। इनका अधिक विस्तार शतपथ ब्राह्मण काण्ड ६ के आरम्भ में किया है।

यूनानी मत—अरस्तू, एपिकार्मस और एम्पेडौक्लीज आदि महाशय, प्रायः इसी वैदिक भाव की प्रतिध्वनि करते हैं कि भौतिक पदार्थों अथवा शक्तियों का दूसरा नाम देव था। यथा—

(a) It has been handed down by early and very ancient people, and left, in the form of myths, to those who came after, that these (the first principles of the world) are the gods, and that the divine embraces the whole of nature.[2]

अर्थात्—प्राचीन और अति पुरातन जाति में यह विचार आ रहा है कि संसार के मूल तत्त्व ही देव हैं। और ईश्वर सारी प्रकृति में व्यापक है।

(b) the gods were really wind, water, earth, the sun, fire and the stars.[3]

अर्थात्—वायु, जल, पृथिवी, सूर्य, अग्नि और ग्रह (?) आदि देव थे।

(c) Empedocles (about 444 B. C.) ascribed to the names of Zeus, Here, Aidoneus, and Nestis, the meaning of the four elements, fire, earth, air, and water.[4]

अर्थात्—द्युः, अग्नि और वायु आदि देवता थे।

प्राचीन पक्ष—जब सृष्टि बन रही थी, उस समय विविध पदार्थों के अस्तित्व में आते समय अग्नि, वायु आदि देवों के योग से जो मूलध्वनियाँ द्युलोक और अन्तरिक्ष आदि में उत्पन्न हुईं, वे मूल शब्द थे। मानव-सृष्टि के आरम्भ में तत्तदर्थ सम्बद्ध शब्दों को पूर्व सृष्टि में संचित योग-शक्ति से ऋषियों ने प्राप्त किया और उनसे लोकभाषा चली।

---

१. आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त। सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिम्, प्रजापतिर्देवान् ।५।५।१॥

२. अरस्तू का मैटाफिजिक्स, ११वीं पुस्तक। L. S.L. vol. 11, p.432.

३. पाईथैगोरस का शिष्य एपिकार्मस। तुलना करो, L. S. L. vol. I, p. 112.

४. पूर्व-दत्त दोनों उद्धरणों और इस उद्धरण के लिए देखो, मैक्समूलर कृत L. S. L. भाग २, पृ० ४३०-४३१।

उदाहरण—ब्राह्मण ग्रन्थ लिखते हैं कि पहले हिरण्यगर्भ अथवा पुरुष अथवा प्रजापति अथवा महदण्ड बना। वह घोर अन्धकार में आपः में प्रासर्पण करता रहा। कुछ काल अनन्तर महानात्मा और वायु के योग से उसके दो टुकड़े हो गए। इन टुकडों के होते समय 'भूः' की ध्वनि उत्पन्न हुई। इस ध्वनि के साथ भूमि उस महदण्ड से सर्वथा पृथक् होकर अस्तित्व में आई। इसलिए भू का अर्थ भूमि हुआ। अस्तित्व में आने के कारण भू एक धातु माना गया और उसका अर्थ सत्ता हुआ। भूमि की सत्ता प्रथम थी, अतः भू प्रथम धातु हुआ। इस उत्पत्ति के समय वायु अथवा प्राणों का योग था। इसलिए भू का एक अर्थ प्राण भी हुआ।

हर्डर का आक्षेप—डेनिश लेखक जैस्पर्सन ने गाटफ्राईड हर्डर (सन् १७४४-१८०३) के दो आक्षेप (सन् १७७२) इस विषय में उद्धृत किए हैं—

1. "One of Herder's strongest arguments is that if language had been framed by God and by Him instilled into the mind of man, we should expect it to be much more logical, much more imbued with pure reason than it is an actual matter of fact" p. 27.

अर्थात्—हर्डर के बलिष्ठतम तर्कों में से एक यह है कि यदि भाषा ईश्वर द्वारा रचित और उसी द्वारा मनुष्य के मन में प्रविष्ट की गई होती, तो आशा करनी चाहिए थी कि यह अत्यधिक तर्क-युक्त और शुद्ध-युक्तियों से भरपूर होती। पर वस्तुतः ऐसा है नहीं।

दूसरा आक्षेप है—

2. And nouns are created from verbs, whereas, according to Herder, if language had been the creation of God, it would inversely have begun with nouns, as that would have been the logically ideal order of procedure. p. 28.

अर्थात्—भाषाओं में नाम पद आख्यातों से उत्पन्न माने जाते हैं। हर्डर के अनुसार यदि भाषा ईश्वर-उत्पादित होती तो ठीक इसके विपरीत इसका आरम्भ नामों से होता, क्योंकि यही तर्क-युक्त आदर्श मार्ग था।

हर्डर की प्रतिध्वनि गुणे में—महाराष्ट्र अध्यापक पा० दा० गुणे (सन् १९१८) लिखता है—

The theories that it is a gift of God or that it is the result of a deliberate convention arrived at by the members of the most primitive community, may be brushed aside atonce. No linguist believes in them today. p. 9-10.

अर्थात्—भाषा ईश्वर की देन है अथवा अति प्राचीन मानव-वर्ग के

सुविचारित समझौते का फल है, ये मत सहसा परे फेंकने के योग्य हैं। कोई भाषाशास्त्री उनमें आज विश्वास नहीं करता।

इस विषय में विकास-मत हमारा मुख्य सहायक है। इति।

गुणे का अभिप्राय कि उसके दो-एक गुरु अथवा उनके सहकारी कार्यकर्ता ही भाषा-शास्त्री हैं, उपहासास्पद है। गुणे को भाषा-उत्पत्ति के प्राचीन पक्ष का ज्ञान तो क्या स्पर्शमात्र भी नहीं था।

मंगलदेव के उद्गार—योरोप और गुणे के चरण-चिह्नों पर चलते हुए और भाषा के ईश्वर-प्रदत्त होने के पक्ष पर आक्षेप करते हुए डा० मंगलदेव जी शास्त्री लिखते हैं—

(१) मनुष्य की सृष्टि के साथ-साथ एकाएक दैवी-शक्ति के द्वारा एक अनोखे प्रकार से पूर्ण रूप से निष्पन्न भाषा की सृष्टि संसार में हुई।[१]

(२) उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में वेदों को ईश्वरीय पुस्तक मानने वाले कहते हैं कि संस्कृत वेदों की भाषा है। वेद अनादि हैं, सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने मनुष्य समाज के हित के लिए नित्य वेदों का प्रादुर्भाव किया। इस लिए वेदों की भाषा भी नित्य है। संस्कृत देव-भाषा है। यही पृथ्वी की अन्यान्य भाषाओं की मूल भाषा है।[२] इति।

इससे आगे वे इस पक्ष के खण्डन में कुछ लंगड़ी-लूली युक्तियाँ उपस्थित करते हैं और प्रतिपादित करने का प्रयास करते हैं कि—

(३) भाषा भी मनुष्य के आश्रय में···उत्कृष्टता की ओर बढ़ती रही है।[३]

समीक्षा—भाषा की शब्द-राशि न्यून हुई है, शब्दों के रूप न्यून हुए हैं, शब्दों के विभिन्न अर्थों का सूक्ष्म भेद लुप्त हो गया है, उच्चारण में शतशः दोष संसार-भर में उत्पन्न हुए हैं और संस्कृत-व्यतिरिक्त संसार की सम्पूर्ण भाषाओं के व्याकरण न्यूनाधिक निकृष्ट होते गए हैं, इन सत्यों के समक्ष एक 'शास्त्री' भाषा की उत्तरोत्तर उत्कृष्टता का समर्थन करे, और वृथा समर्थन करे, तो यही समझ सकते हैं कि उसका संस्कृत-शास्त्र-ज्ञान शून्य के तुल्य है। आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, अर्थशास्त्र और धनुर्वेद आदि के उपलब्ध ग्रन्थों की विपुल शब्द-राशि ही आश्चर्य उत्पादक है। इन ग्रन्थों में उपलब्ध सहस्रों शब्द न मोनियर विलियम्स और न भिट्लिंग के कोश में सन्निविष्ट हैं। पुनः किस मुख से शास्त्री जी ने भाषा की 'उत्कृष्टता की ओर बढ़ती' का कथन किया है। संस्कृत शास्त्रकारों के बहुविध पदार्थों के वैज्ञानिक वर्गीकरण

---

१. भाषा-विज्ञान, पृष्ठ १४४, सन् १९५१।
२. " " " १४६, " "
३. " " " १४८, " "

का योरोप के एक विज्ञान में भी निदर्शन नहीं है। अतः शास्त्री जी का सारा पक्ष सत्य से दूर है।

स्मरण रहे कि automobile, lady-finger, समाचारपत्र आदि शब्द स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते। पूर्व-प्रचलित दो-दो शब्दों के मेल से जो नए शब्द बनते हैं, वे बाह्य दृष्टि से ही भाषा को समृद्ध करते हैं। उनका इस विषय में वास्तविक योग नहीं।

इसी प्रकार अंग्रेजी के गैस, (Waterman's ink) आदि शब्दों की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जो शब्द धातु का निर्देश नहीं बता सकता और जिसका धातु निराधार कल्पित किया जाए, वह औपचारिक दृष्टि से ही शब्द (ध्वनिमात्र) होता है। इन शब्दों में शब्द का अर्थ जो उसके साथ चिपटाया गया है, स्वाभाविक नहीं।

पुनः शास्त्री जी पाश्चात्यों के तर्क के बल पर लिखते हैं—

संस्कृत आदि भाषाओं की रचना तथा शब्द पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये अनेक आधुनिक रूप में न तो पृथिवी की मूल भाषा ही हो सकती हैं और न आदि भाषा ही। उदाहरणार्थ—

संस्कृत	ग्रीक	अंग्रेजी	जर्मन
हंस	chen	goose (गूज़)	gans (गंज़)
दुहिता	थुगतेर	डाघ्टर (डाटर)	टाख्टर

[यहाँ] 'दुहितृ' और हंस के पर्यायवाचक शब्दों में 'ह्' के स्थान में 'ग्', 'घ्' आदि अक्षरों को देखकर यह सिद्ध होता है कि 'दुहितृ' और 'हंस' मूल या आदि भाषा के शब्द नहीं हो सकते, क्योंकि 'घ्' 'ध्' 'भ्' आदि से 'ह्' का बनना स्वाभाविक है, जैसे लौकिक संस्कृत के 'ग्रह' धातु के स्थान में वेद में 'ग्रभ' या 'सह' (=साथ) के स्थान में 'सध' आता है। 'ह्' से 'घ्' आदि का बनना वैसा नहीं है।[१] इति।

समीक्षा—योरोपीय लेखकों और उनके शिष्यों के ये दो प्रिय उदाहरण हैं, जो वे आज तक सर्वत्र देते चले जाते हैं। बरो के संस्कृत भाषा-विषयक नवीनतम ग्रन्थ में भी ये ही उदाहरण हैं।[२] अब इस तर्क की परीक्षा की जाती है—

१. अवेस्ता में—संस्कृत के किसी-किसी पदस्थ 'ह्' को अवेस्ता आदि में 'ज' हो जाता है। यथा—संस्कृत का 'अहि' अवेस्ता में 'अज़ि' हो गया है। संस्कृत **'हिजीर'** शब्द का फारसी में **'जंजीर'** और पंजाबी में **'जंजीर'** बन गया है।

---

१. भाषा-विज्ञान, पृष्ठ १५०-१५१।

२. पृष्ठ १६२।

'ज़' बहुधा 'ज' में परिणत हो जाता है। और 'ज' का उच्चारण योरोपीय भाषाओं में 'ज' और 'ग' दोनों प्रकार से होता है। अतः हंस शब्द रूपपरिवर्तन करता हुआ 'गंस्' आदि बना, इसमें अणु-मात्र सन्देह नहीं। हमें हंस से 'गूज' आदि तक पहुँचाने वाले मध्यरूपों का अन्वेषण करना चाहिए।

सौभाग्य से इस विषय पर प्रकाश डालने वाला एक आश्चर्यजनक उदाहरण अंग्रेजी में अब भी विद्यमान है। उसको जानने वाले अंग्रेज और जर्मन लेखकों को हमारी बात में कोई न्यूनता प्रतीत न होनी चाहि। यथा—

२. **अंग्रेजी में**—हिन्दू धर्म-शास्त्र विषयक एक पुस्तक वारेन-हेस्टिंग्ज के काल में तैयार की गई। उसका नाम था 'गेण्टु (Hindoo) धर्मशास्त्र,' और उसे अंग्रेजी में लिखते थे Gentoo (Hindoo) law।[1] यहाँ हिन्दू शब्द की 'ह' ध्वनि अंग्रेजी में G द्वारा व्यक्त की गई। क्या इसके लिए कोई बुद्धिमान् किसी मूल 'घण्टू' शब्द की कल्पना करेगा?

इसी प्रकार—**हुहुः** का अपभ्रंश **घिग्घ** (त्रिविक्रमकृत प्राकृत व्याकरण), **राहुल** का प्राकृत रूप **लाघुल** (अशोक का भाब्रा का शासन), गुहा का गुफा और **बिस** का **भिस** रूप (प्राकृत मंजरी २।३५) हुए। इसी सत्य से डर कर ईसाई-यहूदी गुट के अनृत-प्रसारक लेखकों ने एक Indo European बोली की कल्पना प्रस्तुत की।

३. **ओल्ड आयरिश में**—संस्कृत का 'हिम' शब्द पुरानी आयरिश भाषा में Gim-Red हुआ। उसका अर्थ शरद्-ऋतु है।[2]

४. **यूनानी में**—इससे भी बढ़कर ध्यान रहना चाहिए कि संस्कृत के 'ब्राह्मण' पद का ग्रीस के अनेक ग्रन्थकारों ने ब्रागमन (Bragmanes) उच्चारण लिखा है। वे सब ह का ग उच्चारण करते हैं।

५. **लैटिन में**—संस्कृत का 'महान्' शब्द लैटिन में magnus बना है। ग्रीक में (megas), संस्कृत का **हनु** लैटिन में (gena), गाथिक में (kinnu), और जर्मन में (kinnu) बना।

संस्कृत का **वाहन** अंग्रेजी में wagon बना। पर संस्कृत '**वहति**' लैटिन में vehit रहा। और old Eng. में wegan=to carry.

भारतीय प्राकृत और अपभ्रंश में—इसी प्रकार सिंह से सिंघ और नहुष से नघुष अपभ्रंश पद बने हैं। अतः मंगलदेव और बरो आदि का प्रमुख उदाहरण उनके पक्ष को पुष्ट नहीं करता। वस्तुतः उन का पक्ष असिद्ध कल्पना से अधिक मूल्य नहीं रखता।

---

1. A.A. Macdonell, H. S. L. p. 438.
२. **बरो, पृष्ठ ७२ का अन्त।**

सक्सेना की घोषणा—योरोपीय विचारधारा के एक और मल्ल डा० बाबूराम सक्सेना जी लिखते हैं—

धर्मग्रन्थों में श्रद्धा रखने वालों के लिए इस [भाषा के उद्‌गम] प्रश्न की तह में कोई समस्या मालूम नहीं होती। प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ऋषियों को ईश्वरीय ज्ञान (वेद के स्वरूप में) प्रदान करता है। इन आदिम ऋषियों को उस वैदिक भाषा का स्वत: ज्ञान होता है।...इस प्रकार देववाणी संस्कृत ही आदि भाषा है। जिससे बाद को अन्य भाषाएँ फूट निकलीं।[1]

आधुनिक विज्ञान मनुष्य की सृष्टि को विकासवाद की दृढ़ नींव पर ही स्वीकार करता है।[2] इति।

समीक्षा—श्री बाबूराम जी ने भी देव-पक्ष के समझे विना ये पंक्तियाँ लिखी हैं।

हर्डर आदि की पहली भूल—ईश्वर के स्वरूप को यथार्थ न समझ कर ईसाई हर्डर, ईश्वर से साक्षात् वाक् की उत्पत्ति को मान और आकाशी वागिन्द्रिय की देवों द्वारा प्रेरणा को न समझकर एक भारी भूल में पड़ा। उसी की भूल को गुणे, मंगलदेव और सक्सेना आदि ने दोहराया। आश्चर्य मंगलदेव जी पर है, जो पूर्ण यत्न करने पर शास्त्र समझ सकते थे, पर जिन्होंने इस दिशा में कष्ट ही नहीं उठाया।

अब हर्डर के पक्ष की कुछ अधिक परीक्षा करते हैं।

हर्डर की प्रतिज्ञाएँ—हर्डर के पूर्वोद्धृत वचन में उसकी तीन प्रतिज्ञाएँ स्पष्ट हैं—

१—ईश्वरीय भाषा—अधिक तर्कयुक्त,

२—शुद्ध-युक्ति से अधिक व्याप्त, तथा

३—आरम्भ में नाम समूहमात्र होनी चाहिए।

इनमें से पहले दो पक्ष सम्मति-मात्र हैं। हर्डर के सामने हिब्रिऊ (इबरानी) भाषा विद्यमान थी। उसमें तर्कहीनता के जो दोष उसने निकाले, वे उसकी इच्छा की अभिव्यक्ति ही थे। **भाषाओं के तर्कयुक्त होने का सर्व-स्वीकृत आदर्श क्या है,** जब तक इसका निर्णय न हो पाए, तब तक तर्क-युक्त और अतर्क-युक्त का प्रतिपादन असम्भव है।

हर्डर का खण्डन स्मिथ द्वारा—तीसरा पक्ष कुछ विचारणीय है। पर इस विषय में भी दो मत योरोप में ही उत्पन्न हो गए। Origin of Language (भाषा की उत्पत्ति) का पहला पाश्चात्य अन्वेषक एडम स्मिथ था। उसके

---

१. सामान्य भाषाविज्ञान, पृष्ठ ११।

२. सामान्य भाषा विज्ञान। पृष्ठ १२।

विषय में मैक्समूलर लिखता है—

"Adam Smith would wish us to believe that the first artificial words were verbs." "Nouns, he thinks, were of less urgent necessity because things could be pointed at or imitated, whereas mere actions, such as are expressed by verbs, could not."[1]

अतः हर्डर का तीसरा पक्ष भी महत्त्वपूर्ण नहीं, वस्तुतः नाम और क्रियापद आरम्भ से ही थे।

क्या सब नाम आख्यातज हैं—इस विषय में एक सूक्ष्म तत्त्व विशेष ध्यान-योग्य है। उसकी ओर महाभाष्कार पतञ्जलि ने संकेत किया है—

बृहस्पतिरिन्द्राय⋯प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच १।१।१॥

अर्थात्—आरम्भ में नाम और आख्यात सब पूर्ण पद मानकर पृथक्-पृथक् व्याख्यान किए जाते थे।

धातुओं की सामान्य कल्पना और एक ही धातु से अनेक नामों की व्युत्पत्ति उत्तर काल में की गई।[२] पदों में अर्थों के सूक्ष्म भेद की छाया शनैः-शनैः न्यून हुई और तत्पश्चात् उससे भी अवर काल में मनुष्य शक्ति के अत्यधिक ह्रास के कारण अनेक धातु मिलाकर एक धातु मान लिया गया और उसी धातु से शतशः नाम व्युत्पन्न माने गए। यह वैयाकरणों की सूझ का परिणाम है।

वस्तुतः नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात पद श्रेणियाँ आदि से ही थीं।

बालक और प्रजापति—पार्थिव पुरुष प्रजापति पुरुष अथवा हिरण्यगर्भ की क्षुद्रानुकृति है।[3] जो क्रियाएँ प्रजापति पुरुष में हुई, उनमें से अनेक आज भी पार्थिव पुरुष में दिखाई देती हैं। अथवा पुरुष की पूर्वावस्था अर्थात् शैशव की अनेक बातें महान् पुरुष में कभी हुई थीं। एक वर्ष का बालक बोलना सीखता हैं। प्रजापति भी एक वर्ष के पश्चात् वाक् बोला। बालक एकाक्षरी और द्व्यक्षरी पद बोलता है। प्रजापति भी आकाश में भूः, भुवः, स्वः एकाक्षर और द्व्यक्षर बोला। तत्पश्चात् आकाश में मन्त्र उत्पन्न हुए। बालक बोलना सीखता है। प्रजापति भौतिक शक्तियों और महान् मन के योग से बोला—

मनसा वा इषिता वाग् वदति। ऐ० ब्रा० ६।५॥

वही आकाश वाणी पूर्व उत्पन्न ऋषियों ने योगावस्था में सुनी। वह मन्त्र आदि थे। उसी के आश्रय पर लोक-भाषा संस्कृत संसार में ब्रह्मा आदि द्वारा प्रवृत्त हुई।

---

1. Lectures on the Science of Language, Vol. I, p. 33, 1886.
२. शब्दयोनिश्च धातवः (भूवादिः) अमरकोष ३।३।६३॥
३. इसी भाव का अनुवाद बाईबिल उत्पत्ति के अध्याय में है—
God created man after his own image.

भाषा-उत्पत्ति-विषयक प्रथम मत का अति-संक्षिप्त विवेचन यहाँ समाप्त किया जाता है ।

२. **रहस्यवादी मत**—रहस्यवादी मत में इसी बात की प्रमुखता है कि ईश्वर ने मनुष्य को भाषा सिखाई । बाइबल और कुरान के अनुसार ईश्वर ने आदम को नाम सिखाए और आदम ने पशु पक्षियों आदि के नाम रखे ।

बाइबल का आदम आदि-देव ब्रह्मा है । भारतीय मतानुसार वही लोक-भाषा का प्रवर्तक है ।

अन्य अनेक लेखक भी यही मानते हैं कि आदि में ईश्वर ने ऋषियों को भाषा की शिक्षा दी । इस मत को यदि पूर्वोक्त देव-पक्ष के साथ इकट्ठा पढ़ा जाए, तो विषय पूर्ण स्पष्ट हो जाता हैं, अन्यथा नहीं ।

इस द्वितीय मत के अन्तर्गत योरोप के विचारकों ने निम्नलिखित तीन पक्ष रखे हैं—

(क) पूह-पूह (Pooh-Pooh) मत—

तदनुसार, आश्चर्य, भय, प्रसन्नता और पीड़ा आदि के समय मनुष्य सहसा कई उच्चारण करता है (ejaculations, sudden utterances) । उदाहरण—अहो, बत, आ, अहह ।

वेद में बत (ऋ०); बट् (ऋ०); हन्त, हिरुक् है, (अ०) आदि प्रयोग हैं । ये मूल में आधिदैविक ध्वनियाँ थीं । इनका अनुकरण मनुष्य में हुआ ।

इसे ही यो-हे-हो नाम देते हैं । इसमें कण्ठ से निकलकर शारीरिक चेष्टाओं द्वारा भाव-प्रकाशन का प्रकार काम करता है ।

इसे पुनः **सिंग-सौंग** अथवा प्रारम्भिक अस्पष्ट गीत (primitive inarticulate chants) नाम भी देते हैं ।

(ख) **टा-टा मत**—इसमें अक्षिनिकोच अथवा शरीर-संकोच आदि का शब्द में प्रकट करना पाया जाता है । यथा—ऊँ-ऊह इत्यादि ।[1]

---

१. पतञ्जलि इस विषय में अधिक स्पष्ट है, परन्तु अक्षिनिकोच आदि अंग विकारों के द्वारा विना शब्द-प्रयोग के ही वह भावप्रकाशन मानता है । यथा—अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था गम्यन्ते । अक्षिनिकोचैः पाणि-विहारैश्च । महाभाष्य २।१।१॥ भाग १, पृ० ३६३ ।

तुलना करो, निरुक्तवृत्ति १।२ में दुर्ग—अभिनया अपि व्याप्तिमन्तः पाणि-विहाराक्षिनिकोचादयः ।

तथा द्वादशार नयचक्र, भाग ३, पृ० ७३६-भ्रूक्षेप ।

अंग्रेजी में इन्हें gestures कहते हैं । परन्तु इनमें स्वेच्छा रहती है । रहस्यवादी मत में विना इच्छा शब्दों का सहसा प्रकाशन माना जाता है ।

(ग) **डिंग-डांग मत**—इसके अनुसार शब्द और अर्थ का रहस्यमय सम्बन्ध है। अतः पदार्थ के सामने आते ही उसके लिये शब्द भी आदि में मनुष्य के सामने स्वाभाविक ही आ गया।

यह अन्तिम मत उस प्राचीन भारतीय मत का कुछ रूप उपस्थित करता है जिसके अनुसार शब्द अर्थ का कृतक अथवा वाचनिक सम्बन्ध नहीं, प्रत्युत स्वाभाविक सम्बन्ध है। पर इसका भाषा की उत्पत्ति के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

३. **अर्ध वैज्ञानिक मत**—तीसरा मत वर्तमान युग का मत है। इसके विषय में इटली का लेखक मेरियो पाई लिखता है—

One hypothesis, originally sponsored by Darwin, is to the effect that speech was in origin nothing but mouth-pantomime, in which the vocal organs unconsciously attempted to mimic, gesture by the hands.[1]

अर्थात्—आदि में डार्विन ने एक कल्पना की। तदनुसार मूल में वाणी मुख का मूक-अभिनय था। इसमें आस्यगत ध्वनि-यन्त्र अज्ञात रूप से हाथों के अभिनय की नकल करते थे।

जैस्पर्सन लिखता है—

Language was not deliberately framed by man, but sprang of necessity from his innermost nature.[2]

अर्थात्—मनुष्य ने विचारपूर्वक भाषा का निर्माण नहीं किया। परन्तु यह आवश्यकता के कारण उसके चरम-आन्तरिक स्वभाव से निकली।

आस्य-स्थानों द्वारा शब्द की स्वाभाविक अभिव्यक्ति, और दीर्घ काल में उसका भाषा बन जाना ऐतिहासिक कसौटी पर अभी पूरा नहीं उतर सका।

वर्तमान वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार भी यह मत वैज्ञानिक नहीं, पर रहस्यवाद से कुछ सम्बन्ध रखता है।

४. **मनोवैज्ञानिक**—(Psychological) मत।

१. **बौ-वौ मत**—इस का नाम "Bow-Wow" मत है। इस मत में प्राकृतिक शब्दों के अनुकरण (imitations of sounds in nature) का भाव काम करता है। यथा कुत्ता बौ-वौ करता है। उसकी इस ध्वनि के अनुकरण पर उसका 'बौ-वौ' नाम पड़ा। यही अवस्था कौआ, काक (crow) अथवा म्याऊँ नाम की है। कौआ कां-कां करता है।

शब्दानुकृति=आनोमेटोपियन—बौ-वो मत का पुराना नाम आनोमेटो-

---

1. Mario Pei, Story of Language, p. 18.
2. Jesperson, p. 27.

पियन मत था । यह शब्द ग्रीक भाषा का है । अर्थ है इसका शब्दानुकरण । ग्रीक लोगों से पूर्व भारतीय विचारक भी इस पक्ष को जानते थे । निरुक्तकार यास्क ३।१८ तथा ५।२२ में इस मत का शब्दानुकृति पद तथाच ९।११ और ९।१४ में शब्दानुकरणम् नाम से उल्लेख करता है ।

औपमन्यव का पक्ष—यास्क ने इस पर औपमन्यव का मत लिखकर स्पष्ट किया है कि काक नाम में भी शब्दानुकृति नहीं है । यह अनुकरण शकुनि नामों में अधिकता से मिलता है, यथा—कुक्कुट, तित्तिरि आदि में—देखो जैमिनी ब्रा० ३।४९—यथा मण्डूक इट्कुर्यात् । पर भाषा का आरम्भ इस मत के अनुसार नहीं हुआ ।

मैकडानल ने वेदस्थ किकिरा, चिश्चा (तीर का सरसर शब्द) और फट् आदि शब्द भी ऐसे ही माने हैं । वैदिक व्याकरण पृष्ठ ४३२ ।

हर्डर के पूर्व-उत्तर मत—मैक्समूलर लिखता है—

Herder strenuously defended this theory, but latter renounced it.[1]

अर्थात्—हर्डर ने उत्तर-काल में इस मत को त्याग दिया ।

इस मत के विरुद्ध तर्क—एक ही प्राकृतिक ध्वनि को विभिन्न लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से सुनकर उसका पृथक्-पृथक् रूपेण अनुकरण करते हैं । यथा—

What is "cock-a-doodle-doo" to an Englishman is cocorico to a Frenchman and chicchirichi to an Italian.[2]

अर्थात्—एक ही ध्वनि का भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से अनुकरण किया गया है ।

वाजसनेय संहिता के **कुक्कुट** शब्द का भी ध्यान करना चाहिए । इसी शब्द का विकृतरूप पुरानी अंग्रेजी में cocc तथा अंग्रेजी में cock रह गया है ।

तीतर की एक ही ध्वनि को—

सुबहान तेरी कुदरत,

मूली प्याज अदरक,

गल कट और ढक रख,

अल्लाहु—अकबर,

1. L. S. L. vol. I, p. 409. 2. Story of L. p. 19.

विभिन्न विचारों के लोग पृथक्-पृथक् प्रकार से प्रकट करते हैं।[1]

शब्दानुकृति का एक श्रेष्ठ उदाहरण उस शब्द में मिलता है, जो भारतीय ग्रामीणों ने मोटर-बाई-साईकल के लिए घड़ा—**फटफटिया**।

ध्यान रहे कि विकास मतानुसार आदि में इस नियम पर ही भाषा का आरम्भ हुआ, इसमें तर्क नहीं है।

गुणे—गुणे का झुकाव इसी मत की ओर है। उसका पूरा मत अगले अध्याय में उद्धृत है।

मैक्समूलर की सम्मति—But whatever we may think of these onomatopoeic and interjectional theories, we must carefully distinguish between two things. There is one class of scholars who derive all words from roots according to the strictest rules of comparative grammar, but who look upon the roots, in their original character, as either interjectional or onomatopoeic. There are others who derive words straight from interjections and the cries of animals, and who claim in their etymologies all the liberty the cow claims in saying booh, mooh......Quite distinct from this is that other theory which, without the intervention of determinate roots, derives our words directly from cries and interjections. This theory would undo all the work that has been done by Bopp, Humboldt, Grimm and others.[2]

अर्थात्—योरोप के भाषा-विषयक विचार दो भागों में विभक्त हैं। विचारकों की एक श्रेणी है, जो सम्पूर्ण पदों को तुलनात्मक व्याकरण के सुव्यवस्थित नियमों के अनुसार धातुओं से व्युत्पन्न मानती है। इस श्रेणी के लोग धातुओं

---

१. (१) राम लक्ष्मण दशरथ (हिन्दू ने बतलाया)
(२) नून तेल अदरक (बनिया " ")
(३) हल्दी मिरचा ढक रख (दूसरे बनिया " ")
(४) दण्ड बैठक कसरत (पहलवान " ")
(५) चरखा पोनी चमरख (बुढ़िया " ")
(६) पान बीड़ी सिगरट (तम्बोली " ")
(७) निब्बू नारंगी कमरक (माली " ")
वह क्या कह रहा है सो भगवान् ही जाने।

[सम्पादक वेदवाणी का मेरे लेख पर टिप्पण]

2. L. S. L., vol. II, p. 99-100.

को उनके मूल रूप में, चाहे विस्मयबोधक अथवा स्वाभाविक ध्वनियों के, चाहे शब्दानुकरण के रूप में देखते हैं। दूसरे लोग हैं जो पदों को सीधा विस्मयबोधक अथवा स्वाभाविक ध्वनियों से अथवा पशुओं के शब्दानुकरण के आधार पर निष्पन्न मानते हैं। इन लोगों के निर्वचन अव्यवस्थित हैं। यह मत उस सारे काम को मिट्टी में मिला देगा, जो बाप, हम्बोल्ट और दूसरे लोगों ने किया है।

जैस्पर्सन—धातुपक्ष को जैस्पर्सन (overestimation of etymology) अर्थात् व्युत्पत्तिशास्त्र का तथ्य से अधिक मूल्यांकन करना मानता है। पृष्ठ ३१६।

भारतीय वैदिक मत—पद मूल हैं। बहुधा पद-समुदाय मन्त्र भी मूल हैं। वैयाकरणों ने अति प्राचीन काल से वाणी व्याकृत करने के लिए धातुओं आदि की कल्पना की। पहले अधिक धातु माने जाते थे। संकुचित होते-होते पाणिनि द्वारा वे अति थोड़े रखे गये।

साधु शब्द और अपभ्रंश शब्द

विकास मतस्थ लोग सम्पूर्ण शब्दों को साधु मानते हैं। यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। जो शब्द स्पष्ट ही विकृत हैं और ग्रीक, लैटिन, इटालियन, जर्मन, अंग्रेजी, प्राकृत और अपभ्रंश में पाये जाते हैं, उन्हें साधु मानना बलात्कार है। पंजाबी भाषा का 'मनुक्ख' शब्द 'मनुष्य' का साक्षात् अपभ्रंश है। इसे साधु मानने वाला भाषा के ह्रास को वृथा ही भाषा के विकास में बदलता है। इसी प्रकार अंग्रेजी का 'मैन' और जर्मन का 'मन' भी मनुष्य अथवा मानव शब्द के विकार हैं। उन्हें संस्कृत का विकार न मानकर भी पाश्चात्य लेखकों को भारोपीय भाषा से विकृत मानना पड़ा है।

आदि भाषा की समृद्धि—भाषा का इतिहास सिद्ध करता है कि जिस किसी भाषा को भी अनेक उत्तरवर्ती भाषाओं का मूल माना जायेगा, उसे अत्यन्त समृद्ध मानना पड़ेगा और फिर विभिन्न भाषा समूहों की भाषा का जो आदि मूल होगा, वह उससे भी समृद्ध होगा। इस प्रकार अन्तिम मूल भाषा समृद्धतम होगी। यह पक्ष विकासमत के सर्वथा विपरीत है। अतः श्लाईशर ने ठीक लिखा था कि भाषा के इतिहास की चट्टान पर डार्विन का मत चूर-चूर होकर भग्न हो जाता है।[1]

भाषा की उत्पत्ति का केन्द्र

पाश्चात्य लेखक बाइबल के लेखानुसार भाषा-उत्पत्ति का एक ही केन्द्र

---

१. **देखो, पूर्व पृ० ४।**

मानते थे। उन्होंने भाषाओं का जो वर्गीकरण किया, तदनुसार सम्पूर्ण भाषाओं का एक मूल मानने में उन्हें कठिनाई पड़ी। इस पर उनमें से अनेक विचारकों ने भाषा उत्पत्ति के अनेक केन्द्र मान लिये।

भारतीय यथार्थ इतिहास के अनुसार आदि में जो ब्रह्मा आदि देव और वसिष्ठ आदि ऋषि उत्पन्न हुए, उनसे वेदाश्रित लोकभाषा का विस्तार हुआ। संसार की वर्तमान जर्मन, अंग्रेजी आदि सब अपभ्रंश बोलियों का एक ही मूल सिद्ध होगा। तदनुसार भाषा एक ही केन्द्र से विस्तृत हुई, यह मानना पड़ेगा।

दूसरा व्याख्यान

भाषा की वृद्धि वा ह्रास

दो मत—भाषा के उत्तरोत्तर इतिहास को भिन्न-भिन्न लेखक भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट करते हैं। देवों से भाषा की उत्पत्ति मानने वाले आदि सृष्टि में ऋषियों द्वारा प्रयुक्त लोकभाषा के समृद्धतम रूप को मानते हैं। इसके विपरीत शब्दानुकृति आदि के अनुसार भाषा की उत्पत्ति मानने वाले भाषा के उत्तरोत्तर विकास को मानते हैं। पर सत्यता कभी-कभी प्रकट हो ही जाती है। तदनुसार वर्तमान योरोप में भी एतद्विषयक वृद्धि और ह्रास के दो मत हैं। इनके लिये अंग्रेजी में निम्नलिखित शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यथा—

1. Growth, 2. Development, 3. Evolution, 4. Improvement, 5. Decay.

अनेक लेखक ये शब्द प्रयुक्त नहीं करते और (change) शब्द ही प्रयोग में लाते हैं। उसका अभिप्राय हिन्दी में परिवर्तन शब्द से प्रकट होता है।

अब इन दोनों मतों का क्रमशः उल्लेख करते हैं—

1. Many of these (changes of meaning) occured in the natural growth of the language.[1]

अर्थों का यह परिवर्तन भाषा की स्वाभाविक उन्नति में हुआ।

२. विकास (development)—फ्रैंज़ बाप ने इस विकार को विकास शब्द से प्रकट किया है—

The language in its stages of being and march of development.[2]

अर्थात्—भाषा अपने अस्तित्व के पड़ाओं में और विकास की गति में।

३. बैरिडेल कीथ लिखता है—

From the language of the Rigveda we can trace a steady development to classical Sanskrit, (H. S. L., p. 4)

अर्थात्—ऋग्वेद की भाषा से हम कालिदास आदि की संस्कृत का सुव्यवस्थित विकास और पूर्णता जान सकते हैं।

(development) **पद भ्रान्ति जनक**—कीथ आदि पाश्चात्य ईसाई लेखक सत्य को छिपाने के लिए असत्य पक्ष उपस्थित करते हैं। ऋग्वेद की भाषा

---

1. T. Burrow, The Sanskrit Language, p. 40.
2. Comp. Grammar, Vol. I, p. V.

की कालिदास आदि की लौकिक संस्कृत से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद की भाषा लौकिक संस्कृत से कहीं अधिक समृद्ध है। उसमें एक भाव को व्यक्त करने वाले मिलते-जुलते अनेक शब्द हैं। ठीक इसके विपरीत लौकिक संस्कृत में उनमें से प्रायः एक-एक शब्द ही रह गया है। यथा—ऋग्वेद में **मनु** ओर **मनुष्** तथा **द्रविण** और **द्रविणस्** दो-दो एकार्थक शब्द हैं। लौकिक संस्कृत में इनमें से केवल **मनु** और **द्रविण** शब्द शेष रह गए। इसी प्रकार ऋग्वेद में भावार्थक **तुमुन्**, **असे**, **असेन्**, **क्से**, **क्सेन्** आदि बहुविध प्रत्यय देखे जाते हैं, परन्तु लौकिक संस्कृत में उनमें से केवल तुमुन् अवशिष्ट रहा।

पूर्व-निर्दिष्ट शब्दों में से मनुष् और द्रविणस् शब्द अनुत्कृष्ट होने से लुप्त हो गए, यह भी नहीं कह सकते। मूल मनुष् शब्द लौकिक संस्कृत के मनुष्य और मानुष शब्द में अभी तक सुरक्षित है। लोप भी किसी नियमानुसार हुआ हो, यह भी नहीं। अनेक स्थानों में सान्त शब्द अवशिष्ट रहे हैं। अकारान्त लुप्त हो गए। यथा **तपस्** **छन्दस्** आदि।

इतना ही नहीं, उच्चारण की सूक्ष्मता और कथित पर्यायों के अर्थों में विद्यमान सूक्ष्म भेद भी उत्तरकाल में नष्ट हो गया।

वैदिक निघण्टु में पृथिवी के २१ और वाक् के ५७ नाम हैं। पर उत्तर-काल की संस्कृत भाषा में इन में से अधिकांश का प्रयोग लुप्त हो गया है। इसे 'विकास' कहना भ्रान्ति उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

स्वरलोप का साक्ष्य—संस्कृत तथा ग्रीक आदि भाषाओं में उच्चारण में उदात्त आदि स्वरों का लोप हो जाना मनुष्य के आलस्य और भाषा के ह्रास का स्पष्ट उदाहरण है। इस ह्रास को सुव्यवस्थित विकास कहना बुद्धि का दिवाला निकालना है।

४. महाराष्ट्र लेखक **गुणे**, जो ईसाई गुरुओं की शिक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता था, और जो प्राचीन ज्ञान से अपरिचित था, लिखता है—

From the cry and onomatopoeia, with their various combinations, by means of association and metaphor we arrive at a vocabulary, sufficient for the purpose of primitive man......the small original stock...is improved upon and added to by manipulatios of various kinds, based upon association of various kinds and metaphor.[1]

Language, like plants, is not an organic growth.[1]

अर्थात्—भय-पीड़ा आदि की ध्वनियों, शब्दानुकृति तथा इनके विविध

1. Gune, p. 12-13.

योगों[1] और साहचर्य तथा नामकरण से हमें एक शब्द-भण्डार मिलता है, जो प्रारम्भिक मनुष्य के लिए पर्याप्त होता है। यह स्वल्प मूल भण्डार सुधरता रहता है और इसमें बहुविध युक्तियों और प्रभावों से वृद्धि होती रहती है। ये प्रभाव अनेक साहचर्यों और नामकरणों पर आधारित होते हैं।

परन्तु उद्भिज की वृद्धि के समान भाषा में वृद्धि नहीं हुई। इति।

गुणे भाषा-वृद्धि के लिए improve='अधिक अच्छा बनाना' शब्द वरतता है।

गुणे के कथन में हेत्वाभास है। अमुक शब्दानुकृति अमुक पक्षी का नाम हो जाएगी, ऐसा निश्चय शब्दों द्वारा किया गया वा अन्य प्रकार से। यदि शब्दों द्वारा किया गया तो वे शब्द कहाँ से आए। महाभाष्यकार मुनि पतञ्जलि अनवस्था-दोष बताकर इस पक्ष को सर्वथा हेय कहता है।[2]

शब्दानुकृति आदि के एक पक्ष को मैक्समूलर कुछ-कुछ मानता है। पर भय-पीड़ा आदि की ध्वनियों से पदों का सीधा विकास वह नहीं मानता। तथापि भाषा में उच्चारण का ह्रास ही उसको मान्य है। उसका एतद्विषयक मत आगे कहा गया है।

मैक्समूलर का मूल लेख पूर्व पृ० १७ पर उद्धृत है।

४. **वैण्ड्रिएस की स्पष्टवादिता**—गुणे के लेख के सदृश लेखों की त्रुटि का वैण्ड्रिएस ने यथार्थ प्रदर्शन किया है। यथा—

Despite all our efforts, between the primitive "bark" and our oldest tongues there exists a gulf which can never be bridged. (p. 16)

अर्थात्—हमारे सब प्रयत्नों के होने पर भी आदिकालिक पशु-पक्षियों के शब्दों से हमारी पुरातनतम भाषाओं के आरम्भ तक एक ऐसी खाड़ी है, जिस पर सेतु कदापि नहीं बन सकता।

तथ्य वस्तुतः यही है। फिर गुणे सदृश लेखकों की कल्पनाओं पर कान विज्ञ पुरुष विश्वास कर सकता है।

५. **जैस्पर्सन** इन भावों को निम्नलिखित प्रकार से प्रकट करता है—

(क) a language or a word is no longer taken as something given once for all, but as a result of previous development and at the same time as the starting-point for subsequent development...it suffices to mention such words as 'evolution' and

---

१. **इन योगों** combinations **के उदाहरण उसने ऐतिहासिक क्रम से नहीं दिए।**

२. **महाभाष्य २।१।१॥ भाग १, पृष्ठ ३६३।**

'Darwinism' to show that linguistic research has in this respect been in full accordance with tendencies observed in many other branches of scientific work during the last hundred years.[1]

अर्थात्—अब यह नहीं माना जाता कि भाषा वा पद एक ही वार सदा के लिए दिए गए हैं। परन्तु ये पूर्वावस्थाओं का पक्व फल और आने वाली अवस्थाओं का पूर्वरूप हैं। ये विकास का परिणाम हैं। विकास और डार्विन का मत भाषा की खोज द्वारा गत सौ वर्ष में पुष्ट होता चला गया है।

पुनश्च—

(ख) The structure of modern languages is nearer perfection than that of ancient languages, if we take them as wholes......[2]

अर्थात्—यदि भाषाओं को सर्वाङ्ग लिया जाय तो वर्तमान भाषाओं की बनावट प्राचीन भाषाओं की अपेक्षा पूर्णता के अधिक निकट है।

जैस्पर्सन की विवशता—परन्तु इस असिद्ध विकास को मानता हुआ जैस्पर्सन समय-समय पर किस प्रकार विवश हो जाता है, इसके उदाहरण उसके अपने शब्दों में दिये जाते हैं।

(ग) We observe everywhere the tendency to make pronunciation more easy, so as to lessen the muscular effort; difficult combinations of sounds are discarded,...Modern research has shown that the Proto-Aryan sound system was much more complicated than was imagined in the reconstruction of the middle of the nineteenth century.[3]

अर्थात्— उच्चारण को अधिक सरल करने की रुचि सर्वत्र रही है। साथ ही आस्यगत प्रयत्न को न्यून करने की भी। ध्वनियों के कष्ट-साध्य योग त्यागे जाते हैं। वर्तमान खोज ने बताया है कि पूर्व-आर्य ध्वनि-प्रकार अधिक क्लिष्ट था।

उच्चारण भ्रष्ट अवश्य हुआ है, पर सर्वत्र अधिक सरल नहीं हुआ। गौ शब्द के स्थान में प्रयुक्त गोपोतलिका रूपी अति दूरस्थ विकार अधिक कठिन और लम्बा है।[४] इसमें प्रयत्न अधिक है। इस सत्य द्वारा दर्शाई आपत्ति को समझ कर असमंजस में पड़ा जैस्पर्सन लिखता है—

(घ) If this had been always the direction of change, speaking

1. Preface, p. 1.
2. p. 263.
3. p. 418, 419.
४. जैन चूर्णि ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग मिलता है।

must have been uncommonly troublesome to our earliest ancestors.[1]

अर्थात्—यदि परिवर्तन की सदा सरलता की ओर जाने की दिशा होती तो पूर्वतम उच्चारण अतीव क्लिष्ट होता ।

तो क्या परिवर्तन सदा इसी दिशा में नहीं हुआ । यदि नहीं, तो पहला (ग) लेख अशुद्ध ठहरेगा । यदि प्राथमिक उच्चारण अति क्लिष्ट था, तो विकास का मत अशुद्ध है । विकास-मत को मानकर जैस्पर्सन आपत्ति में पड़ा है ।

६. वैण्ड्रिएस, इस पक्ष का विरोधी—पश्चिम में ही इस विषय पर दो पक्ष हो चुके हैं । विरोधी पक्ष का एक प्रधान पोषक भाषा-अध्येता वैण्ड्रिएस लिखता है—

Certainly modern languages such as English and French rejoice in an extreme suppleness, ease, and flexibility...But can we maintain that the classical tongues like Greek or Latin are inferior to it ?... It (Greek) is a language whose very essence is godlike. If we have once acquired the taste for it, all other languages seem insipid or harsh after it,... The outward form of the Greek language is in itself a delight to the soul.... Never has a more beautiful instrument been fashioned to express human thought.

(p. 346-7)

अर्थात्—निश्चय ही अंग्रेजी, फ्रेंच आदि वर्तमान भाषाएँ बहुत कोमल, सरल और लचकदार हैं । पर क्या कोई कह सकता है कि ग्रीक अथवा लैटिन सदृश आदर्श भाषाएँ इनसे निम्नकोटि की हैं । ग्रीक भाषा का निचोड़ देवतुल्य है । यदि एक बार भी इसके प्रति रुचि हो जाये तो दूसरी सब भाषाएँ नीरस और कठोर दीखती हैं । ग्रीक भाषा का बाह्यरूप अपने आपमें आत्मा का आनन्द है । मानव विचार को व्यक्त करने के लिए इससे अधिक सुन्दर उपकरण कदापि नहीं घड़ा गया ।

जोन्स का स्पष्ट कथन—और यदि इस लेख के पश्चात् विलियम जोन्स (सन् १७९६) का बहुधा उद्धृत निष्पक्ष लेख पढ़ा जाये, तो सत्य की भूमि पर उछलता हुआ परिणाम स्पष्ट सामने आता है । वह लिखता है—

The Sanskrit language, whatever be its antiquity, is of a wonderful structure; more perfect than the Greek, more copious than the Latin and more exquisitely refined than either ;

---

१. **पृष्ठ २६३, अन्तिम वाक्य-समूह ।**

अर्थात्—संस्कृत भाषा, इसकी पुराकालिकता कितनी ही हो, आश्चर्यजनक बनावट वाली है। ग्रीक की अपेक्षा अधिक पूर्ण, लैटिन की अपेक्षा अधिक विस्तार वाली, और दोनों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है।

इस निष्पक्ष लेख के समक्ष वैण्ड्रिएस का कथन संस्कृत न जानने का परिणाम है।

७. मैक्समूलर का ह्रास पक्ष—मैक्समूलर का पक्ष अनेक अंशों में इस प्रथम पक्ष के विपरीत था—

They have reduced the rich and powerful idiom of the poets of the Veda to the meagre and impure jargon of the modern Sepoy.[1]

अर्थात्—वेद के मन्त्रों का सबल प्रवाह वर्तमान सिपाही की अशुद्ध बोली में विकृत हुआ है।

पुनः वह अधिक स्पष्ट करता है—

The growth of language comprises two processes :—

1. Dialectic Regeneration.
2. Phonetic Decay.[2]

अर्थात्—भाषा का नवजीवन और उच्चारण का ह्रास। वह पुनः लिखता है—

Laws of Phonetic decay.[3]

तथा—We are accustomed to call these changes the growth of language, but it would be more appropraite to call this process of phonetic change decay.[4]

अर्थात्—हम भाषा की वृद्धि का शब्द प्रयोग में लाने के अभ्यासी हो गए हैं। पर वस्तुतः ध्वनि की गति गलने-सड़ने के ढंग की होती गई है, ऐसा कहना अधिक युक्त है।

पुनश्च—On the whole, the history of all the Aryan languages is nothing but a gradual process of decay.[5]

अर्थात्—सम्पूर्ण बातों पर ध्यान देते हुए, सकल आर्य-भाषाओं का इतिहास, ह्रास की क्रमिक क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

---

1. L. S. L., Vol. 1, p. 36.
२. वहीं, पृष्ठ ४४।
३. वहीं, पृष्ठ ४८।
४. वहीं, पृष्ठ ५१।
५. वहीं, पृष्ठ २७२।

८. शङ्कर-पाण्डुरंग पण्डित—मैक्समूलर की परिभाषा का प्रयोग शंकर पाण्डुरंग पण्डित ने स्वसम्पादित गौडवहो की भूमिका में प्राकृत के विषय में किया है—

the simple fact how they became Prakrit by the natural process of decay and corruption.[1]

अर्थात्—सरलतम तथ्य कि विकार और ह्रास के स्वाभाविक प्रकार से वे किस प्रकार से प्राकृत बने।

९. वूलनर और प्राकृतों में ह्रास—संस्कृत भाषा का प्राकृत आदि में उत्तरोत्तर ह्रास हुआ, इस विषय में भाषाविद् वूलनर का मत है—

प्राकृत रूपरचना में नवीन अंश कुछ नहीं। समुच्चय तौर पर प्राकृत व्याकरण प्राचीन व्याकरण का क्रमिक ह्रास है, न कि कोई नवीन व्याकरण-निर्माण। इति। (प्राकृत-प्रवेशिका, पृष्ठ ४५)

१०. इस विकृत रूप को ही शतपथ ब्राह्मण में अपभाषित अथवा म्लेच्छित के नाम से स्मरण किया है।

११. कानसाईज आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार भी शब्दों में दूषण हुआ है। देखो HOLD[3] शब्द।

संसार की विभिन्न भाषाओं में विभक्तियों का लोप ह्रास सिद्धान्त का प्रतिपादक

ग्रे लिखता है—

In Indo-European, we find eight distinct case-forms in Sanskrit ; Greek and Lithuanian have seven ; Hittite and Old Church Slavic, six ; Latin and Teutonic, five (Old French and Modern English, only two) ; Albanian, four : and Armenian and Old English, three. This reduction in the number of case-forms, with the result that some of them take over the functions of one or more others, gives rise to the linguistic phoneme now known as **syncretism.** The reason for this seems to be phonetic decay of the characteristic case-endings.[2]

अर्थात्—भारोपीय भाषाओं में से नाम-विभक्तियाँ संस्कृत में आठ, ग्रीक और लिथुएनियन में सात, हिट्टाइट और पुरातन गिरजाओं की स्लेविक में छ, लैटिन और ट्यूटोनिक में पांच, एल्बानियन में चार, और आर्मीनियन तथा पुरातन आयरिश में तीन रह गई हैं। नाम-विभक्तियों की संख्या में

---

१. भूमिका, पृष्ठ ५६ (LVI)।

2. Gray, p. 201.

न्यूनता होते जाने से जबकि अवशिष्ट विभक्तियाँ नष्ट हुई किसी एक वा दो का काम करती हैं, तब भाषा-विषयक एक घटना उत्पन्न होती है, जिसे सिन्क्रेटिज्म कहते हैं, अर्थात् विभिन्न मतों के भेदों को दूर करना और पृथक्-पृथक् शाखाओं को मिला देना। यह सिद्धान्त बनता है। इसका कारण नाम-विभक्तियों में उच्चारण का ह्रास है।

प्राचीन आर्य-सिद्धान्त

भारतीय सिद्धान्त निश्चित-इतिहास के साक्ष्य के अनुसार कृतयुग के पश्चात् से भाषा के क्रमिक ह्रास का ही प्रतिपादन करता है। तदनुसार मूल में शब्द थे, जिन्हें उत्तरकाल में अपशब्दों की सृष्टि के पश्चात् साधु शब्द कहा गया। उन्हीं के विकृत रूप म्लेच्छ शब्द, अपभ्रंश शब्द, आसुर शब्द अथवा प्राकृत शब्द हुए। सम्पूर्ण प्राचीन इतिहास इसी तथ्य का निर्देश करता है।

नामवरसिंह जी और असाधु शब्द—इस इतिहास को न जानते हुए नामवरसिंह जी ने **'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग'** नामक ग्रन्थ में लिखा है--

पतञ्जलि जैसे लोकवादी मुनि के मुख से बोली के शब्दों के लिए अपशब्द और अपभ्रंश संज्ञा का प्रयोग सुनकर आश्चर्य होता है।[1] इति।

वस्तुतः भारतीय सिद्धान्त से अनभिज्ञता उनके आश्चर्य का कारण है। जब तक उनको दुष्ट, अपभाषित अथवा असाधु शब्द की परिभाषा का वैज्ञानिक कारण समझ न आए, तब तक वे पश्चिम के ईसाई-यहूदी मत का अंधा-अनुकरण करेंगे।

ह्रास का कारण आलस्य (laziness)

इस ह्रास का कारण सर्वत्र प्रयत्न-लाघव (saving of muscular exertion) नहीं, प्रत्युत आलस्य (laziness) भी है। मैक्समूलर लिखता है--

There is one class of phonetic changes which take place in one and the same language, or in dialects of one family of speech, and which are neither more nor less than the result of laziness.[2]

अर्थात्—एक प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन जो एक ही भाषा अथवा उसकी बोलियों में होता है, आलस्य के कारण है।

परिवर्तन में सरलता का स्थान—गुणे का मत है कि परिवर्तन (ह्रास) में सरलता का स्थान अकिञ्चत् है—

१. पृष्ठ ३।

2. L. S. L., Vol. II, p. 193.

ease plays a very insignificant part. (p. 34)

इसके साथ स्टुर्टिवण्ट का मत भी द्रष्टव्य है ।[1]

प्रमाद—जैसा आगे लिखेंगे, भारतीय विद्वान् इसका कारण शिक्षाविहीनता अथवा प्रमाद भी मानते हैं ।

बोली (Dialect) और भाषा (Language)

विकास-मत की आधार-शिला—विकास-मत शब्दों से बोलियों और तत्पश्चात् बोलियों से भाषाओं का उद्गम मानता है । इस बात को सिद्ध करने के लिए योरोप में बोलियों के लिए (dialect) शब्द का इस नए अर्थ में व्यवहार आरम्भ किया गया । ग्रीक भाषा के जिस (dialectos) शब्द का यह रूपान्तर है, उसका अर्थ वादकला था ।

आगे बोली (dialect) और भाषा (language) का लक्षण लिखा जाता है—

(क) स्टुर्टिवण्ट लिखता है—

Dialect--a dialect is a body of speech which does not contain within itself any differences that are commonly perceived as such by its users.[2]

अर्थात्—बोली में अपने अन्दर प्रकट-रूप से वाणी का कोई विभेद नहीं होता ।

(ख) वेण्ड्रिएज़ लिखता है—

a dialect, that is, the language of a given district.[3]

भारतीय संज्ञा—बोली के लिए प्राचीन ग्रन्थों में देशान्तर भाषा, देश भाषा (नाट्यशास्त्र १७।४८ ॥ २७।४४,५२ ॥ कामसूत्र १।४।५० ॥), देशिक भाषा अथवा देशी भाषा शब्दों का प्रयोग हुआ है ।

बृहन् मनुस्मृति में लिखा है—

वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुच्यते ।

अर्थात्—जहाँ वाक्-भेद हो जाता है, उसे देशान्तर कहते हैं ।

किंवदन्ती है कि प्रत्येक बारह कोस में भाषा किञ्चित् रूप बदलती है ।

Language—A number of dialects grouped together on the bases of certain similarities which they possess as against other dialects is called a language.[4]

---

1. it is easier to say "cubrd" than "cup-board", p. 61.
2. Sturtevant E. H., Linguistic Change, 1942, p. 146.
3. p. 262.
४. वही, पृ० १४७ ।

अर्थात्—शब्दों के अनेक सादृश्यों का अनेक बोलियों से एकत्रीकरण करके भाषा बनती है।

दोनों का भेद असम्भव—बॉडमर का विचार है कि बोली और भाषा में अन्तर का स्थिर करना वस्तुतः असम्भव है—

It is impossible to draw a hard-and-fast line between language and dialect differences.[1]

अनेक भारतीय इस मत के उच्छिष्ट-भोजी

पूना से ध्वनि उठी—

Any language is a complicated network of dialects which it comprises of, intercrossing one another.[2]

अर्थात्—प्रत्येक भाषा बोलियों का एक जटिल सांकर्य है।

योरोप के अनुसार वेद एक बोली—इसी भाव से प्रेरित होकर मैक्समूलर—Their (gathas) language is very near to the Vedic dialect, वेद को बोली लिखता है, (L. S. L., Vol. I, p. 242.)

उह्लनबैक (Uhlenbeck) भी वेद को बोली लिखता है—

The Vedic dialect, which was spoken in the Panjab........ (p. 4.)

परन्तु अनुमान के अतिरिक्त इसका प्रमाण नहीं। यह कथन उपहासजनक है। वेद न बोली है, न भाषा। बोली इसलिये नहीं, क्योंकि वह सब ऋषियों की सामान्य सम्पत्ति थी, ग्रामीणों की नहीं। भाषा इसलिए नहीं, क्योंकि वह मानव द्वारा व्यवहार के लिए प्रयुक्त नहीं हुई। वेदकाल के आरम्भ से ही अति-भाषा अथवा आदि लोक-भाषा मानव-व्यवहार की भाषा रही है।

विकास मतस्थों का यही पक्ष है कि बोलियों से भाषा बनी। यही इसकी वृद्धि (growth) अथवा पनपना है।

टिप्पण—अगले लेख से पता लगेगा कि भाषा से भी बहुधा बोलियाँ बनी हैं। वहाँ यह मत अयुक्त ठहरेगा।

इसके विपरीत

भाषाओं से बोलियाँ बनीं—दूसरी ओर भाषाओं से बोलियों का बनना भी स्पष्ट दिखाई देता है।

(क) यह निर्विवाद है कि अनेक भारतीय बोलियाँ शिष्ट संस्कृत का

---

1. The Loom of Language, p. 216, note :
2. C. R. Sankarn, A. D. Taskert, P. C. Ganesh Sundaram, Quantitative classification of Language, Bulletin, Deccan College Res. Inst. Sept. 1950, p. 87.

अपभ्रंश मात्र हैं। पक्षपातियों ने इस तथ्य के नष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया है, पर वे सर्वाङ्ग असफल रहे हैं। यथा—

विण्टर्निट्ज़ ने लिखा—

Languages of India..., have passed through three great phases of development,...These are :

I. Ancient Indian (Vedic)

II. Middle ,, language and dialects,

III. The modern ,, ,, ,,

The language of the oldest Indian literary monuments... the Vedas is sometimes called 'Ancient Indian,'...sometimes also 'Vedic'. 'Ancient High Indian' is perhaps the best name for this language which, while based on a spoken dialect, is yet no longer an actual popular language, but a literary language... The dialect on which the Ancient High Indian is based, the dialect as it was spoken by the Aryan immigrants..., was closely related to the Ancient Persian and Avestic...[1]

अर्थात्—भारतीय भाषाएँ विकासकी तीन अवस्थाओं में से गुज़री हैं···।

१. प्राचीन भारतीय (वैदिक)

२. मध्य भारतीय भाषाएँ और बोलियाँ

३· वर्तमान भारतीय भाषाएँ और बोलियाँ

प्राचीनतम भारतीय साहित्यिक ग्रन्थों की भाषा, जिन्हें वेद कहते हैं, अथवा जो भाषा कभी कभी वैदिक कहाती है, का आधार बोली पर था, पर वह सर्वप्रिय भाषा नहीं रही थी। वह साहित्यिक भाषा हो चुकी थी। वेद भारत में आने वाले आर्यों की पूर्व-भाषा का परिणाम था। इसका प्राचीन फारसी और अवेस्ता से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इति।

टिप्पण—वेदवाक् किसी पुरानी बोली पर आश्रित है, इसका कोई प्रमाण नहीं। अवेस्ता में उन गाथाओं आदि का अपभ्रंश रूप है जो प्राचीन संस्कृत में थीं, अथवा अवेस्ता के अनेक पाठ मन्त्रों का ही विकृत रूप हैं।

उपर्युक्त उद्धरण में विण्टर्निट्ज उह्लनबैक का खण्डन करता है। उह्लनबैक के अनुसार वेद एक बोली है, विण्टर्निट्ज के अनुसार नहीं।

विण्टर्निट्ज़ अपना स्वयं प्रत्याख्याता

अपनी पुस्तक के अगले पृष्ठ पर विण्टर्निट्ज़ अपना प्रत्याख्यान स्वयं करता है। यथा—

1. H, I. L. p. 41.

Also the case and personal endings are still much more perfect in the oldest language than in the later Sanskrit. (p. 42)

पहले वह (phases of development) विकास के प्रकार लिखता है। पुनः वह प्राचीनतम भाषा (oldest language) में अधिक पूर्ण (more perfect) रूप देखता है।

असत्य मत बनाने वालों की जो गति होती है, वही विण्टर्निट्ज़ की हुई है।

(ख) पामीर की बोलियों के विषय में देखिए—

In Vakhan there is also spoken an older Iranian language as well as the shugnan tongue, which shugnan is only spoken by the people of quality. This older Iranian tongue is the original tongue of the Vakhans, which now seems to have 'degenerated' into a country dialect. All the people of Vakhan speak this language.[1]

अर्थात्—मध्य एशिया के वखान(=वाकाण)[२] देश में पुरानी ईरानी बोली, एक ग्रामीण बोली की अवस्था में गिर गई।

(ग) मेरियो पाई भी एक ऐसा वृत्त लिखता है—

Classical Arabic is a unified and highly conservative language, and is used throughout the entire Arabic world for written language purpose. Spoken Arabic, as a tongue which has been in constant use for many centuries over an extended area, has broken up into numerous dialects.[3]

अर्थात्—आदर्श अरबी एकीभूत और बहुत अपरिवर्तनशील भाषा है और सम्पूर्ण अरब संसार में लिखित भाषा के काम में प्रयुक्त होती है। व्यवहार की अरबी से अनेक बोलियाँ बनीं।

व्यावहारिक और साहित्यिक भाषा का ऐक्य—महाभाष्य २।४।५६ में एक वैयाकरण और सारथी का संवाद उद्धृत है। उससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में व्यावहारिक और साहित्यिक भाषा में कोई विशेष भेद नहीं था। महाभाष्य ६।३।१०९ से भी इसकी पुष्टि होती है। वहाँ लिखा है—

---

1. Obifren O., Through the Unknown Pamirs, London, 1904, p. 60.

२. **विनयचन्द्रकृत काव्यशिक्षा के अनुसार ८४ देशों में से एक देश।**
Cotalogue of Mss., Pattan, p. 48.

3. The Story of Language, pp. 361, 362.

अष्टाध्यायीमधीयानोऽन्यं पश्यति अनधीयानं येऽत्र विहिताः शब्दास्तान् प्रयुञ्जानम् ।

अर्थात्—अष्टाध्यायी का पढ़ने वाला, अन्य अष्टाध्यायी न पढ़ने वाले को अष्टाध्यायी में विहित शब्दों (मातृभाषा के रूप में) को प्रयोग करते हुए देखता है ।

कृतयुग में जब सब ब्राह्मण और विद्वान् थे, तब व्यवहार और साहित्य में प्रयुक्त भाषा में कोई अन्तर नहीं था । यदि कहो कि हम इस पक्ष को नहीं मानते तो यह इतिहास का दोष नहीं कि अज्ञानी उस इतिहास को नहीं जानता । अपनी कल्पना के अनुसार इतिहास को घड़ना मूर्खता है ।

(घ) अरविन्द का मत—इस विषय पर अरविन्द का लेख बहुत महत्त्व-पूर्ण है—

It (Comparative Philology) has given us juster notions about the relations and history of extant languages and the process by which old languages have degenerated into that detritus out of which a new form of speech fashions itself.

(p. 32.)

अर्थात्—पुरानी भाषाएँ निम्नावस्था को प्राप्त हुई हैं । फिर उसी निम्ना-वस्था से नए रूप की बोलियाँ तथा भाषाएँ भी बनीं ।

संस्कृत भाषा का संकोच

भाषा-विस्तार तथा भाषा-ह्रास के विभिन्न पक्ष कह दिए । अब संस्कृत के संकोच का ऐतिहासिक क्रम प्रदर्शित करते हैं । यही एक भाषा है जो भूतल पर मानव के प्रादुर्भाव के समय से आज तक सुरक्षित चली आई है । इसी का अनवच्छिन्न इतिहास सुरक्षित है । इसके उत्तरोत्तर ह्रास के कारण इसमें प्रागैतिहासिक, असभ्य, अर्धसभ्य अथवा सभ्यता के काल्पनिक समयों के विभाग बन ही नहीं सकते । इसके उत्तरोत्तर रूप थे—

प्राचीन संस्कृत—महर्षि ब्रह्मा के ग्रन्थों की आदि भाषा[1]

|

इन्द्र आदि के व्याकरणों की भाषा

|

पञ्चशिख, शालिहोत्र, भरद्वाज के ग्रन्थ, प्राचीन आर्यभाषा

|

कृष्णद्वैपायन व्यास के महाभारत आदि, ब्राह्मण तथा सूत्रगत उपलब्ध श्लोक और गाथाएँ

|

पाणिनि-निर्दिष्ट अति संकुचित संस्कृत

---

१. भगवान् पितामह के दो श्लोक नाटकलक्षणरत्नकोश. पृ० १ पर उद्धृत ।

ह्रास के प्रकार

इस क्रम से संस्कृत भाषा में उत्तरोत्तर ह्रास निम्न विषयों में हुआ है—

१—**धातुओं में**—यथा—घ्रा और जिघ्र, दृश और पश्य, ब्रूञ् और वच, पहले स्वतन्त्र धातु थे। उत्तर काल में इनका एकीकरण अथवा धात्वादेश बनाया गया।

२—**धातु-रूपों में**—यथा—लुनाति लुनोति, हन्ति हनति। उत्तर काल में इनमें से केवल प्रथम रूप शेष रहे। वैदिक रूप शृणोत के स्थान में अब संस्कृत में शृणुत रूप है।

३—**नाम-रूपों में**—यथा—योषित् योषिता-योषा और तपस् तप आदि। उत्तर काल में इनमें से केवल आदि रूप शेष रहे।

४—**लिङ्ग में**—यथा—संबन्धः-संबन्धम्, लक्षणम्-लक्षणः, मित्रम्-मित्रः। उत्तर काल में इनमें से प्रथम लिङ्ग का प्रयोग शेष रहा।

५—**वाक्यविन्यास में**—

(क) पहले उपसर्ग और धातु का व्यवहित प्रयोग भी होता था।

(ख) नाम की विभिन्न विभक्तियों में। यथा—

'भी' धातु के योग में पहले पंचमी और षष्ठी दोनों विभक्तियों का प्रयोग होता था। पीछे से केवल पंचमी का प्रयोग शेष रह गया। यथा—

कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे।

यह पाठ वाल्मीकीय रामायण के आरम्भ में मिलता है। मुद्रित दाक्षिणात्य पाठ ऐसा ही है। पर पश्चिमोत्तर शाखा में किसी पाणिनीय भक्त ने इसका रूपान्तर निम्नलिखित कर दिया—

संजातरोषात् कस्माच्च देवता अपि बिभ्यति।

इस प्रकार के शतशः प्रयोग पुराने ग्रन्थों में मिलते हैं।[1]

इन सब का विस्तार से निदर्शन आगे किया जाएगा।

यदि संस्कृत भाषा का प्राचीनतम रूप कभी संसार के सामने आया, तो संस्कृत के अतुलनीय शब्द-भण्डार, संस्कृत के व्याकरण के बहुविध रूपों, और तथा-कथित पर्यायों के अर्थों के सूक्ष्म भेदों का एक चमत्कारपूर्ण रूप विद्वानों के सामने आएगा। निश्चय ही यहाँ भाषा की वृद्धि अथवा उन्नति नहीं हुई, प्रत्युत ह्रास ही हुआ है।

---

१. **संस्कृत भाषा में शब्दों का उत्तरोत्तर ह्रास किस प्रकार हुआ है, इसके लिए पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी का 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ का प्रथमाध्याय देखें। वहाँ अनेक उदाहरण देकर इस विषय को अधिक स्पष्ट किया है।**

यदि वृद्धि का अभिप्राय शब्दों के सामासिक मेल आदि से समझा जाए (यथा—समाचार-पत्र आदि शब्दों में) तो नवीन अपभ्रंश भाषाओं में आंशिक वृद्धि होती रहती है, पर मूल शब्दराशि, शब्दों के अर्थों के सूक्ष्म भेद, सन्धि-वैचित्र्य और व्याकरण की बहुविधता की दृष्टि से उनमें ह्रास-ही-ह्रास दृष्टिगोचर होता है।

अंग्रेजी, जर्मन, अरबी आदि वर्तमान भाषाओं के प्रायः शब्द संस्कृत शब्दों का सर्वथा अपभ्रंश-रूप हैं। वास्तविक भाषा एक ही है और वह है आदि संस्कृत। यही संसार की आदि भाषा थी।

संस्कृत का ह्रास पक्ष स्वीकार करने में बरो की विवशता— भाषा (growth) पक्ष का मानने वाला बरो लिखता है—

in Classical sanskrit the wealth of forms prevalent in the earlier language is considerably reduced.[1]

अर्थात्—रूपों की विविधता जो प्राचीनतर भाषा में थी वह कालिदास आदि की आदर्श संस्कृत में पर्याप्त थोड़ी रह गई है।

विकास-पक्ष वालों का विकास-केन्द्र—जो नूतन विचारक नवीन अपभ्रंश भाषाओं में विकास का प्रतिपादन करते हैं, उनके अनुसार विकास का कारण समाज है। वैण्ड्रिएस लिखता है—

It (language) owes its development to the existence of the social group.

अर्थात्—सामाजिक समूहों में भाषाओं की वृद्धि होती है।

प्राचीन पक्ष कहता है—साधु भाषा का व्यवहार शिष्ट समाज द्वारा सुरक्षित रहता है।

भेद समाज और शिष्ट-समाज के शब्दों में है। आर्य इतिहास मानव-सृष्टि के आदि में हुए ब्रह्मा और सप्तर्षियों आदि शिष्टों के विशालकाय उपदेशों में भाषा की असाधारण समृद्धि का परिचय देता है। संस्कृत वाङ्मय के पुराने से पुराने ग्रन्थ, इन उपदेशों का, जो उत्तर काल में ग्रन्थों में निबद्ध हुए, प्रमाण उपस्थित करते हैं। उत्तर कालिक दशा के लिए श्री अरविन्द का मत सत्य के समीप है।

संज्ञाएँ और वृद्धि—व्याकरण आदि शास्त्रों और विज्ञान में संज्ञाओं का नित्य नया परिष्कार भाषा की वास्तविक वृद्धि नहीं। अष्टाध्यायी में हल् आदि संज्ञाएँ ऐसी ही हैं। अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलन को अ० भा० सं० स० कहना अथवा U. N. E. S. C. O. यूनैस्को आदि शब्दों का प्रयोग इसी

1. T. Burrow, p. 37.

दिशा के द्योतक हैं। संगीत के षड्ज-ऋषभ, गान्धार-मध्यम-पंचम-धैवत, निषाद को स-र-ग-म-प-ध-नि की संज्ञा देना भी इस प्रकार का है।

निष्कर्ष—प्राचीन संसार का यथार्थ इतिहास, जो आर्य वाङ्मय में सर्वथा सुरक्षित है, पता देता है कि आदि में वेद-शब्द-बहुला अतिभाषा थी। उसका शनैःशनैः ह्रास होकर एक ओर भारत के पश्चिम और पूर्व की म्लेच्छ भाषाएँ बनीं; और दूसरी ओर भारत में ही प्राकृतों और अपभ्रंशों के जन्म हुए। अन्ततः इन अपभ्रंशों ने भारत के उत्तर भाग में हिन्दी का रूप धारण किया, जो संस्कृत तथा वर्तमान अन्य भाषाओं से सामग्री लेकर दिन-दिन समृद्ध हो रही है। आदि में भाषा से बोलियाँ बनीं और तत्पश्चात् अनेक बोलियाँ पुनः भाषाएँ बनीं और अब भी बन रही हैं। पर सम्पूर्ण नई भाषाएँ हैं अपभ्रंश ही।

तीसरा व्याख्यान

भाषा-परिवर्तन

भाषा-ह्रास और वृद्धि रूपी दोनों गतियों का फल भाषा के परिवर्तनरूप में प्रकट होता है।

१. योरोप के विचारकों का कथन है—

When a language lives it changes. It changes in society.

अर्थात्—सजीव भाषा परिवर्तित होती है और परिवर्तन समाज में ही होता है।

२. भाषा-शास्त्र के महान् आचार्य पतञ्जलि का मत है कि शिष्ट-व्यवहार में आदिभाषा स्थिर रही, पर साधारण ज्ञान के लोगों में भाषा में परिवर्तन हुआ और होता रहता है। यथा—शिष्टों में संस्कृत (आर्य संस्कृत) सदा एकरस रही, पर साधारण पुरुषों के व्यवहार में इसमें परिवर्तन हुआ और असाधु पद उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् प्राकृतें तथा अपभ्रंश भाषाएँ क्रमशः अस्तित्व में आईं। शिष्ट लोगों का प्रदेश गंगा और यमुना के मध्य में था।[1]

३. परिवर्तन स्तर—लोगों के ज्ञान और विद्याभ्यास के विभिन्न स्तरों के अनुसार परिवर्तन अधिक, न्यून और न्यूनतम होता है।

४. देववाणी का सर्वांगीण प्रकार कभी बोलचाल की भाषा नहीं बना। आरम्भ से वेद-शब्दों के आधार पर लोक-भाषा मानव की भाषा बनी। इस कारण और शिक्षा-शास्त्र के कठोर अभ्यासों तथा सतत विद्याभ्यास के कारण मूल वैदिक ध्वनियों का उच्चारण प्रायः सम रहा। तथापि चरणों और शाखाओं में निर्दिष्ट उच्चारण का थोड़ा-सा भेद हो ही गया। शाखाओं के कुछ पाठान्तर इसी कारण हुए। प्राजापत्य श्रुति नित्य मानी गई है।[2] उसके ये ध्वनि-भेद नित्य नहीं हैं।

नदी अपना मार्ग बदलती है, पर नियन्त्रण में रहे तो अधिक नहीं। यथा पार्वत्य प्रदेशों में। इसी प्रकार वेद-वाणी शिष्टों में नियन्त्रण के कारण अधिक नहीं बदली। पर लोक-भाषा संस्कृत पर जन-साधारण में नियन्त्रण नहीं रहा, अतः वह बदली।

---

१. **देखो, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ १३९, द्वि० सं०।**

२. **प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या। वायु पुराण ६१।७५॥ विशेष देखो—वै० वा० इतिहास, प्रथम भाग, अ० ११, द्वि० सं०।**

५. परिवर्तन का स्पष्ट आभास शतियों में— भाषा का परिवर्तन तत्काल स्पष्ट नहीं होता। इसका ज्ञान चिरकाल पश्चात् होता है। एक पाश्चात्य लेखक ठीक लिखता है—

Language charges as human beings do, but the changes are spread over periods of centuries instead of years.

६. अदृश्य परिवर्तन— यह परिवर्तन अदृष्ट-रूप से होता रहता है।

The change is almost imperceptible.

७. दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को सदा देखता हुआ द्रष्टा, अपने रूप में परिवर्तन का अनुभव नहीं करता। पर वह बालक से युवा, युवा से प्रौढ़ और प्रौढ़ से वृद्ध बनता है। प्रतिदिन अथवा प्रतिमास का सूक्ष्म परिवर्तन अदृश्य-सा रहता है।

यह दृष्टान्त किसी सीमा तक भाषा-परिवर्तन की दशा पर भी घटता है। पर भाषा मनुष्यवत् सजीव नहीं। मनुष्य में अपने अन्दर से परिवर्तन होता रहता है, पर भाषा में दूसरों के प्रयोगों से परिवर्तन होता है। प्रयोगों का ज्ञाता शिष्ट पुरुष परिवर्तन का अनुभव कर लेता है, पर अर्धज्ञानी ऐसा नहीं कर सकता।

८. प्रतिदिन के शुद्ध भोजन के विना जैसे शरीर में विकार और क्षीणता आती है, वैसे ही सदा अभ्यास के विना भाषा विकृत और क्षीण हो जाती है।

९. अंग्रेजी, जर्मन, लैटिन, ग्रीक आदि में न्यूनाधिक परिवर्तन हुआ है।

चार प्रकार का परिवर्तन

भाषा में चार प्रकार से परिवर्तन होता है—

१. पदों की बनावट में परिवर्तन

२. पदों के अर्थों का भेद

३. शब्द भण्डार में न्यूनाधिकता

४. वाक्य-रचना में परिवर्तन

आधुनिक भाषाविज्ञों ने भाषा-परिवर्तन के उपर्युक्त चार प्रकार बताए हैं।

इनके संस्कृत से उदाहरण

संस्कृत भाषा में भी पद-रचना और वाक्य-रचना में कुछ परिवर्तन हुआ है। यथा—

I. पद रचना में—

१ व्यम्रुचत्—न्यम्रुचत्—जैमिनि ब्राह्मण १।७ में लिखा है कि प्राचीन काल में **'व्यम्रुचत्'** क्रिया का प्रयोग होता था और इस समय उसी अर्थ में

'न्यम्रुचत्' का प्रयोग होता है। इति। अर्थात् कभी म्रुच धातु के साथ **वि** उपसर्ग प्रयुक्त होता था। उत्तर काल में उसी अर्थ में नि उपसर्ग व्यवहृत होने लगा।[1]

तुलना के लिए देखिए—**ऊर्ध्वदेशविवर्तनात्**। नाट्यशास्त्र ६।१६५॥ तथा **गुरुदेशनिवर्तनात्**। विष्णु धर्मोत्तर २६।८६॥

२. इसी प्रकार का एक दूसरा प्रयोग निरुक्त १।१५ की स्कन्द टीका में मिलता है। यथा—**रणाय विघ्नन्**। इसी स्थान पर दुर्गवृत्ति के पाठ में **रणाय निघ्नन्**, किसी अन्य शाखा का पाठ है।

३. महाभारत भीष्म पर्व ४८।१६ तथा ५६।१२ में **विनिघ्नन्** में पूर्वोक्त दोनों उपसर्गों का एक साथ प्रयोग और ५।३ में **निघ्नन्ति** नवीन प्रयोग भी मिलता है।

II. **पदों के अर्थों के भेद**—इनके उदाहरण आगे दिये जाएँगे।

III. **शब्द-भण्डार में न्यूनता**—अति प्राचीन वैदिक-शब्द-बहुला अति-भाषा के अनेक पद **वर्तमान** संस्कृत में नहीं रहे, पर योरोपीय भाषाओं में विकृत रूप में उपलब्ध होते हैं। यथा—

वैदिक	योरोपीय भाषाओं में
अपस् (=कर्म)	ओपस् (लैटिन में)
क्रविष् (=कच्चा मांस)	क्रेयस् (ग्रीक में)
दम (=घर)	डोमस्(लैटिन में)
नेम (=अर्ध)	नएम (अवेस्ता में)[2]
	वर्तमान फारसी में नीम। यथा नीम हकीम।

इसी प्रकार कई प्राचीन वैदिक पद पंजाबी में विकृत रूप में मिलते हैं, पर संस्कृत में प्रायः लुप्त हो गये हैं। यथा—

---

१. 'मनुस्मृति २। २१९ में अभिनिम्लोचेत् प्रयोग है। मैत्रायणी संहिता १८।४ में 'निम्रुक्ते सूर्ये' पाठ मिलता है। कृत्यकल्पतरु के गार्हस्थ्य काण्ड (पृष्ठ १४०) और श्राद्धप्रकाश (पृष्ठ १५०) में उद्धृत हारीत धर्म-सूत्र के पाठ में भी निम्रुक्त शब्द का ही प्रयोग मिलता है। बृहद्देवता २०।१० में 'निम्रुचि' पाठ है। इन ग्रन्थों के काल पर ये प्रयोग प्रकाश डालते हैं।

२. बरो के ग्रन्थ से उद्धृत, पृष्ठ ३६, ४०।

वैदिक		पंजाबी
१. खर्व	—	खब्बा
२. गर्त	—	गड्डा[1]
३. जनी	—	जणियाँ
४. पिलिप्पिला	—	पिलपिला
५. वञ्चति (जाता है)	—	वञ्ज (मुलतानी में)
६. वार (द्वार)	—	बारी
७. सीमिका[2]	—	स्योंक
८. हन्त[3]	—	हन्दा

IV. **वाक्य रचना में परिवर्तन**—अब हम संस्कृत की वाक्य रचना के कतिपय रूपान्तर दर्शाते हैं—

१. मनुस्मृति में पाठ है—

स्वयमन्नस्य वर्धितम् । ३।२२४ ।।[4] अन्नेन ।

२. रामायण दाक्षिणात्य संस्करण बालकाण्ड में पाठ है—

कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ।१।५।।

यहाँ पंचमी विभक्ति के अर्थ में षष्टी का प्रयोग है ।

इसी का पश्चिमोत्तर संस्करण का पाठ है—

संजातरोषात् कस्माच्च देवता अपि बिभ्यति १।४।।

इन दोनों पाठों में दाक्षिणात्य पाठ प्राचीन है । 'बिभ्यति' के योग में पाणिनि के मतानुसार पञ्चमी विभक्ति होनी चाहिए । इस दृष्टि से पश्चिमोत्तर पाठ उत्तरकालीन है ।

३. **वरमेनमयाचत** । रामायण (दा०) १।१।२२।।

यद्यपि संस्कृत भाषा में अभी भी 'याच' द्विकर्मक मानी जाती है, परन्तु हिन्दी में वाक्य रचना होती है—उससे वर माँगा ।

४. **तत्र दानं ददुर्वीरा ब्राह्मणानां सहस्रशः** । महा० आदिपर्व ।

सम्प्रति 'दा' धातु के योग में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है । यहाँ षष्ठी का प्रयोग हुआ है ।

५. **तस्य कदाचिद् वनपालकेनागत्य निवेदितं** । पंचतन्त्र, पृ० १०२ ।

---

१. गर्ते डः । वररुचिकृत प्राकृत व्याकरण ३।२५ ।।

२. निरुक्त ३।२० ।।

३. हन्तकार शब्द का उच्चारण यजमानगृह से रोटी लेते समय ब्राह्मणी करती थी । उसी हन्त का अब हन्दा रूप हुआ है ।

४. कृत्यकल्पतरु के श्राद्धकाण्ड पृ० १७३ पर उद्धृत ।

यहाँ सम्प्रदान कारक में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है। सम्बन्ध में षष्ठी नहीं है।

६. नाग्निस्तृप्यति काष्ठानाम्।

महा० उद्योगपर्व। ४०।७।। अनुशासन ७३।२६।। पंचतन्त्र पूर्णभद्र पाठ तन्त्र १, पृष्ठ १८।[1]

अर्थात्—नहीं आग तृप्त होता काष्ठों से।

यहाँ करण कारक में तृतीया के स्थान में षष्ठी का प्रयोग है।

इन चार कारणों के अतिरिक्त संस्कृत भाषा की दृष्टि से **सन्धि वैचित्र्य** के कारण भी भाषा के रूप में भेद हुआ। यथा—

त्र्यम्बक-त्रियम्बक—'त्रि+अम्बक' की सन्धि 'त्र्यम्बक' इस प्रकार की जाती है, परन्तु पुराकाल में 'त्रियम्बक' इस प्रकार भी सन्धि होती थी। इसी त्रियम्बक' शब्द से निष्पन्न 'त्रैयम्बक' पद का व्यवहार पाया जाता है। इसी प्रकार **'नि+अंकु'** की सन्धि होकर 'न्यंकु' के स्थान में 'नियंकु' प्रयोग भी होता है। परन्तु दोनों पदों के क्रमशः विभिन्न तद्धित रूप 'न्यांकव' और 'नैयंकव' संस्कृत भाषा में प्रयुक्त होते हैं।

(ख) **सः+आत्मना**—इन पदों की सन्धि 'स आत्मना, होनी चाहिए। परन्तु महाभारत आदि में **'सोत्मना'** रूप भी उपलब्ध होता है। इसी प्रकार **'स्रोताः अभ्यवर्तत'** की सन्धि **'स्रोता अभ्यवर्तत'** के स्थान में विष्णु पुराण १।५।८ में **'तिर्यक्स्रोताभ्यवर्तत'** रूप में उपलब्ध होती है।

अब पदों वा उनमें से शब्दों में परिवर्तन होने के कतिपय कारणों की विवेचना की जाती है।

उदात्तादि स्वरों के अन्यथा उच्चारण से जो विपर्यास हुआ उसका अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय ग्रन्थों में शब्दों के दुष्ट होने के कारणों का विवेचन

शब्दों के दुष्ट होने के अनेक कारणों का उल्लेख शास्त्रों में किया है। हम उनका यहाँ संक्षेप में निर्देश करते हैं—

शारीरिक कारण (physical cause)

१. उच्चारण की अशक्ति—कभी कभी किसी व्यक्ति-विशेष के स्वर-यन्त्रों में स्वाभाविक अशक्ति होती है। उसके कारण वह किसी वर्णविशेष का ठीक उच्चारण करने में अशक्त होता है। शुद्ध उच्चारण करना चाहता हुआ भी मुँह से यथार्थ उच्चारण नहीं कर सकता।

२. स्वर-यन्त्रों में विकार—देश, काल, अनुचित उपयोग और राजस,

---

१. रामदास कृत सेतुबन्ध टीका ६।५६ पर उद्धृत।

तामस भोजन का मनुष्य के कोमल स्वर-यन्त्रों पर भारी प्रभाव पड़ता है। उसके कारण स्वर-यन्त्रों में संकोच अथवा वृद्धि आदि विकास हो जाता है। इस कारण वे स्वर-यन्त्र वर्णों का शुद्ध उच्चारण करने में अशक्त हो जाते हैं। इस प्रकार उच्चारण में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

भोजन-विशेष का जो सूक्ष्म प्रभाव कोमल स्वर-यन्त्रों पर पड़ता है उसको दृष्टि में रखते हुए प्राचीन आचार्यों ने वेदपाठियों के लिए विशिष्ट भोजन का विधान किया है, जिससे वेद-पाठ में उच्चारण-दोष उत्पन्न न हों।[1]

भारतीय आचार्यों ने इन शारीरिक कारणों का सूक्ष्म विवेचन इस प्रकार किया है—

न करालो न लम्बोष्ठो नाव्यक्तो नानुनासिकः।
गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति ॥[2]

अर्थात्—नहीं भयानक=बहुत खुले चौड़े मुँह वाला अथवा बाहर निकले दाँत वाला, नहीं लम्बे होठ वाला, नहीं अस्पष्ट बोलने वाला, नहीं नासिका से उच्चारण करने वाला, गद्गद्=घर्घरस्वर वाला[3] और बंधी हुई जिह्वा वाला व्यक्ति नहीं वर्णों का ठीक उच्चारण कर सकता।

अज्ञानता कारण

३. संस्कार-हीनता—वर्णों के यथार्थ उच्चारण को न जानने से मूर्ख व्यक्ति वर्णों का अन्यथा उच्चारण करते हुए प्रायः देखे जाते हैं।

य ज, ब व, श स का अभेद इसी दोष का फल है।

इसी कारण संस्कृत के **जानु** और **ज्मा** पद फारसी में **जानु** और **जमीन** हो गए।

पूर्वोक्त तीनों कारणों का प्रभाव शब्दों के उदात्तादि स्वरों पर और वर्णों की ध्वनियों पर पड़ता है। इसी कारण प्राचीन आचार्यों ने लिखा है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।

महाभाष्य में उद्धृत।

अर्थात्—स्वर=उदात्त आदि और वर्ण के मिथ्या=अशुद्ध प्रयोग से दुष्ट हुआ शब्द अपने वास्तविक अर्थ को नहीं कहता।

४. कुतीर्थ से अध्ययन—कुतीर्थ अर्थात् अशिक्षित अध्यापकों से जो अध्ययन

---

१. कात्यायनकृत वाजसनेय प्रातिशाख्य अ० १। नारद शिक्षा २।८।६ ॥
२. अग्निपुराण, याज्ञ० शि० २४ ॥ नारद शिक्षा २।८।१२ में चतुर्थ चरण का पाठ 'प्रयोगान् वक्तुमर्हति' है।
३. यह अर्थ अष्टांग संग्रह शारीरस्थान अध्याय २ की इन्दु टीका में है। वहीं अनुनासिकभाषी के लिए मिन्मिण पद है।

करते हैं, वे भी वर्णों का ठीक उच्चारण करने में असमर्थ होते हैं। इसीलिए शिक्षा में कुतीर्थ=अशिक्षित गुरु से अध्ययन करने की निन्दा और सुतीर्थ= शिक्षित गुरु से अध्ययन की प्रशंसा की है (पाणिनि शिक्षा २५, २६)।

मानसिक कारण

५. प्रमाद—कभी-कभी मनुष्य असावधानता से अन्य शब्द के स्थान में अन्य शब्द का प्रयोग कर देते हैं।[1] जैसे गौ के स्थान में बोरी अर्थ वाले गोणी शब्द का।[2]

यह अन्यमनस्का वाक् ऐ० ब्रा० में दृप्त वाक् भी कही गई है।

तृतीय, चतुर्थ और पंचम कारण के विषय में महान् विद्वान् भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में लिखा है—

शब्दः संस्कारहीनो यो, गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम् ॥ १।१४८ ॥

अर्थात्—जो शब्द संस्कार से हीन हो और गौ शब्द के प्रयोग की इच्छा में अन्य विशिष्ट अर्थ वाला [गोणी आदि शब्द उच्चरित हो जाए] उसे अपभ्रंश कहते हैं।

६. यदृच्छा[3]—कभी-कभी कोई व्यक्ति साधु-असाधु शब्दों के भेद को जानता हुआ भी अपनी इच्छा से शब्दों को बिगाड़कर उच्चारण करता है। छोटे-छोटे बालकों के साथ कल्लोल करते हुए माता-पिता ऐसे अपशब्दों का प्रयोग प्रायः करते हैं।

इन छः कारणों से उत्पन्न अपशब्दों का जब शिक्षमाण बालक अनुकरण करते हैं और माता-पिता आदि उस पर ध्यान नहीं देते, तब नई पीढ़ी में उन अपशब्दों की परम्परा चल पड़ती है। एवं शनैः शनैः परिवर्तन होते हुए कुछ शतियों में भाषा में इतना भेद हो जाता है कि वह उप-भाषा बन जाती है। इसी दृष्टि से आचार्य आपिशलि ने कहा है—

यदृच्छा अशक्तिजानुकरणा वा यदा दीर्घाः स्यु।

अर्थात्—जब अपनी इच्छा से प्रयुक्त अथवा अशक्ति के कारण अन्यथा

---

१. मनसा वा इषिता वाग्वदति। यां हि अन्यमना वाचं वदति असुर्या वैषा वाग् अदेव-जुष्टा। ऐ० ब्रा० ६।५ ॥

२. क्षीर स्वामी ने अमरकोश टीका २।९।८९ के अन्तर्गत अगला पाठ उद्धृत किया है—द्विशूर्पा गोण्युदाहृता। अर्थात् गोणी में द्विशूर्प भार होता है। यहाँ गोणी पद गो पद का अपभ्रंश नहीं है।

३. यदृच्छा शब्द के दो अर्थ हैं। इच्छा से अथवा अकस्मात्=सहसा। यदि अकस्मात् अपशब्द का उच्चारण हुआ है तो वह प्रमाद के अन्तर्गत होगा।

उच्चरित के अनुकरण में लृकार के दीर्घ भेद स्वीकृत हों...।

इस वचन से स्पष्ट है कि अनेक प्राचीन आचार्य यदृच्छा शब्दों और अशक्तिज अपशब्दों के अनुकरण पर बने शब्दों को साधुशब्द नहीं मानते। पर कई आचार्य यदृच्छा शब्दों को साधुशब्द मानते हैं। सम्भवतः वे कृत्रिम संज्ञा शब्दों की दृष्टि से ऐसा मानते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने दोनों पक्षों का उत्पादन करके यदृच्छा शब्दों को असाधु कहा है।[1]

७. **लिपिदोष**—अनेक लिपियों में वर्णों की सम्पूर्ण यथार्थ ध्वनियों को स्पष्ट करने के लिए पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र संकेत नहीं हैं। उन अल्पध्वनियों वाली लिपियों में जब अधिक ध्वनियों वाली भाषा लिखी जाती है तब उन ध्वनियों का यथार्थ लेखन नहीं हो सकता। उस भाषा से अपरिचित व्यक्ति जब उस अशुद्ध लेख को पढ़ते हैं तो वे अशुद्ध उच्चारण ही करते हैं। वे अशुद्ध उच्चारण शनैः शनैः लोक में प्रसरित हो जाते हैं। लिपिदोष के कारण उत्पन्न होने वाले उच्चारण से प्रायः सभी परिचित हैं।

६३ वर्ण—आर्यों का मूल मान्य ज्ञान वेद में था। उसके उच्चारण को शुद्ध रखने के लिए उन्होंने ६३ वर्णों की अपनी लिपि में सृष्टि की। ध्वनियाँ तो अनेक थीं, पर आर्यों का काम ६३ वर्णों से चलता रहा। अतः आसुरि वाक् की अनेक ध्वनियाँ ब्राह्मी लिपि में नहीं हैं। देवनागरी लिपि में त्रेसठ गणना पूर्ण नहीं होती। सम्भव है मराठी लिपि में सुरक्षित ळ कभी प्राचीन संस्कृत ध्वनि में स्वतन्त्र वर्ण रहा हो।[2]

इसके उदाहरण—अंग्रेजी भाषा में **फैन** (fan) और **केन** (cane) दो शब्द हैं। इनमें fan के a का उच्चारण ऐ सदृश और cane के a का उच्चारण ए सदृश है। स्पष्ट है कि अंग्रेजी लिपि में अर्ध ऐ और ए के पार्थक्य के अभाव के कारण यह दोष उत्पन्न हुआ।

पुनः अंग्रेजी में g का **ग** तथा **ज** दो ध्वनियों में उच्चारण होता है। यथा ग में—go=गो, get=गैट। तथा ज में gentleman जैण्टलमैन, geo= जियो (पृथिवी), ginger=जिञ्जर, इत्यादि। अंग्रेजी में j के होते हुए भी g से ज का काम क्यों लिया गया, इससे मूल भाषा के उच्चारण और लिपि का ज्ञान हो सकेगा।

---

१. न सन्ति यदृच्छा शब्दाः। ऋृ लृक् सूत्र।

२. यह सामान्य वर्णसंख्या है। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में अधिकतम वर्ण संख्या ६८ तक उपलब्ध होती है। तै० प्राति० १।१ वैदिकाभरणटीका। कितने मूल वर्ण नष्ट हो चुके हैं, इसका ज्ञान भविष्य के अनुसन्धान से होगा।

अति प्राचीन छन्दोभाषा में पृथिवी नामवाची **ग्मा** और **ज्मा** दो पद हैं। इनमें ग् और ज् का पृथक् उच्चारण है। इन्हीं के समान अंग्रेजी भाषा के मूल में भी कभी ग और ज की ध्वनियों वाले पृथक्-पृथक् शब्द रहे होंगे। उनमें से एक ध्वनि वाले प्रयोग के लुप्त होने पर उसका स्थान दूसरी ध्वनि वाले शब्द ने ग्रहण कर लिया।

इसी प्रकार हिन्दी के 'है' में अर्ध ऐ का उच्चारण होता है। पर लिपि में वैसा वर्ण नहीं है। फलतः अर्ध ऐ और पूर्ण ऐ में कोई भेद नहीं रहा।

अंग्रेजी में—(man) और men शब्दों की भी लगभग ऐसी स्थिति है।

लैटिन और ग्रीक लिपि के दोष— इन दोनों लिपियों में दीर्घ स्वरों के संकेत नहीं थे। परम्परा में उसी कारण से दीर्घ स्वरों के लिए एक ही स्वर दो वार प्रयुक्त हुआ। यथा अंग्रेजी में—moon=मून, noon=नून इत्यादि।

रोमन लिपि में अ ध्वनि के संकेत का अभाव था। अंग्रेजी लिपि में भी, जो इसी लिपि का अनुकरण-मात्र है, वर्णमाला के आरम्भ के a का उच्चारण ए है, परन्तु अंग्रेजी शब्दों के उच्चारण में अ-ध्वनि स्थिर है। इसीलिए u अक्षर बहुधा अ-ध्वनि को प्रकट करता है। यथा sum=सम। cut=कट।

अंग्रेजी लिपि में च ध्वनि के संकेत का अभाव है। यद्यपि h वर्ण का उच्चारण एच है। पर च ध्वनि के संकेताभाव से ch का संयोग च को प्रकट करता है। यथा—chain=चेन, chant=चाण्ट। परन्तु अंग्रेजी शब्द character=कैरेक्टर में ग्रीक kharacter के अनुकरण के कारण ch की ध्वनि क की हो गई। ग्रीक के मूल संस्कृत के चरित्र शब्द में च था।

योरोप के भाषा-विषयक ग्रन्थों में इस लिपि-दोष के कारणों के विचार का प्रायः अभाव है।

इसका कारण—लिपि दोष मानने से संस्कृत को ही संसार के सब अपभ्रंशों की माता मानना पड़ता है।

लिपि की सर्वाधिक पूर्णता के कारण ऋषियों ने मूल ध्वनियों का आश्चर्यजनक रक्षण किया।

स्टुर्टिवण्ट और अंग्रेजी लिपि—अंग्रेजी लिपि की अपूर्णता पर यह भाषाविद् विशेष प्रकाश डालता है। यथा—

That the English alphabet is very imperfect everyone knows, but how great its shortcomings are is not so obvious.[1]

पुनश्च—

Since no two languages employ precisely the same

---

1. Linguistic Change. p. 6.

sounds, an alphabet which suits one language tolerably well is inadequate for another. (p. 8.)

प्राचीन उच्चारण के ज्ञान में लिपि सहायक—लिपिदोष का पक्ष संक्षेप में कह दिया। दूसरी ओर यह सत्य है कि लिपिबद्ध पद उच्चारण के बदलने पर भी भाषा के इतिहास को सुरक्षित रखते हैं। यथा—अंग्रेजी में know पद संस्कृत के ज्ञान पद के ज् के स्थान में k का परिवर्तन सुरक्षित रख रहा है।

स्टुर्टिवण्ट यह पक्ष पूरा नहीं समझ पाया। यथा—

When a system of writing has once become familiar, there is a tendency to stick to it, even if the pronunciation changes..........In English we...continue to write numerous letters that have not represented any actual sound for hundreds of years,......The word "doubt" is a French loan-word, and therefore the most archaic spelling we could expect in English is that of the French *doute*, but a *b* has been introduced by some school-master who wanted to exhibit his knowledge of Latin *doubito*. (p. 9.)

समीक्षा—संस्कृत में एक शब्द **द्विविधा** है। इसका पंजाबी अपभ्रंश **दुबधा** है। पंजाबी दुबधा का अर्थ संशय=doubt है। यही द्विविधा शब्द लैटिन में **दुबितो** बना। और लैटिन की वंशज फ्रैञ्च में **ब** के लोप होने पर doute बना। अँग्रेजी में ब सुरक्षित रहा। पर उच्चारण में ब का लोप हो गया। अंग्रेजी में ब की विद्यमानता स्कूल मास्टर के कारण नहीं हुई, प्रत्युत लिपिबद्धता में मूल उच्चारण के कारण है।

पहले छः कारणों से लिपि के पूर्ण होने पर भी भाषा में परिवर्तन होता है। ब्राह्मी लिपि में संपूर्ण ध्वनियों को व्यक्त करने के संकेत विद्यमान होने पर भी संस्कृत से विकृत प्राकृतों में कतिपय वर्णध्वनियों का लोप हो गया। प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में वर्णध्वनियों के लोप होने का प्रभाव उत्तरवर्ती खरोष्ठी आदि लिपियों पर पड़ा। जैसे-जैसे वर्णध्वनियाँ अपभ्रंशों में न्यून होती गईं, उसी प्रकार उनकी लिपियों में भी ध्वनियों के संकेत न्यून होते गए। भारतवर्ष में वेद और संस्कृत भाषा का प्रचार रहने के कारण यहाँ की लिपि में ६३ संकेत विद्यमान रहे।

८. देशविभिन्नता से—पहले पृष्ठ २८ पर लिखा जा चुका है कि देश-देश के अनुसार भी भाषा में विपर्यास हुआ अथवा बोली बदली। इसी का संकेत आचार्य दुर्ग ने निरुक्तवृत्ति में किया है। यथा—

देशभाषाप्रसिद्धिविभागेन। पृष्ठ १३२ आनन्दाश्रम संस्क०।

कामसूत्र १।४।५० में भी देशभाषा के अपभ्रंशों का संकेत है—

नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया ।

इस प्रकार पहले एक-एक देश में संस्कृत के प्रयोग संकुचित हुए और कालान्तर में रूप विपर्यस्त हुए। पुनः वैसी ही प्राकृतें बनीं।

भट्ट कुमारिल भी तन्त्रवार्तिक में इसी बात का संकेत करता है।

भाषा-विपर्यासक उच्चारण-दोष

पतञ्जलि मुनि ने महाभाष्य (विक्रम पूर्व १२०० के आसपास) में शब्दों के उच्चारण में होने वाले कतिपय दोषों का परिगणन कराते हुए प्राचीन आचार्यों के दो वचन उद्धृत किए हैं। उनके अनुसार उच्चारण में निम्नदोष होते हैं—

१. संवृत	*१. ग्रस्त
२. कल	*२. निरस्त
*३. ध्मात	३. अविलम्बित
*४. एणीकृत	४. निर्हत
*५. अम्बूकृत	*५. अम्बूकृत
*६. अर्धक	*६. ध्मात
*७. ग्रस्त	७. विकम्पित
*८. निरस्त	८. सन्दष्ट
९. प्रगीत	*९. एणीकृत
१०. उपगीत	*१०. अर्धक
११. क्ष्विण्ण	११. द्रुत
१२. रोमश	१२. विकीर्ण

इन दोनों सूचियों में ६ चिह्नित नाम समान हैं। अवशिष्ट बारह नामों में से एक सूचीगत नाम दूसरी सूचीगत किसी नाम का पर्याय है वा नहीं, यह हम अभी निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते।

आयुर्वेद की चरक संहिता (विक्रम पूर्व ३००० वर्ष) में अध्ययन में स्वर अथवा उच्चारण के निम्नलिखित नौ दोष गिने हैं—

१. अतिमात्र	६. विलम्बित
२. तान्त	७. अतिक्लीव
३. विस्वर	८. अति उच्च
४. अनवस्थित पद	९. अति नीच
५. अतिद्रुत	

तान्त का अर्थ रूक्ष माना गया है। शिशुपालवध ६।२ की टीका में वल्लभ देवायनी ने **तान्ताः=म्लानाः** अर्थ लिखा है। पुनः लिखा है—**केचित् तान्तं विस्तीर्णं वदन्ति ।**

शिक्षा ग्रन्थों में भी उच्चारण के दोषों का उल्लेख है। याज्ञवल्क्य शिक्षा (२६, २७) में चौदह पाठदोष गिनाए हैं। इन्हें ही सामवेदीय नारदीय शिक्षा (१।३।११, १२) में गानदोष कहा है। पाणिनीय शिक्षा (ऋक्शाखीय ३४, ३५) में कुछ अधिक दोष गिनाए हैं।

शौनक विरचित ऋक्प्रातिशाख्य के १४वें पटल में भी उच्चारण के अनेक सूक्ष्म दोषों का निर्देश किया है। उन्हीं के अनुसार पूर्वोद्धृत दोषों में से ८ दोषों की व्याख्या आगे की जाती है।

निरस्त—आठ प्रधान स्थानों में से किसी एक से तथा जिह्वा के किसी उचित अंश से इधर-उधर ले जाने पर जो उच्चारण होता है। १४।२॥ अमरकोश १।६।२० के अनुसार—**निरस्तं त्वरितोदितम्**, अर्थात् शीघ्रता में बोला गया। हेमचन्द्र कृत अभिधान चिन्तामणि २।१८१ में भी यही अर्थ है।

अम्बूकृत—ओष्ठ बन्द करके जो उच्चारण होता है। १४।४॥ अमरकोश में **अम्बूकृतं सनिष्ठेवम्**, अर्थ है। अर्थात्— थूक अथवा श्लेष्मकण सहित वर्णोच्चारण। भवभूतिकृत उत्तररामचरित २।२१। का अगला श्लोकांश इस विषय में देखने योग्य है—

भल्लूकयूनाम् अनुरसित गुरूणि **स्त्यानम् अम्बुकृतानि।**

सन्दष्ट—जबड़ों को नीचे करके जो उच्चारण होता है। १४।६॥

ग्रस्त—जिह्वा के मूल के स्तम्भन से जो उच्चारण होता है। १४।८॥ अमरके अनुसार **लुप्तवर्णपदं ग्रस्तम् अर्थ है।**

रोमश (=लोमश)—कठोरता से उच्चारण करना। १४।२०॥

क्ष्विण्ण (=क्ष्वेडन)—वर्ण की अधिक स्वरूपध्वनि, जैसे थथलाने वाले उच्चारण करते हैं। १४।२०॥

विकीर्ण (=विराग)—संयुक्त व्यंजनों का पृथक्-पृथक् उच्चारण करना। १४।१६॥

अर्धक (लेश)—लघुप्रयत्न से उच्चारण करना। १४।१७॥

वर्णविद्—प्राचीन भारत में वर्णविद् नाम के विशेषज्ञ थे। वे उच्चारण के पूरे उपदेष्टा माने जाते थे।

विपर्यास का प्रथम आघात

ध्वनि-विपर्यास का पहला प्रभाव स्वरों के उच्चारण पर पड़ता है। पतञ्जलि ने प्राचीन आचार्यों के जो श्लोक उद्धृत किये हैं उनमें से द्वितीय में स्पष्ट लिखा है—**स्वरदोषभावनाः**, अर्थात् इनसे स्वरों के उच्चारण में दोष होता है। दूषित स्वरों का प्रभाव उनसे प्रभावित व्यंजनों पर पड़ता है। **स्वरदोष** से ध्वनिदोष का अभिप्राय आपिशलि शिक्षा ८।२०।२१ से स्पष्ट है।

एक लेखक के अनुसार इन विपर्यासों में पहली चोट स्वरों पर पड़ती कही जाती है—

Vowel-quantities are the first casualties.

वेद मन्त्रों में ऐसा नहीं हुआ—शिक्षा शास्त्र विशारदों के कारण मन्त्रों का उच्चारण इस दोष से पर्याप्त मुक्त रहा। मैकडानल ने इसे समझकर लिखा—

Vowels are very rarely dropped in the Language of the Samhitas.

अर्थात्—संहिताओं की भाषा में स्वर अत्यल्प नष्ट हुए हैं।[1]

विपर्यास के कारण

पाश्चात्य विचार निष्कर्ष

पाश्चात्य लेखकों ने अपने परिश्रम तथा पुरातन वाङ्मय के आधार पर पद-उच्चारण तथा भाषा-विपर्यास के निम्नलिखित कारण गिने हैं—

१. Physiological (शारीरिक) शारीरिक विभिन्नता, विशेषतया ध्वनि-यन्त्रों की विभिन्नता। इस कारण को शिक्षाकार—**न करालो** श्लोक में कह चुका है।

२. **भौगोलिक परिस्थितियाँ**—यथा अति शरद देशों में वहाँ के निवासी बोलते समय मुख अधिक नहीं खोलते। इस कारण वे अनेक ध्वनियों को विकृत कर देते हैं। प्राचीन शास्त्रों ने इसे देशभेद के अन्तर्गत लिखा है।

३. **जातीय अथवा मानसिक अवस्थाएं**—यथा जर्मन लोग उच्चारण आदि में अपने को अंग्रेजों से अधिक सौष्ठव-युक्त मानते हैं। आर्य लोग भी अपना उच्चारण श्रेष्ठतम मानते हैं।

४. **धार्मिक प्रभाव**—ईसाई मत ने अनेक पद और मुहावरे योरोप की विभिन्न भाषाओं को दिये। यथा बाईबल का वचन Three score years and ten, सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया है। मुसलमानी धर्म का 'रब्ब' शब्द पंजाब में बहुधा प्रयुक्त होता है।

५. भाषाओं में परिवर्तन संसार के विभिन्न देशों में बढ़े हुए यातायात तथा दूर-देशस्थ लोगों के पत्र-व्यवहार के कारण भी हुआ है।

६. समाज के समझौतों (social conventions) द्वारा और अनुकरण=नकल (imitation) के पूरा न होने से भाषा में परिवर्तन हुआ है।

७. आदर्श के बदलने पर भी भाषा का रूप बदलता है—

Possible source of linguistic change is a change of

---

१. **वैदिक ग्रामर, पृ० ११।**

models; a new king may ascend the throne and his subjects begin to follow his speech. (Ling. Change. p. 30.)

भारत में अनेक लोग उच्चारण में पं० जवाहरलाल नेहरू जी का अनुकरण करने लग पड़े हैं।

८. **अनियमित विभक्तियाँ**—पाश्चात्य पक्ष है कि प्राचीन भाषाओं में जो अनियमित विभक्तियाँ थीं, उन्हें नियमित करने से भी भाषा का रूप बदला।

समीक्षा—यह कारण गम्भीर विचार योग्य है। अति प्राचीन संस्कृत भाषा में एक ही शब्द मूलतः कई रूपों में था। यथा—राजन् नकारान्त तथा राज अकारान्त। योषित् तकारान्त, योषिता आकारान्त और योषा। इन मूलतः विभिन्न शब्दों के विभक्त्यन्त रूप भी पृथक्-पृथक् थे। वे अनियमित नहीं कहे जा सकते। यदि भविष्य का अध्ययन यह बताये कि वर्तमान मनुष्य ने उन्हें अनियमित समझने में भूल की, तो यह पक्ष टूट जायेगा।

९. परिवर्तन का एक और कारण साहचर्य (association) भी है।

१०. शब्द-विपर्यास का एक कारण analogy (सादृश्य) भी है।

गुणे लिखता है—

The association of the ideas or impressions of words in the brain, is the bases of all *analogy* formation. (p. 62.)

अर्थात्—मस्तिष्क में विचारों का साहचर्य अथवा शब्दों के संस्कार सब सादृश्य-रूपों के आधार हैं।

इस प्रकार सादृश्य का व्यापार मानसिक है।

सादृश्य से विपर्यास का एक प्रसिद्ध उदाहरण अंग्रेजी के cow (काऊ) शब्द के बहुवचनान्त रूप का है। पुरानी अंग्रेजी में cow का बहुवचन kine था, परन्तु table (टेबल), book (बुक) आदि शब्दों में s लगने से बहुवचन बनता था। इस साहचर्य के फलस्वरूप cow के बहुवचन में सादृश्य से cows रूप बन गया। परन्तु foot (फुट) का बहुबचन foots नहीं बना। foots रूप बालिश भूल ही कही जायेगी।

सादृश्य का विशद् विवेचन अगले अध्याय में होगा।

Analogy is the power of other words in a language to exempt any special word from the operation of phonetic laws, or to compensate it for changes those laws may produce. (Vendryes, p. 48.)

अर्थात्—सादृश्य, किसी भाषा में दूसरे शब्दों की वह शक्ति है, जिसके होने पर ध्वनि-नियमों का काम किसी विशेष शब्द के सम्बन्ध में नहीं होता।

११. आठ प्रकार का प्रयत्न-लाघव—Economy of Effort, इस लघुकरण का मूल सुविधा मानी जाती है। वह निम्नलिखित प्रकार से हुई—

(क) **वर्ण-विपर्य्यय** (metathesis)[१] **अथवा स्थिति परिवृत्ति**[२]

चाकू	—	काचू
खीसा	—	सीखा
लखनऊ	—	नखलऊ
कन्दर्प	—	cupid
करेणु	—	कणेरू (प्रा० प्रकाश)

पाश्चात्य लेख पर वररुचि का प्रभाव है।

(ख) **ध्वनि-लोप अथवा वर्णलोप (अपाय)**—प्रयत्न-लाघव के कारण विना ध्यान के वर्ण लोप हो जाता है। यथा—

चतुरीय	—	तुरीय[३]
याचामि	—	यामि[३]
आत्मन्	—	त्मन्[३]
स्कूल	—	(कूल, बालक ऐसा बोलता है)
सत अनाज	—	सत्नाजा (पंजाबी)
यष्टिक	—	stick (अंग्रेज़ी में)[४]
अलक	—	lock (अंग्रेजी) lugos (ग्रीक)[५]
रराटी (ऐ. ब्रा.)	—	लाठी (पंजाबी)[६]
आस्राव (=मुखोदकम्)	—	saliva

शतशः प्राकृत शब्द इसी नियम के कारण बने हैं।

(ग) **समीकरण** (assimilation)—इसमें दो विभिन्न समीपस्थ ध्वनियाँ समता को प्राप्त हो जातीं हैं। यथा—

यस्य	—	जस्स (प्राकृत)
भक्त	—	भत्त, प्रातःकाल चावल खाना।
दुग्ध	—	दुद्ध (पंजाबी)

१. **वैण्ड्रिएस लिखता है**—originates through misunderstanding and lack of attention. p. 62

२. **यह प्रयोग वररुचिकृत प्राकृतप्रकाश सूत्र ४।२८ में है।**

३. **प्राचीन संस्कृत भाषा में ये स्वतन्त्र शब्द थे अथवा इनमें वर्णलोप हुआ है, यह विचारणीय है।**

४. The Concise Oxford Dictionary (1954) **पृ० १२४० पर इस अंग्रेजी शब्द की तुलना संस्कृत तिग्म से की है। यह सर्वथा अशुद्ध है।**

५. **ग्रीक शब्द का अर्थ कुछ भिन्न है, पर अंग्रेजी शब्द संस्कृत शब्द का निश्चित अपभ्रंश है। आक्सफर्ड कोश में यह बात नहीं लिखी।**

६. **वररुचि २।३२ के अनुसार यह संस्कृत यष्टि पद का अपभ्रंश है।**

स्टुर्टिवण्ट लिखता है—
of great linglistic importance is the assimilation of contiguous consonants. p. 46.

(घ) **विषमता** (dissimilation)—इसमें वर्ण के साथ लगा स्वर शेष रह जाता है। यथा—

मुकुट — मुउट[1] मउड (=गुणे, पृ० ५४)
मुकुल — मउल[2]

(ङ) **स्वरभक्ति**—इसके द्वारा संयुक्ताक्षर हटकर स्वर अधिक हो जाता है। यथा—भवति—बवइति (अवेस्ता)

कृष्ण—करसन अथवा कसन।
सकृत—हकरत् (अवेस्ता)
जन्म—जनम
श्री—सिरी

कृष्ण का कन्ह रूप अन्य प्रकार से हुआ है।

(च) **अग्रागम (=अग्र-उपजन)** (prothesis) इससे शब्द के पूर्व कोई अक्षर नया लग जाता है। उत्तर प्रदेश के लोगों में निम्नलिखित पदों में यह अधिक देखा जाता है। यथा—

स्कूल	इस्कूल
स्टूल	इस्टूल
स्टेशन	इस्टेशन,
वि (= पक्षी)	अवि (लैटिनमें)[3] इत्यादि
यवानी (चरक संहिता)	अजवाइन

---

१. पूर्व पृष्ठ ४७ पर किसी लेखक की सम्मति लिखी है कि विपर्यास में स्वरों का लोप सर्वप्रथम होता है। पर ये शब्द इसके विपरीत कहते हैं। प्राकृतों में व्यंजनों का लोप होकर बहुधा स्वर शेष रहे हैं।

२. वररुचि ३।५९ के अनुसार विप्रकर्ष है—युक्तस्य विप्रकर्षो भवति। प्राकृतमंजरी ३।५७ के अनुसार विकर्ष।

३. इस पर मैक्डानल लिखता है—

In a few words the disappearance of initial अ is prehistoric, e. g. वि bird (Lat. avis). Ved. gr. for students. p. 16.

मैक्डानल का पक्ष तर्कसिद्ध नहीं। संस्कृत सहस्रों वर्ष पुरानी है और लैटिन केवल ३००० वर्ष पुरानी है। यदि मैक्डानल आदि लेखक यथार्थ इतिहास नहीं जानते तो यह उनका अज्ञान है।

पर अन्यत्र भी इसका विस्तार दिखाई देता है—

स्त्री	इस्त्री	(पंजाबी में)
रुधिर	erytheras	(ग्रीक)
नख	onyxos	(ग्रीक)
नाम	onoma	(ग्रीक)
दन्त	odontos	"
भ्रू	ophrys	"
क्षुद्रक	Oxydrikoi	

ग्रीक अपभ्रंश Oxydrikoi निश्चित ही क्षुद्रक पद का अपभ्रंश है। अतः मैक्डानल आदि ईसाई-यहूदी लेखकों के कल्पित मत की माया टूट जाती है।

(छ) **उभय सम्मिश्रण**—

हमने देखा—हम देखे

(ज) **स्थान विपर्यय**—इसमें कहीं का अक्षर कहीं लग जाता है। यथा—

सिगनल—सिंगल

स्नान—ण्हाण=नहाना

विपर्ययविषयक प्राचीन मत

इस विषय में निम्नलिखित पुराना श्लोकाँश द्रष्टव्य है—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।[1]

अर्थात्—वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार और वर्णनाश आदि होते रहते हैं।

निरुक्तकार यास्क (२।१-२) ने अपने काल में प्रचलित धातुओं की दृष्टि से अर्थनिर्वचनोपयोगी इन परिवर्तनों को दस भागों में बाँटा है। यथा—

१. **आदिलोप**—'अस्' धातु के 'अ' का लोप—स्तः, सन्ति।

२. **अन्तलोप**—'गम्' धातु के 'म्' का लोप—गत्वा, गतम्।

३. **उपधा—(अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण का) लोप**—'गम्' के 'म्' से पूर्व 'अ' का लोप—जग्मतुः, जग्मुः।

४. **उपधाविकार**—'राजन्' के न् से पूर्व 'अ' को दीर्घ—राजा।

५ **वर्णलोप**—'याचामि' के 'च्' का लोप होकर—यामि।

६. **द्विवर्ण लोप**—'त्रि+ऋच्' में 'र्' 'इ' दो वर्णों का लोप होकर—तृच।

७. **आदि विपर्यय**—हन् धातु के 'ह' को 'घ'—घ्नन्ति।

८. **आद्यन्तविपर्यय**—'कृत्' धातु से 'कर्तु' बनकर—तर्कु (चाकू)।

---

१. **निरुक्त, दुर्गवृत्ति १।१॥ काशिका ६।३।११०॥**

९. **अन्त व्यापत्ति** (विपर्यय)—'मिह्' धातु के अन्त्य अक्षर 'ह्' का घ होकर—मेघ ।

१०. **वर्णोपजन**—(अविद्यमान वर्ण का प्रादुर्भाव)—यथा 'वृ' धातु से 'बार' के आरम्भ में 'द्' का उपजन होकर 'द्वार' बना ।

बृहद्देवता २ । ११६ में एक, दो और अधिक व्यञ्जनों का लोप भी दर्शाया है ।

अंग्रेजी में विभक्तियों का लोप

संस्कृत के रूपविपर्यय के उदाहरण कह चुके । योरोप की अन्य भाषाओं की अपेक्षा अंग्रेजी में विभक्तियों का ह्रास अधिक हुआ । उसका ज्ञान फ्रैड्रिक बाडमर के निम्नलिखित उद्धरण से हो सकता है—

Our account of the decay of the flexions in English may lead a reader who has not yet attempted to learn another European language to take a discouraging view of the prospect...Anglo-American has shed more of the characteristic flexions of the older Indo-European languages than their contemporary descendants. (p. 110. cf. p. 257.)

यथा—

वर्तमान प्रयोग	विभक्तियुक्त पुरातन प्रयोग
Bible English	English of the Bible
water power	power from water
Iceman	man with ice
Sex appeal	appeal to the sex

यह ह्रास निश्चित ही समाज में समझौते (convention) से हो रहा है । इस ह्रास में विभक्तियों आदि का लोप स्पष्ट है । Bible English दो पृथक् पद हैं । उनमें समास का भी प्रकार नहीं । अतः उनका इस प्रकार समास बनाना समझौते का फल है । यह तर्कयुक्त है वा नहीं, यह भविष्य बताएगा ।

योरोप ऋणी—पूर्व प्रदर्शित अनेक नियम योरोपीय लेखकों ने निरुक्त और प्राकृत प्रकाश आदि ग्रन्थों से ही लिए हैं । इन नियमों से जहाँ भी उन्होंने स्वतन्त्र परिणाम निकाले हैं, वहीं उन्होंने भ्रान्ति उत्पन्न की है । सारे संस्कृत ग्रन्थों से बुद्धि प्राप्त करके संस्कृत के सत्य पक्षों के विरुद्ध लिखना, ईसाई गुट को शोभा नहीं देता । धन्य वे ईसाई लेखक हैं, जो इस गुट के फन्दे में नहीं फंसे ।

चौथा व्याख्यान

सादृश्य (Analogy)

भाषा के विपर्यास में सादृश्य के प्रभाव का संकेत पूर्व पृष्ठ ४९ पर कर दिया गया है। इस सादृश्य का उल्लेख भारतीय ग्रन्थों में भी पाया जाता हैं। योगदर्शन के व्यासभाष्य पर वाचस्पति मिश्र (सं० ८९८) की तत्त्ववैशारदी व्याख्या में किसी प्राचीन आचार्य के दो श्लोक उद्‌धृत हैं। उनमें से पहले का पूर्वार्ध है—

ध्वनयः सदृशात्मानो विपर्यासस्य हेतवः।

अर्थात्—पदों की सदृशात्म ध्वनियाँ उनके विपर्यास का कारण होती हैं।

यह वचन यद्यपि हमारे प्रस्तुत प्रकरण के विषय का नहीं है, तथापि सदृशात्म ध्वनि के कार्यक्षेत्र का परिचय अवश्य कराता है। इतना निश्चित है कि इस श्लोकार्ध में पदों के विपर्यास का उल्लेख है, वाक्यों का नहीं। इस सदृशात्म ध्वनि के व्यापार का आश्रय लेकर जर्मन विचारकों ने पद-विपर्यास-विषयक जे मत घड़ा उसका स्वरूप गुणे के शब्दों में निम्नलिखित है—

Before psychology was recognised as an experimental science, the truths of which could be tested, any unaccountable change in language was treated as irregular and inexplicable. If a certain form or group of forms appeared to militate against a recognized phonetic law, it was simply set aside as an exception. So that as the regular science of language progressed, the number of exceptions, unaccountable as they were thought to be, seemed to grow, threatening to upset the small claim the study of language had established for itself to the title of *science*. But about the eighties of the last century, a band of young philologists arose—Brugmann, Osthoff and others—who boldly came forward offering an explanation of the so called exceptions. They proved conclusively the claim of *analogy* based upon association as a principle to be reckoned with in the phenomenon of linguistic growth. (p. 63)

अर्थात्—पहले मनोविज्ञान को परीक्ष्य-विज्ञान नहीं माना जाता था। इसकी सत्यता परीक्षित नहीं हो सकती थी। उस समय भाषा के परिवर्तन, जिनके हेतु समझ से परे थे, अनियमित माने जाते थे और व्याख्यागम्य नहीं थे। तब जर्मन भाषा विचारकों ने जो ध्वनि-नियम घड़े, उनसे असिद्ध जो शब्द

अथवा शब्दसमूह के रूप दिखाई देते थे, उनको कल्पित नियमों का अपवाद माना जाता था। इन नियमों पर आधारित भाषा विज्ञान की जितनी उन्नति होती गई, उतनी ही व्याख्येय अपवादों की संख्या बढती दिखाई दी। ऐसी अवस्था में भाषा के अध्ययन को, जो विज्ञान पद पर आरूढ़ होने का थोड़ा-सा अधिकारी बन रहा था, धक्का लगने वाला था। परन्तु सन् १८८० के समीप ब्रुगमैन[1], ऑस्थोफ़ आदि युवक भाषाविदों ने साहसपूर्वक आगे बढ़कर इन अपवादों के होने का कारण बताया। उन्होंने निर्णायक रूप से यह सिद्ध कर दिया कि साहचर्य के आश्रय पर होने वाले साहश्य का आग्रह है कि उसे सिद्धान्त माना जाये और भाषा वृद्धि के साथ-साथ उसकी गणना भी की जाए।

वेण्ड्रिएज के शब्दों में साहश्य की व्याख्या निम्नलिखित है—

This term (analogy) signifies the process by which the mind creates a form, a word, or a turn of expression, according to a known model. (p. 156)

अर्थात्—सादृश्य उस क्रिया को बनाता है, जिसके द्वारा किसी ज्ञात आदर्श के अनुसार मन एक शब्द अथवा उसके रूप को उत्पन्न कर लेता है।

अधिक अच्छा वर्णन है—मूर्ख मन एक अपभ्रंश उत्पन्न कर लेता है।

सादृश्य की महत्ता—विकास मतानुयायी सादृश्य को कितना गौरवयुक्त समझता है, इसका परिचय वेण्ड्रिएज ने दिया है—

Analogy is, indeed, the foundation of all morphology. (p. 156)

अर्थात्—निश्चय ही पद-रूपों का आधार सादृश्य है।

सादृश्य के व्यापार का समय—(क) सदृशात्म-ध्वनि का प्रभाव भाषान्तर्गत पदों आदि पर कब पड़ता है, इस विषय पर बॉडमर लिखता है—

Like other formative processes, leveling or regularization by analogy waxes in periods of illiteracy and culture contact, waning under the discipline of script. (p. 197)

अर्थात्—रूप ग्रहण करने वाली अन्य प्रतिक्रियाओं के समान सादृश्य द्वारा साम्यता अथवा नियमन निरक्षरता के युगों तथा संस्कृतियों के मेल के समय बढता है। जब लिपि के कठोर नियम उन युगों को क्षीण कर रहे होते हैं।

---

१. **ब्रुमैन की पुस्तक** (Kurze vergleichende Grammatik) **के विषय में ब्लूमफील्ड (पृ० ५१७) लिखता है**—more speculative, **अर्थात् अधिक कल्पनायुक्त। ब्रुगमैन ईसाई-यहूदी गुट का अत्यन्त पक्षपाती लेखक था।**

(ख) वेण्ड्रिएज़ लिखता है—

Analogy depends, to a certain extent, upon the law of least effort, which forbids the overloading of the memory with useless material. (p. 157)

अर्थात्—सादृश्य किसी सीमा तक प्रयत्न लाघव के नियम पर आश्रित है, जिसके द्वारा स्मृति अपने ऊपर व्यर्थ सामग्री का विशेष भार नहीं आने देती।

(ग) पुनश्च वह लिखता है—

Analogy can only triumph through the failure of memory; an irregular form, rarely used, is forgotten and remade according to the rule. (p. 158)

अर्थात्—सादृश्य का विजय स्मृति की असमर्थता पर आश्रित है, एक अनियमित रूप जो विरल प्रयोग होता है, भूल जाता है, और नियमानुसार दोबारा बनाया जाता है।

विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए वह पुनः लिखता है—

In a country where grammarians exercise a great influence the language is less prone to give way to the force of analogy. (p. 158)

अर्थात्—उस देश में जहाँ वैयाकरणों का प्रभूत प्रभाव रहता है, सादृश्य के भार तले भाषा थोड़ी झुकती है।

सादृश्य के कारणों का सार

पूर्वोक्त पंक्तियों में भाषा-विपर्यास में सादृश्य के व्यापार का जो पक्ष रखा गया है उसका सार निम्नलिखित है—

१. निरक्षरता,
२. संस्कृतियों के मेल,
३. लिपि की अपूर्णता,
४, स्मृति की निर्बलता,
५. आलस्य, और
६. वैयाकरणों के प्रभाव से विरहितता

के कालों में सादृश्य पनपता है।

समीक्षा—गुणे, बॉडमर और वेण्ड्रिएज के लेखों का सम्बन्ध अपभ्रंशों से है, वेद से नहीं। वेद के विषय में सादृश्य नियम के प्रभाव पर वाकरनागल, मैकडानल, कीथ और बरो प्रभृति लेखकों ने कुछ-कुछ लिखा है।

वेद में सादृश्य से शब्दों के बहुविध रूप बन गए, इसको सिद्ध करने से पूर्व प्रमाण जुटाने होंगे कि मन्त्रों के ऋषि निरक्षर अथवा अविद्वान् थे, उनके काल में विभिन्न संस्कृतियों का मेल हो रहा था, उनकी वर्णध्वनियाँ अपूर्ण थीं,

उनकी स्मृति निर्बल थी, वे आलस्ययुक्त थे और व्याकरण विद्या से रहित थे।

ऋषियों को अविद्वान्, स्मृति की निर्बलता वाले, आलस्ययुक्त और भाषा के तत्त्व से अपरिचित कहना उपहासास्पद बनना है। उनके काल में संस्कृतियाँ विभिन्न नहीं थीं और उनमें प्रचलित वर्ण-ध्वनियाँ भी असाधारण रूप से उन्नत थीं। अतः सादृश्य के कारण अनेक वैदिक शब्दों के रूप बने, यह मत पाश्चात्यों की प्रदर्शित कसौटी पर ही सत्य नहीं ठहरता।

आश्चर्य है कि उपर्युक्त अवस्था में भी योरोप के लेखकों ने वेद से सादृश्य के उदाहरण उपस्थित किए हैं। अतः अब उन पर संक्षिप्त विचार किया जाता है।

सादृश्य का दुरुपयोग— पाश्चात्य भाषा-मत के छिद्रों को छिपाने के लिए और कल्पित भाषानियमों को यथार्थ सिद्ध करने के लिए गुणे और मैक्डानल लिखते हैं—

१. **गुणे की प्रतिज्ञा**—गुणे (पृष्ठ ६४, ६५) का कथन है कि **ऋतस्पति रथस्पति**[1] में **'स्'** के श्रवण का कारण **बृहस्पति** पद का सादृश्य है। पर बृहस्पति में से 'स्' युक्त है, क्योंकि 'बृहस्' (बृहः) हकारान्त बृह शब्द के षष्ठी के एकवचन का रूप है। परन्तु ऋत और रथ शब्द अकारान्त हैं, उनमें पति शब्द से समास में ऋतपति और रथपति ही हो सकता है, ऋतस्पति तथा रथपति नहीं।

मैक्डानल का अनुकरण—इस लेख में गुणे ने मैकडानल का अनुकरण किया है। देखो वैदिक ग्रामर पृष्ठ १६८, १६९, सन्दर्भ २८०।

दोनों निराधार—उपर्युक्त लेख में मैक्डानल और गुणे ने निराधार कल्पनाएँ की हैं। अतएव उनके लेख में दो भूलें हैं। प्रथम भूल है बृहस्पति पद में पूर्वपद **'बृहस्'** को षष्ठी विभक्ति के एक वचन का रूप मानना। दूसरी है बृहस्पति में सकार के सादृश्य के आधार पर ऋतस्पति और रथस्पति में सकार आगम की कल्पना करना।

वेद में **वाचस्पति** शब्द बहुधा मिलता है। इस वाचस्पति शब्द में **वाचस्** के 'च' पर उदात्त स्वर है। निश्चय ही यह **वाचस्** षष्ठी विभक्ति के एकवचन का रूप है। क्योंकि स्वर शास्त्र के नियमानुसार एकाच् (=एक स्वर वाले

---

१. **वैदिक ग्रन्थों में उदात्तादि स्वरों का अङ्कन विविध प्रकार से उपलब्ध होता है। हमने इस ग्रन्थ में सुगमता के लिए काश्मीर ऋक्पाठ का अनुसरण किया है। उसमें केवल उदात्त अक्षर पर ⊥ ऐसी ऊर्ध्व रेखा का प्रयोग होता है।**

यथा—वाक् दिक् आदि) शब्द से परे तृतीया से सप्तमी विभक्तियाँ उदात्त होती हैं।[1] यथा—दिशः, भुवः।

बृहस्पति में बृहस् के ब्र पर उदात्त स्वर है। यदि 'बृहस्' भी 'वाचस्' आदि सदृश षष्ठी के एकवचन का रूप होता तो यहाँ भी 'ह' पर उदात्त स्वर होना चाहिये था। पूर्वनिर्दिष्ट स्वर-नियम सर्वथा निरपवाद है। अतः यहाँ इस नियम का अपवाद भी नहीं माना जा सकता। इसलिए 'बृहस्' '**कसुन्**' प्रत्ययान्त स्वतन्त्र सान्त शब्द है और स्वर शास्त्र के नियमानुसार नित्-प्रत्ययान्त (जिन प्रत्यय के नकार का लोप हो) होने से आद्युदात्त है।[2]

यतः जिस बृहस्पति के सादृश्य के आधार पर ऋतस्पति और रथस्पति में सकार-आगम की कलपना की है, वह 'बृहस्' शब्द स्वयं शष्ठी के एकवचन का रूप नहीं है, अपितु स्वतन्त्र सान्त शब्द है। अतः उसके आधार पर ऋतस्पति और रथस्पति में सकार आगम की कल्पना भी निस्सार है। वस्तुतः ऋतस् और रथस् भी स्वन्त्र सान्त शब्द हैं।।

पदपाठ का साक्ष्य—ऋग्वेद ८।२६।२१ के पदपाठ में ऋतःऽपते और ५।५०।५ ।। १०।६४।१० और १०।६३।७ में रथःऽपतिः पाठ है। यहाँ अवग्रह में विसर्ग रखने से स्पष्ट है कि **ऋतस्** और **रथस्** स्वतन्त्र सान्त शब्द हैं। यहाँ स् षष्ठ्येकवचनस्य का अवशेष है, इसका कोई प्रमाण नहीं। वस्तुतः जब भारोपीय भाषा ही असिद्ध है तो उस का प्रमाण बनता ही नहीं। वेद का प्रत्येक पद अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है।

संस्कृत भाषा में सदृशप्राय शब्दों की अनेक-विधता—संस्कृत भाषा में अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त अनेक शब्द ऐसे हैं जो उसी अर्थ में सान्त अर्थात् अस् इस् उस् अन्त वाले भी देखे जाते हैं। अर्थात् एक धातु से **अ अस्**, **इ इस्**, **उ उस्** अन्त वाले दो दो प्रकार के प्रत्यय देखे जाते हैं। यथा—

अकारान्त	**सकारान्त**
अंगारक	anthrax (coal) ग्रीक
ओक	ओकस् oecos ग्रीक
छन्द	छन्दस्
पक्ष	पक्षस्
वक्ष	वक्षस्
वेद	वेदस्

---

१. **सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः। अष्टा० ६।१।१६५ ।।**

२. **ञ्नित्यादिर्नित्यम्। अष्टा० ६।१।१९४ ।।**

शव	शवस्	उष+आ=उषा	उषस्
पुरुरव (वीरमित्रोदय श्राद्धप्र० पृष्ठ २३)		पुरुरवस्	

इकारान्त	**सकारान्त**	
अर्चि	अर्चिस्	
छर्द्धि	छर्द्धिस्	
उकारान्त	**सकारान्त**	
तनु	तनुस्	तनू
धनु	धनुस्	धनू
आयु	आयुस्	
जटायु	जटायुष्	

संस्कृत भाषा के शब्दों में प्रायः देखी गई इस द्विविध प्रवृत्ति के अनुसार 'ऋतस्' और 'रथस्' ये स्वतन्त्र सान्त शब्द ही माने जा सकते हैं। यही अवस्था वृहस्पति के 'बृहस्' और वनस्पति के 'वनस्' की है। इसी कारण इन शब्दों के आदि में उदात्त स्वर देखा जाता है।

पाणिनि को साधुवाद—हमें पाणिनि को साधुवाद देना चाहिए कि उसने अपने शास्त्र में संस्कृत भाषा में प्राचीन काल में प्रयुक्त होने वाले उदात्तादि स्वरों का पूर्ण सौक्ष्म्य और विस्तार से निर्देश किया और उसके सूक्ष्म अध्ययन से हम इस तत्त्व को समझने में समर्थ हो सके और मैकडानल आदि की भ्रान्ति दर्शा सके।

२. इसी प्रकार गुणे ने द्विवचन **वाचौ** और बहुवचन **वाचः** में चकार को अनियमित माना है। वह समझता है कि यहां एकवचन **वाक्** के समान **वाकौ वाकः** में ककार होना चाहिए। परन्तु द्वितीया के **वाचम्** में वह चकार को नियमित मानता है और इस चकार के सादृश्य के आश्रय पर वह **वाचौ वाचः** में ककार का चकार में परिवर्तन समझता है।

समीक्षा—गुणे **वाचम्** रूप में **च** को किस प्रकार नियमित मानता है, यह उसने स्पष्ट नहीं किया। इसलिए जब तक **वाचम्** में चकार की नियमितता सिद्ध न हो जाए, तब तक **वाचौ वाचः** में उसके सादृश्य के आधार पर ककार का चकार में परिवर्तन मानना साध्यसम हेत्वाभास है।

३. पुनश्च, गुणे ने **एकादश** शब्द का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उसका कथन है कि एकादश में क के आगे दीर्घ आ युक्त नहीं था, परन्तु **द्वादश** में द्वा के आगे दीर्घ आ युक्त था, उसके सादृश्य पर एकादश में द्विमात्रा वाला **आ** हो गया।

४. इसी प्रकार वेद का **अग्नामरुतौ** पद है। गुणे का कथन है कि यहाँ **अग्निमरुतौ** अथवा अधिक-से-अधिक **अग्नीमरुतौ** बनना चाहिए था, परन्तु **इन्द्रामरुतौ** अथवा **इन्द्राग्नी** के सादृश्य के कारण अग्नामरुतौ में **इ** के स्थान में दर्घ **आ** हो गया। पूर्वनिर्दिष्ट रूपों में इन्द्राग्नी रूप तो युक्त था, परन्तु **इन्द्रामरुतौ** पद **इन्द्राग्नी** के सादृश्य पर बना है।

समीक्षा—संख्या ३ और ४ में निर्दिष्ट सादृश्य के उदाहरणों तथा एतत्सदृश सादृश्य से निष्पन्न कहे जा सकने वाले अन्य सभी प्रयोगों के विषय में व्याकरण महाभाष्य का एक प्रकरण भूरि प्रकाश डालता है। संस्कृत वाङ्मय में एक प्रयोग विद्यमान था—**वैयासकिः शुकः**। वार्तिककार कात्यायन ने इस प्रयोग की सिद्धि के लिए मत प्रकट किया कि व्यास शब्द के साथ **अक** अन्तादेश मान लेना चाहिए और **व्यासक** शब्द बनाकर **वैयासकि** शब्द सिद्ध करना चाहिए। पर अगाध बुद्धि पतञ्जलि वे सूक्ष्मेक्षिका से सुझाया कि व्यास एक स्वतन्त्र शब्द था, उससे सीधा वैयासकि रूप बना है।

निश्चय ही मुनि पतञ्जलि जानता था कि शुक का पिता कृष्ण द्वैपायन सबसे उत्तरकालीन अर्थात् छोटा व्यास था, इसलिए विद्वान् उसे व्यासक भी कहते थे।

पतञ्जलि ने इस प्रकार की स्वतन्त्र प्रकृतियों के विषय में कई स्थानों पर निर्देश किया है।

हम आगे बताएँगे कि **रात्रि** और **रात्री, योनि** और **योनी** तथा **स्वसृ** और **स्वसा** (आकारान्त) स्वतन्त्र शब्द रहे हैं। इसी प्रकार यदि कभी **एक एका अग्नि अग्नी अग्ना** भी स्वतन्त्र शब्द रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। निस्सन्देह विशाल संस्कृत वाङ्मय का गम्भीर अध्ययन इष्ट है। उस समय तक **एकादश** और **अग्नामरुतौ** को अनियमित कहना उचित नहीं।

ध्यान रहे कि **अष्टविंशत्, अष्टाविंशति, अष्टभ्यः, अष्टाभ्यः** में दोनों-दोनों रूप प्रयोग में रहे हैं।

ब्लूमफील्ड ने उचित कहा है—

The task of tracing analogy in word-composition has scarcely been undertaken (p. 416)

अर्थात्—शब्दों की रचना में सादृश्य की खोज का काम अभी आरम्भ ही नहीं हुआ।

कीथ—हि० सं० लिट्० पृ० १९ पर कीथ का लेख कि सादृश्य से **पूषणम्** का **पूषाणम्** बन गया, सर्वथा अशुद्ध है। ये दोनों रूप भी स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं।

वैदिक ऋषियों के व्याकरण आदि सभी विषयों में परम **विद्वान्** और

उच्चारण में अतिशय सावधान होने के कारण वैदिक संस्कृत में सादृश्य के व्यापार को कहीं भी अवकाश प्राप्त नहीं हुआ। हाँ, उत्तरकाल में विद्या की न्यूनता के कारण प्राकृत और अपभ्रंशों में सादृश्य का कहीं-कहीं प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है। वर्तमान पंजाबी में झगड़ालु शब्द इसी दिशा का संकेत करता है। संस्कृत के कृपालु, दयालु, निद्रालु आदि शब्दों के सादृश्य के कारण झगड़ा से झगडालु शब्द बना दिखाई देता है।

पाँचवाँ व्याख्यान

पद और उसका स्वरूप

पद शब्द का प्रधान अर्थ—पद शब्द का प्रधान अर्थ है पैर। **पद्यते गम्यते ऽनेनेति पदम्**—अर्थात् शरीर का वह अवयव जिसके द्वारा गमन किया जाये। पैर के द्वारा गमन-क्रिया होती है, अतः पद शब्द का अर्थ है पैर। यास्क के निर्देशानुसार (जिसका आगे उल्लेख करेंगे) पद शब्द का प्रधान अर्थ यही है, शेष अर्थ गौण हैं। इस प्रधान अर्थ में पद शब्द के प्रयोग वेद में बहुधा उपलब्ध होते हैं। यथा—

त्रीणि पदा विचक्रमे। ऋ० १।२२।१८॥

अर्थात्—तीन पैर चला।

त्रेधा निदधे पदम्। ऋ० १।२२।१७॥

अर्थात्—तीन प्रकार से रखा पैर को।

पद और पाद समानार्थक—पद और पाद दोनों शब्द समानार्थक हैं। पैर को लोक में पाद भी कहते हैं।

पैर वाचक पद् और पाद् शब्द—किसी समय संस्कृत भाषा में पद् और पाद् शब्द भी पैर अर्थ में प्रयुक्त होते थे। परन्तु इनमें से अब पद शब्द का स्वतन्त्र प्रयोग वेद में बहुधा उपलब्ध होता है और लोकभाषा में कहीं-कहीं इसका प्रयोग रह गया है। यथा—

व्यायामक्षुण्णगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च।
व्याधयो नोपसर्पन्ति वैनतेयमिवोरगाः॥

सुश्रुत, चि०, अ० २४।

इसके विपरीत समास में पद् और पाद् के प्रयोग प्रायः उपलब्ध होते हैं। पैर अर्थ में पाद् शब्द का स्वतन्त्र अर्थात् तद्धित प्रत्यय और समास से विरहित प्रयोग अभी तक हमें उपलब्ध नहीं हुआ। समास में इसका प्रयोग देखा जाता है। यथा—द्विपाद्, चतुष्पाद्, सहस्रपाद् आदि।

विभिन्न भाषाओं में पाद अथवा पद[1] के रूप—

ग्रीक—pous, podos; **लैटिन**—pes, pep-is; **गाथिक**—fotus **एङ्ग्लो सैक्सन**—fot; **अंग्रेजी**—foot; **जर्मन**—fuss.

ये शब्द प्राचीन प्राकृत से अपर काल के अपभ्रंश हैं। प्राकृत में 'द, को

---

१. आश्वलायनगृह्य ४।७।१–४॥

पत्=पैर, कृत्यकल्पतरु, श्राद्धकाण्ड, पृ० १२२।

'ड' और 'त' हो जाता है। यथा हिन्दी में—दल=टल, दर (दृ--भये)=डर तथा तुष्यति=तुस्सदि।

ग्रीक का pous शब्द हिन्दी के पैरवाचक पाँव शब्द से समता रखता है।

पाद = मूल—पैर अर्थ की समानता से पाद शब्द का अर्थ मूल=जड़ भी होता है। दो पैर और चार पैर वाले प्राणी पदों के आश्रय पर खड़े होते हैं। वृक्षादि मूलों=जड़ों के आश्रय से ठहरते हैं। इसलिए वृक्ष के मूल को भी पाद कहते हैं। वृक्ष के लिए प्रयुक्त होने वाले **पादप** (पादों=मूलों=जड़ों से पीने वाला) शब्द में पाद शब्द का यही अर्थ है। अन्यत्र भी इस अर्थ में पाद शब्द का प्रयोग देखा जाता है। यथा—

कुमारीपादघातेन म्रियते तत्क्षणात् फणी।

अर्थात्—कुमारी (=घीक्वार) के मूल के रस से सीसा तत्क्षण भस्म हो जाता है।

पद शब्द के अन्य अर्थ—यास्क पाद और पद शब्द की सम्मिलित व्याख्या करता हुआ लिखता है—

तन्निधानात् पदम्। पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभागपादसामान्या-दितराणि पदनि।

अर्थात्—उस [पैर] के रखने से [जहाँ पैर रखा गया, उस स्थान को] पद कहते हैं। पशुओं के [चार] पैर कारण हैं जिसमें ऐसा प्रभाग [चतुर्थ भाग] पाद कहाता है। प्रभागपाद की सामान्यता से अन्य [अवयव भी] पद कहाते हैं।

नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि के मतानुसार चतुर्थ भागवाची पाद शब्द भी 'पद' धातु से निष्पन्न होता है और वह उसका मुख्य अर्थ है यथा—

पादश्च पद्यतेर्धातोश्चतुर्भागः प्रकीर्तितः। नाट्य० १४।१०४॥

अर्थात्—पाद शब्द 'पद' धातु से बनता है और उससे चतुर्थभाग कहा जाता है।

यास्क की उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार **पद** शब्द के अर्थ हैं—स्थान, चतुर्थ भाग और भागमात्र।

१. स्थान विशेष—यास्क के पूर्व-उद्धृत वचन के अनुसार पद शब्द का अर्थ वह स्थान है जहाँ पैर रखा जाता है। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। यथा—

[सोमक्रयण्याः] सप्तमं पदं गृह्णाति।[1]

अर्थात्—[सोम जिससे क्रय किया जाता है उस गौ के] सातवें पद [अर्थात्

---

१. मीमांसा भाष्य ४।१।२५ में शबर द्वारा उद्धृत।

सातवें पैर रखे गए स्थान की धूलि] को ग्रहण करता है।

२. सामान्य स्थान—पूर्वोक्त स्थानविशेष की समानता से पद शब्द लोक में स्थान सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा—'वह परम पद को प्राप्त हो गया।

वेद में भी इस अर्थ में पद शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा—

परमं पदमवभाति भूरि। ऋ० १।१५४।६ ॥

अर्थात्—[विष्णु=सूर्य का] परम स्थान प्रकाशित होता है बहुत।

३. चतुर्थ भाग—इस अर्थ में महाभाष्य ४।१।१ में प्रदर्शित है—**तस्याः सप्ताक्षरमेकं पदम् । एकः पाद इत्यर्थः।**

पाद शब्द चतुर्थ भाग अर्थ में लोक-प्रसिद्ध है। पावसेर, पाव-आना आदि में प्रयुक्त 'पाव' शब्द इसी चतुर्थ भाग वाचक पाद का अपभ्रंश है।

४. भागमात्र—यास्क के मतानुसार चतुर्थांश में प्रयुक्त पद और पाद शब्द भाग अर्थात् अवयव की समानता से भागमात्र में भी प्रयुक्त होता है। चाहे वह भाग चतुर्थांश से अधिक हो अथवा न्यून। इस भाग सामान्य अर्थ को स्वीकार करके पद और पाद शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होते हैं। यथा—

(क) गायत्री आदि छन्दों के विशिष्ट अवयव—इस अर्थ में पद शब्द का प्रयोग बहुधा देखा जाता है। यथा—

(i) पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः। निरुक्त १।६ ॥

अर्थात्—[जो शब्द अमिताक्षर अर्थात् गद्य ग्रन्थों में वाक्य की पूर्ति के लिए आते हैं] वे मिताक्षर=पद्य ग्रन्थों में पद=पाद की पूर्ति के लिए आते हैं, पर वे होते अनर्थक हैं।

(ii) **प्रायोऽर्थो वृत्तम् इति पदज्ञानस्य हेतवः।**

(वेङ्कट माधव छन्दोऽनुक्रमणी।)

अर्थात्—पद अर्थात् पाद ज्ञान के, प्रायः (जिस छन्दः प्रकरण में पढ़ा गया हो), अर्थ और छन्द कारण होते हैं।

(iii) सागरनन्दी के नाटकलक्षणरत्नकोश में भी लिखा है—

श्लोकस्य पाद एव पदम्। अर्थात्—श्लोक का पाद ही पद है। पाद शब्द का प्रयोग इस अर्थ में शास्त्र और लोक उभयत्र प्रसिद्ध है। यथा—

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। मीमांसा २।१।३५ ॥

अर्थात्—मन्त्रों में वह ऋक् कहाती है जहाँ अर्थ के अनुरोध से पादों की व्यवस्था होती है।

इसी अभिप्राय से वेङ्कट माधव भी लिखता है—

पादे पादे समाप्यन्ते प्रायेणार्था अवान्तराः।

अर्थात्—पाद-पाद में समाप्त होते हैं प्रायः करके अवान्तर अर्थ। यथा—

(i) **हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे ।** ऋ० १०।१२१।१ ॥
(ii) **यद्भद्रं तन्न आसुव ।** यजु० ३०।३ ॥
(iii) **अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति ।** मनु० ५।१०९॥
(iv) **आसीद् राजा नलो नाम ।** महाभारत, आरण्यक पर्व ।

यहाँ प्रत्येक भाग में अवान्तर अर्थ की प्रतीति होती है ।

(ख) ग्रन्थों के अवान्तर अवयव—इस अर्थ में पद शब्द का साक्षात् प्रयोग उपलब्ध नहीं होता परन्तु पाद शब्द का इस अर्थ में व्यवहार अनेक ग्रन्थों में देखा जाता है । यथा—पूर्वमीमांसा के तृतीय, षष्ट और दशम अध्याय में आठवें भाग के लिए भी पाद शब्द का व्यवहार हुआ है । इन अध्यायों में आठ-आठ पाद हैं ।

(ग) वाक्य का अवयव— वाक्य का अवयव भी पद और पाद कहलाता है । इस अर्थ में पद शब्द शास्त्र और लोक उभयत्र प्रसिद्ध है । इसी अभिप्राय से निरुक्त में लिखा है—

चत्वारि पदजातानि । १।१।।

अर्थात्—चार पदों की श्रेणियाँ हैं । चार प्रकार के पद हैं ।

वाक्य अवयव अर्थ में पाद शब्द का साक्षात् प्रयोग नहीं मिलता, पुनरपि प्रातिशाख्यों में स्वरित के एक भेद की पाद्वृत्त संज्ञा है । उसमें पाद शब्द पद अर्थ में प्रयुक्त है ।

(घ) वाक्य—सागरनन्दी ने अपने नाटकलक्षणरत्नकोश में वाक्य के लिए भी किसी द्वारा प्रतिपादित पद शब्द का उल्लेख किया है । वह लिखता है—

क्रियाकारकयुक्तं वाक्यं पदम् इति । पृ० ४७ ।

अर्थात्—क्रिया और कारक से युक्त वाक्य पद कहाता है ।

उपस्थित प्रकरण का पद शब्द

यास्क के उपरि उद्धृत वाक्य में पद शब्द का जो अभिप्राय है उसी से अगले लेख का सम्बन्ध है ।

पद के अनेक लक्षण—प्राचीन आचार्यों ने वाक्यावयव अर्थ में प्रसिद्ध पद के अनेक लक्षण किए हैं । यथा—

१. **अर्थः पदम्**—इन्द्र व्याकरण, वाजसनेय प्रातिशाख्य । ३।२ ॥

अर्थात्—अर्थवान् की पद संज्ञा होती है ।

२. **अर्थवान् वर्णसंघातः पदम्** । भामह ४।३॥

३. **पूर्वपरयोरर्थोपलब्धौ पदम्** । कातन्त्र १।१।२० ॥

अर्थात्—पूर्व और पर के अर्थ की उपलब्धि में पद शब्द का व्यवहार है ।

इसी से मिलता-जुलता पद-लक्षण सुषेण ने वररुचि के नाम से उद्धृत किया है—

इह अर्थोपलब्धौ पदम् ।

४. **विभक्त्यन्तं पदम्** । आपिशलि व्याकरण ।

५. **विभक्त्यन्तं पदं ज्ञेयं** । नाट्यशास्त्र १४।३९ ॥

६. **ते विभक्त्यन्ताः पदम्** । न्याय सूत्र २।२।५७ ॥

अर्थात्—विभक्ति जिसके अन्त में हो उसकी पद संज्ञा होती है ।

७. **सुप्तिङन्तं पदम्** । पाणिनि व्या० १।४।२४ ॥

अर्थात्—सुप् और तिङ् विभक्तियाँ जिनके अन्त में हों उनकी पद संज्ञा होती है ।

विशेष—उपसर्ग और निपातों के अन्त में विभक्ति का श्रवण नहीं होता । इसलिये उनकी पद संज्ञा नहीं होगी । इसी विचार से वात्स्यायन मुनि ने लिखा है—

उपसर्गनिपातास्तर्हि न पदसंज्ञाः । लक्षणान्तरं वाच्यम् ।
शिष्यते खलु नामिक्या विभक्तेरव्ययाल्लोपः, तयोः पदसंज्ञार्थम् ।

न्याय २।२।५७॥

अर्थात्—[विभक्त्यन्त की पद संज्ञा मानने पर] उपसर्ग और निपात की पद संज्ञा नहीं होगी । दूसरा लक्षण कहना चाहिए । उत्तर—कहा है नामिकी=सुप् विभक्ति का अव्यय से लोप, उनकी पद संज्ञा के लिए ।
पाणिनि ने '**अव्ययादाप्सुपः**' (२।४।८२) सूत्र से अव्यय से परे आप् [स्त्री प्रत्यय] और सुप् का लोप कहा है ।

८. **वर्णसंघातजं पदम्** । संग्रह[1] तथा शौनकीय बृहद्देवता । २।११७॥

९. **वर्णसंघातः पदम्** । कौटिल्य, अ० ३१ आदितः ।

१०. **वर्णसमुदायः पदम** । महाभाष्य १।१।२१ ॥ अकलंकसिद्धिविनिश्चय ।[2]

११. **वर्णानामन्योऽन्यापेक्षाणां निरपेक्षा संहतिः पदम् ।**

वादिदेव सूरि, प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ४।१० ॥

इन सभी वचनों का अभिप्राय है कि वर्णों के समुदाय का नाम पद होता है । अनर्थक वर्ण समुदाय की पद संज्ञा न हो, इसलिए वादिदेव सूरि ने इस लक्षण को अधिक स्पष्ट करके कहा है—'एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले वर्णों का जो निरपेक्ष समुदाय है, उसको पद कहते हैं ।'

इन लक्षणों में 'संघात' अथवा 'समुदाय' पद का प्रयोग प्रायिकता=बाहुल्य की दृष्टि से किया है । इसलिए अर्थवान् एक वर्ण निपातों की भी पद संज्ञा होती है ।

---

१. **वाक्यपदीय भाग १ पृष्ट ४३ पर संग्रह के नाम से उद्धृत ।**

२. **स्याद्वादरत्नाकर, पृष्ठ ६४१ पर उद्धृत ।**

१२. अक्षरसमुदायः पदम्, अक्षरं वा ।

वाजसनेय प्रातिशाख्य पृष्ठ ३२४ ।

अर्थात्—अक्षरों का समुदाय पद होता है, [कहीं-कहीं] अक्षरमात्र भी। यथा—एकाक्षर ई, उ आदि निपात ।

१३. वर्णानां क्रमः पदम् । मीमांसक मत, स्याद्वादरत्नाकर पृष्ठ ६४४ पर उद्धृत ।

अर्थात्—वर्णों का क्रम-विशेष पद कहाता है ।

१४. वर्णेभ्योऽभ्यधिकं पदम् । भरतमिश्र स्फोटसिद्धि, पृष्ठ १ ।

वर्णातिरिक्तं पदतत्त्वम् । भरतमिश्र स्फोटसिद्धि, पृष्ठ १ ।

अर्थात्—वर्णों के अतिरिक्त पद की स्वतन्त्र सत्ता है ।

पदविषयक पाश्चात्य विचार

(क) बॉडमर लिखता है—

The recognition of words as units of speech has grown hand in hand with the elaboration of script. (p. 76)

अर्थात्—जैसे-जैसे लिपि का विस्तार हुआ, वैसे-वैसे यह मान्यता बढ़ी कि शब्द वाणी की इकाई हैं ।

(ख) वैण्ड्रिएस लिखता है—

Owing to this variety of morphological processes, the term *word* must be differently defined for each language.

If there are languages in which the word may be easily defined as an independent and indivisible unit, there are others where it melts, in a sense, into the body of the sentence, where it cannot really be defined except by surrounding it with a mass of varied elements. (p. 87)

We cannot, therefore, attempt any definition of the *word* which shall be applicable to all languages. (ibid, p. 89)

अर्थात्—शब्दों की बनावट से क्रम की बहुविधता के कारण प्रत्येक भाषा में शब्द संज्ञा का लक्षण विभिन्न होगा । कई भाषाओं में शब्द एक स्वतन्त्र और अविभाज्य इकाई है । पर कई भाषाएँ ऐसी हैं, जहाँ यह वाक्य के शरीर में निमज्जित हो जाता है ।

अतः शब्द के ऐसे लक्षण का जो सब भाषाओं पर लागू हो, यत्न नहीं किया जा सकता । इति ।

वस्तुतः अपभ्रंशों में पद का लक्षण करना कठिन है । अतः भारतीय शास्त्रकारों ने साधु शब्द की दृष्टि से पद का लक्षण कहा है ।

जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्र आदि सृष्टि के निर्माण क्रम में प्रकृति के परिणाम हैं, उसी प्रकार भाषा भी आदि से ही प्रकृति का परिणाम है। इस महान् तथ्य को न समझकर ही आधुनिक पाश्चात्य विचारकों ने पद आदि के यथार्थ स्वरूप के समझने में भूल की है।

(ग) एम० माईल्लेट लिखता है—

A word is the result of the association of a given meaning with a given combination of sounds, capable of a given grammatical use.[1] (ibid, p. 89)

माईल्लेट का लक्षण भारतीय विचारकों के कुछ समीप है। परन्तु वह ध्वनियों और उनके अर्थों को मनुष्य द्वारा निर्धारित मानता है।

ग्रे का लक्षण—माईल्लेट की छाया पर ग्रे ने निम्नलिखित लक्षण किया—

A complex of sounds which in itself possesses a meaning fixed and accepted by convention. (p 146)

अर्थात्—ध्वनियों का संघात, जिसमें समाज के समझौते से अर्थ जोड़ा गया।

पद और अर्थविषयक श्वेतकेतु का मत

श्वेतकेतु नामक विद्वान् का शब्द और अर्थ का आकृति और लक्षण द्वारा स्पष्टीकरण महाभारत शान्तिपर्व में मिलता है—

व्यत्ययेन च वर्णानां परिवादकृतो हि यः।

स शब्द इति विज्ञेयः तन्निपातोऽर्थ उच्यते ॥६८॥ अ० २२४।

अर्थात्—वर्णों के आगे-पीछे जोड़ने से बोलने का जो प्रकार किया जाता हैं, वह शब्द होता है। उसका निपात जिस पदार्थ में होता है, वह अर्थ कहाता है।

चार प्रकार के पद

पूर्वाचार्यों ने समस्त पदों को चार श्रेणियों में बाँटा है। यास्क ने लिखा है—

चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च ।१।१॥

---

१. माईल्लेट का मूल ग्रन्थ जर्मन में है। उसके इसी वचन का अर्थ ग्रे ने निम्नलिखित प्रकार से किया—

The result of the association of a given meaning with a given group of sounds susceptible of a given grammatical

अर्थात्—पदों की चार श्रेणियाँ हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ।

इन विभागों की दृष्टि से इन्द्र का मत ही ठीक है। उसका लक्षण सब विभागों में यथार्थ रूप से व्याप्त है। आपिशलि और पाणिनि के लक्षण अपने-अपने शास्त्र की प्रक्रियानुसार पारिभाषिक हैं ।

वर्णसंघात को पद मानने वाले आचार्य भी अर्थवान् वर्णसमुदाय को ही पद मानते हैं, अनर्थक वर्ण समुदाय को नहीं । इसलिए वादिदेव सूरि ने पद के लक्षण में **'अन्योन्यापेक्षाणाम्'** विशेषण दिया है। इस प्रकार सभी के मत में अर्थवान् वर्णसमुदाय की ही पद संज्ञा होती है, अनर्थक की नहीं ।

वर्णसंघात को पद मानने वाले लक्षण में संघात अथवा समुदाय शब्द को प्रायिक मानते हैं । इसलिए एकाक्षर अर्थवान् निपात और उपसर्ग की भी पद संज्ञा होती है ।

उपसर्गों की स्वतन्त्र अर्थसत्ता

प्रश्न—क्या उपसर्गों का आख्यात और नाम से सम्बद्ध हुए विना स्वतन्त्र कोई अर्थ होता है ? यदि नहीं तो उनकी पद संज्ञा कैसे होगी ?

उत्तर— शाकटायन मतानुसार स्वतन्त्र उपसर्ग सुस्पष्ट रूप से अर्थवान् नहीं हैं । गार्ग्य आदि उपसर्गों को उच्चावच (=ऊँचनीच अर्थात् अनेक) अर्थ वाला मानते हैं । [निरुक्त अ० १।१]

प्रश्न—शाकटायन के मत में उपसर्ग की पद संज्ञा कैसे होगी ?

उत्तर—शाकटायन का पद का लक्षण क्या था, यह हमें ज्ञात नहीं । यास्क ने शाकटायन का मत निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुरिति शाकटायनः । १।३॥

अर्थात्—[धातु अथवा नाम से] असम्बद्ध उपसर्ग अर्थों के सुस्पष्ट वाचक नहीं होते ।

सम्भवतः शाकटायन ने यह बात लौकिक भाषा की दृष्टि से लिखी है । सम्प्रति लोक में उपसर्ग का क्रिया और नाम के साथ ही प्रयोग होता है।[1] वेद में उपसर्ग का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से भी होता है । वेद की दृष्टि से स्वतन्त्र उपसर्गों का अर्थ भी मानना होगा । अतएव सामवेदीय शाखा-प्रवक्ता गार्ग्य

---

१. **पाणिनि के मत में जब 'प्र, परा, उप, सम्' आदि का धातु के साथ सम्बन्ध होता है, तभी इनकी उपसर्ग संज्ञा होती है । यथा—प्रतिष्ठते, पराजयति, उपगच्छति, संगच्छते । जब इनका नाम के साथ सम्बन्ध होता है तब पाणिनि के मत में इनकी निपात संज्ञा होती है । यथा—निर्वाराणसि (वाराणसी के बाहर गया हुआ), उपगु (गौ के समीप), प्राध्यापक (प्रकृष्ट=श्रेष्ठ अध्यापक) ।**

नामक नैरुक्त आचार्य वेद के पदों की दृष्टि से उपसर्गों का स्वतन्त्र अर्थ मानता है। यास्क ने गार्ग्य का मत लिखा है—

उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः। तद् य एषु पदार्थः, प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम्। १।३॥

अर्थात्—[उपसर्गों के] उच्च अवच=अनेक प्रकार के अर्थ होते हैं। जो इनमें अर्थ है, कहते हैं ये उस नाम और आख्यात के अर्थविकार को।

इस दृष्टि से पतञ्जलि ने भी लिखा है—

उपसर्गाः पुनरेवमात्मकाः, यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेष-माहुः। यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधनां क्रियामाहुः।५।२।२८॥

अर्थात्—उपसर्गों का ऐसा स्वभाव है, जहाँ कोई क्रियावाची शब्द प्रयुक्त होता है, वहाँ उस क्रिया की विशेषता कहते हैं,[1] और जहाँ क्रियावाची शब्द प्रयुक्त नहीं होता वहाँ साधन सहित क्रिया को कहते हैं।[2]

उपसर्ग अर्थ की विशेषता उत्पन्न करता है। अतः कहा है—

उपसर्गो विशेषकृत्। वाज० प्रा० ८।५४॥

प्रश्न—जो निपात अनर्थक माने गये हैं उनकी पद संज्ञा कैसे होगी?

उत्तर—वस्तुतः कोई भी निपात अनर्थक नहीं है। निरुक्त आदि में जिन्हें अनर्थक कहा है, वह स्थूल दृष्टि से है। उनका सूक्ष्म अर्थ जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

अन्तिम निष्कर्ष—इस प्रकार अर्थवान् ही पद संज्ञक होता है, यह स्पष्ट है। सृष्टि बनते समय शब्द-ध्वनियों की उत्पत्ति के साथ ही उनके द्वारा कहे जाने वाले पदार्थ भी उस समय प्रकट हुए।

जैस्पर्सन का मत—संसार की वर्तमान अवस्था में आबालवृद्ध के ज्ञान में शब्दार्थ का अविभाज्य सम्बन्ध होता है। यथा—

To the child, as well as to the grown-up, the two elements, the outer, phonetic element, and the inner element, the meaning, of a word are indissolubly connected.

(Jesperson, p. 113.)

अर्थात्—शब्दों के बाह्य और आन्तरिक दो अंश होते हैं। बाह्य अंश ध्वनि और आन्तरिक अंश अर्थ। इन दोनों का अविभाज्य सम्बन्ध है।

पदों का चित्रण—ब्लूमफील्ड का मत है कि सर्वप्रथम words (=पद)

---

१. **जैसे—'गच्छति' के साथ 'आ' उपसर्ग जोड़ने से उसका अर्थ 'आना' होता है, 'उप' जोड़ने से समीप आना, 'सम्' जोड़ने से इकट्ठा होना।**

२. **यथा—'निर्वाराणसि' पद में निर्' 'निष्क्रान्त,' प्राध्यापक तथा प्रपितामह (पड़दादा) में 'प्र' 'प्रकृष्ट' अर्थ को घोषित करता है।**

ही भाषागत इकाइयाँ थीं, जो चित्रित की गईं। वाक्य आदि का लेखबद्ध होना उत्तरकाल में हुआ—

Apparently, *words* are the linguistic units that are first symbolized in writing. (p. 285.)

पर विकास मतस्थ के अनुसार आदि में शब्दों के साथ उनके अर्थ समाज के समझौते द्वारा जोड़े गये। पतञ्जलि और व्याडि ने इस मत पर आक्षेप किया है। उसका उत्तर विकास मतानुयायी के पास नहीं।

पदों में विकार

शब्द अथवा साधु शब्द—प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में 'शब्द' पद का व्यवहार केवल साधु शब्दों के लिए हुआ है। यथा—

(क) **अथ शब्दानुशासनम्। केषाँ शब्दानाम्। लौकिनानाँ वैदिकानाँ च।**

अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य के प्रारम्भ में।

(ख) **शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः। संग्रह।**[1]

अर्थात्—अपभ्रंश [रूप] शब्द-मूलक होते हैं।

अर्थात् साधु शब्दों के विकृत रूप अपभ्रंश कहाते हैं।

(ग) **अथवा बहवोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दाः।**

अर्थात्—बहुत अपशब्द हैं, थोड़े [साधु] शब्द।

इन प्रयोगों में निश्चय ही 'शब्द' पद साधु शब्दों के लिए प्रयुक्त हुआ है। महाभाष्य के वचन में यह बात सर्वथा स्पष्ट है।

असाधु शब्दों के पर्याय

इसलिए साधु शब्दों से इतर जितने शब्द हैं उनके लिए शब्द के साथ कोई-न-कोई विशेषण प्रायः लगाया जाता है। यथा—

१. **दुष्ट शब्द**—महाभाष्य में पतञ्जलि ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।

अर्थात्—स्वर=उदात्तादि और वर्ण से मिथ्या=अशुद्ध प्रयुक्त दुष्ट शब्द उस (अभिप्रेत) पदार्थ को नहीं कहता [जिसके लिए उसका उच्चारण किया जाता है]।

२. **अपशब्द**—महाभाष्य में किसी प्राचीन लुप्त ब्राह्मण का वचन उद्धृत है—

(क) **म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः।**

---

१. वाक्यपदीय की भर्तृहरि की स्वोपज्ञ टीका काण्ड १ में उद्धृत वचन।

अर्थात्—म्लेच्छ वचन है जो यह अपशब्द है।

(ख) **नापशब्दं पठेत् तज्ज्ञः** ।भरत नाट्य १७।१४६ ।।

अर्थात्—उसको जानने वाला अपशब्द न पढ़े।

(ग) **आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य**···। महाभाष्य में उद्धृत श्रौतवचन।

अर्थात्—आहिताग्नि पुरुष अपशब्द का प्रयोग करके···।

(घ) **अथवा भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दाः** । महाभाष्य

अर्थात्—अधिक हैं अपशब्द, थोड़े है शब्द।

(ङ) **लिंगवचनकालकारकाणामन्यथाप्रयोगोऽपशब्दः** ।

अर्थशास्त्र अ० ३१ आदितः।

अर्थात्—लिंग, वचन, काल और कारक का अन्यथा प्रयोग अपशब्द कहाता है।

दाशरथि राम का समकालिक और वेद का प्रवचनकर्ता महर्षि वालमीकि लिखता है—

(च) **बहु व्याहरताऽनेन न किंचिदपशब्दितम्** ।

रामा० कि० ३। २९।। दा० सं०।

अर्थात्—बहुत भाषण करते हुए इस हनुमान् ने नहीं कुछ भी अपशब्द का उच्चारण किया।

भारतीय इतिहास को न समझ कर पक्षपाती पाश्चात्य लेखकों ने उपलब्ध रामायण का काल ईसा से ४०० वर्ष पहले का माना है। यह सर्वथा भ्रान्त मत है।

३. **अपभ्रष्ट**—इस शब्द का प्रयोग विष्णुधर्मोत्तर खण्ड ३ अ० ३ में उपलब्ध होता है—

अपभ्रष्टं तृतीयं च तदनन्तं नराधिप ।

अर्थात्—हे राजन् तीसरा रूप अपभ्रंश है, वह अनन्त है।

संसार की सम्पूर्ण अपभाषाओं में अपभ्रंश कितने रूपों में हुए, यह गिनना कठिन है।

४. **अपभ्रंश**—असाधु अथवा दुष्ट शब्द के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का भी व्यवहार होता है। यथा—

(क) **अपभ्रंश इव एष यज्ज्यायसः स्तोमात् कनीयांसं स्तोममुपयन्ति** ।

ताण्ड्य ब्रा० १४।४।३।।

अर्थात्—अपभ्रंश के समान है वह जो बड़े स्तोम से छोटे स्तोम को प्राप्त होते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ के इस वचन में अपभ्रंश को साधु शब्द से हीन माना है। उस काल में अपभ्रंश शब्द प्रचलित थे।

(ख) **शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः** । संग्रह ।

अर्थात् – शब्दमूलक अपभ्रंश होते हैं ।

व्याडी के अनुसार संस्कृत में पदों की शब्द संज्ञा भी होती है ।

(ग) **एकैकस्य गोशब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्येवं बहवोऽपभ्रंशाः** । महाभाष्य ।

अर्थात्—एक गो शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि बहुत अपभ्रंश हैं ।

(घ) वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका में भर्तृहरि ने एक प्राचीन वचन उद्धृत किया है—

नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतन्त्रः कश्चन विद्यते । वाक्य० पृ० १३४ ।

अर्थात्—बिना प्रकृति=मूल के कोई स्वतन्त्र अपभ्रंश नहीं है ।

टिप्पण—इस वचन का साक्षात् अभिप्राय है कि संसार की विभिन्न भाषाओं में जो अपभ्रंश हैं उनका मूल प्राचीनतम संस्कृत भाषा अथवा अति-भाषा में अवश्य मिल सकता है ।

(ङ) **शब्दः संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते ।**
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम् ॥

वाक्यपदीय १।१४८॥

अर्थात्—जो शब्द संस्कार से हीन हो और गौ इस प्रयोग की इच्छा में विशिष्ट अर्थ में वर्तमान अन्य 'गोणी' आदि शब्द उच्चारण किए जाएँ, उनको अपभ्रंश कहते हैं ।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में अपभ्रंश शब्द असाधु शब्द का पर्याय था । भर्तृहरि के पूर्व वचन से विदित होता है कि अपभ्रंश दो प्रकार से होता है—

१. एक वर्णादि के दुष्ट उच्चारण से, तथा

२. दूसरा अन्यार्थक शब्द के स्थान पर अन्यार्थक शब्द के प्रयोग से ।

३, ४. अपभ्रंश शब्द का औत्तरकालिक अर्थ—उत्तर काल में अपभ्रंश शब्द केवल असाधु पदों के लिए प्रयुक्त नहीं रहा, परन्तु विशिष्ट विकृत एक भाषाविशेष का द्योतक हो गया ।

महाभाष्य के पूर्वोद्धृत उद्धरण में अपभ्रंश शब्द अपभ्रंश भाषा के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसा कई लोगों का कथन है, परन्तु हमारा विचार है कि महाभाष्य में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग असाधु प्रयोग के लिए हुआ है और असाधुत्व भी प्रथम तीन 'गावी', गोणी, गोता, शब्दों में अर्थ की दृष्टि से और 'गोपोतलिका' में अर्थ और उच्चारण-दोष दोनों कारणों से है ।

५, ६. **अपभाष, म्लेच्छ**—शब्द के अन्यथा प्रयोग के लिए म्लेच्छ और अपभाष क्रियाओं का व्यवहार होता है। यथा—

तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै।

अर्थात्—इसलिए ब्राह्मण को म्लेच्छ=सम्मिश्रित उच्चारण अथवा अपभाषण नहीं करना चाहिये।

७, ८. **आसुरी वाक्, राक्षसी वाक्**—ऐतरेय ब्राह्मण ६। ५, ७ में अपभ्रंश वाक् को इन दो नामों से भी स्मरण किया है।

असुरों और राक्षसों के अपने-अपने देश थे। असीरिया आदि असुर देश थे। उनकी भाषा अतिभाषा के साधु पदों का अपभ्रंश थी।

पद विकारों के नाम कह दिये। अब आगे वाक्य का विषय चलता है।

वाक्य और उसका स्वरूप

प्राचीन शास्त्रों में वाक्य के विविध लक्षण उपलब्ध होते हैं। यद्यपि प्रत्येक ग्रन्थकार ने अपना-अपना शास्त्रोपयोगी वाक्य लक्षण लिखा है, तथापि उनमें कतिपय लक्षण सामान्य हैं और कतिपय केवल पारिभाषिक। आगे वाक्य के कुछ सामान्य लक्षण लिखते हैं—

१—अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्, साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्।

मीमांसा २।१।४६॥

अर्थात्—जितने पदों से एक अर्थ कहा जाए, अथवा जितने पदों का एक प्रयोजन के लिए उच्चारण हो, वह वाक्य कहाता है। यदि उसमें से एक पद का भी विभाग (=पृथक्करण) कर दिया जाये तो वह साकांक्ष हो जाता है। अर्थात् वाक्य का पदसमूह निराकांक्ष होना चाहिये।

२—तेषां वाक्यं निराकांक्षम्। कात्यायन श्रौत १।३।२॥

अर्थात्—उन याजुष मन्त्रों का निराकांक्ष पद समुदाय वाक्य कहाता है।

३—पदसंघातजं वाक्यम्। संग्रह[1] तथा बृहद्देवता २।११७॥

अर्थात्—पदसमूह से उत्पन्न वाक्य होता है।

४—पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तौ। अर्थशास्त्र अ० ३१ आदि से।

अर्थात्—पदों का समूह वाक्य होता है, जिसमें अर्थ अच्छे प्रकार समाप्त हो।

५—संहत्यार्थमभिदधति पदानि वाक्यम्। शाबरभाष्य ३।३।१४॥

अर्थात्—मिलकर अर्थ को कहने वाले पद वाक्य कहाते हैं।

---

१. **वाक्यपदीय विवरण के टीकाकार वृषभदेव के वचनानुसार यह व्याडि-प्रोक्त संग्रह का वचन है। देखो वाक्यपदीय, भाग १ पृष्ठ ४३।**

६—**पदानां तु [अन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षा संहतिः] वाक्यम् ।**

प्रमाणनय-तत्त्वालोकालंकार ४।६॥

अर्थात्—एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले पदों का जो निरपेक्ष समुदाय है, वह वाक्य कहाता है ।

इनके अतिरिक्त महाभाष्य २।१।१। और वाक्यपदीय २।१–२ में अनेक वाक्य-लक्षण मिलते हैं । वाक्यपदीय में वाक्य लक्षण के आठ पक्ष दर्शाए हैं । ये अपने शास्त्रीय कार्य की दृष्टि से हैं । अतः नहीं लिखे गये ।

वाक्य की प्रधानता

स्थूल दृष्टि से वर्णों का एक संघात स्वरभेद से भिन्न अर्थवाला हो जाता है । अभिधा, व्यंजना और लक्षणा आदि वृत्तियों से एक ही पद अनेकार्थ हो जाता है । अतः कहाँ पर उस पद का क्या अर्थ समझा जाए, यह तभी ज्ञात होता है, जब उसका वाक्य में प्रयोग हो । इसलिए अर्थ की दृष्टि से पद की अपेक्षा वाक्य की प्रधानता है । आचार्य व्याडि ने अपने संग्रह ग्रन्थ में लिखा है—

पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ।[1]

अर्थात्—पदों के रूप और अर्थ का ज्ञान वाक्यार्थ से ही जाना जाता है ।

इसमें कारण है । जब एक ही शब्द के तीन चार अर्थ होते हैं, तो प्रत्येक अर्थ का ज्ञान वाक्य से ही होता है । अतः पद की अपेक्षा भी वाक्य प्रधान है ।

पंजाबी के मुच्छ शब्द से स्पष्टीकरण—अपभ्रंश पदों का मूलरूप जानने में भी वाक्य का साहाय्य अत्यधिक है । यथा—नाई मुच्छ कटदा है । अर्थात् श्मश्रु काटता है । धूर्त ने भोले आदमी नूं मुच्छ लया । अर्थात्—मुष-स्तेये के अनुसार, ठग लिया ।

इसी विचार से यास्क ने अकेले अर्थात् असहाय, अथवा प्रकरणादि विरहित पद के निर्वचन करने का निषेध किया है—

नैकपदानि निर्ब्रूयात् । निरुक्त ।

निर्वचन अर्थ के अनुसार किया जाता है और अकेला पद अपने विशिष्ट अर्थ के द्योतन करने में असमर्थ होता है । इस कारण अकेले पद का निर्वचन नहीं करना चाहिये ।

वायुपुराण में भी इस आवश्यक बात का स्मरण कराया गया है । यथा—

तथा निर्वचनं ब्रूयात् वाक्यार्थस्यावधारणम् ।५९।१३४॥

अर्थात्—पद का वैसा निर्वचन करे, जैसा वाक्यार्थ में निश्चय हो ।

भर्तृहरि ने भी लिखा है—

---

१. **संग्रहेऽप्युक्तम् । वाक्यपदीय विवरण, भाग १, पृष्ठ ४२ ।**

व्युत्पत्तौ वाक्यस्थं पदम् । वाक्य० भाग० १ पृष्ठ ४३ ।

अर्थात्—व्युत्पत्ति करते समय पद को वाक्यस्थ जानना चाहिये। वाक्य में पदों का प्रयोग देखकर उसकी व्युत्पत्ति करनी चाहिये। क्योंकि अर्थ-भेद से व्युत्पत्ति में भिन्नता होती है।

यास्क के निर्वचन—सेण्ट पीटर्जबर्ग संस्कृत कोष में यास्क के निर्वचनों की जो अशुद्धियाँ दिखाई गई हैं, वे इसी तत्त्व को न समझकर दिखाई गई हैं। यास्क के सम्पूर्ण निर्वचन अर्थनिर्वचन हैं, व्युत्पत्तियाँ मात्र नहीं हैं।

अत: स्मरण रखना चाहिये कि यास्क के निर्वचन अधिकाँश अर्थ-निर्वचन हैं, शब्द व्युत्पत्तियां नहीं। यह बात यास्क और उसके वृत्तिकार दुर्ग (सम्वत् ५०० से पूर्व) ने पूर्ण स्पष्ट कर दी है।

नाम पदों के अर्थों का ही निश्चय वाक्य से नहीं होता, प्रत्युत अनेक स्थानों में क्रिया पदों के अर्थों का निश्चय भी वाक्य से होता है। यथा—

बीजान् वपति। केशान् वपति।

पहले वाक्य में 'वपति' का अर्थ बोना है और दूसरे में काटना।

धातु और पद—योरोप के मैक्समूलर आदि धातु को प्रमुख मानते हैं। अरविन्द घोष जी भी इसी ओर झुकाव रखते हैं। पर अनेक भारतीय आचार्य धातु को उत्तर कालीन कल्पना मानते हैं। उनके पक्ष में पद अथवा मन्त्र ही वाणी का मूल थे।

छठा व्याख्यान

शब्दार्थ सम्बन्ध तथा अर्थपरिवर्त्तन आदि

(Semantics)

१. **सीमैण्टिक्स का लक्षण**—यह शब्द ग्रीक भाषा के semantikos का विकार है। इसका ग्रे महाशय का लक्षण निम्नलिखित है—

Semantics, deals with the evolution of the meanings of words and with the reasons for their survival, decay, disappearance, and sometimes, revival, as well as with the causes of creation of new words.[1]

अर्थात्—सीमैण्टिक्स का कार्यक्षेत्र शब्दों के कार्यों के विकास, तथा उनके अर्थों के बचे रहने, ह्रास और लोप, तथा कई बार उनके पुनरुद्धार से है, तथा उन हेतुओं से भी जिनके द्वारा नये शब्द उत्पन्न होते हैं।

ब्लूमफील्ड निम्नलिखित रूप से अपना भाव प्रकाशित करता है—

semantics is the study of meaning.........If one studies speech-forms and their meanings, semantics is equivalent to the study of grammar.[2]

अर्थात्—अर्थ का अध्ययन सीमैण्टिक्स है।.........यदि कोई वाणी के रूपों और अर्थों का अध्ययन करता है तो सीमैण्टिक्स व्याकरणाध्ययन के तुल्य हो जाता है।

२. **यूरोप में इस अध्ययन का आरम्भ**—इस विषय में स्टुर्टिवण्ट लिखता है—

One of the first linguistic problems to attract the attention of the thinkers of ancient Greece was this: Do the meanings of words belong to them inherently and naturally, or have men merely agreed to attach certain meanings to certain words.[3]

अर्थात्—प्राचीन यूनान के भाषा विचारकों का ध्यान इस ओर गया। क्या शब्दों का अर्थ उन्हीं में निहित और स्वाभाविक है अथवा लोगों ने समझौते से विशेष शब्दों के विशेष अर्थ जोड़ दिये हैं।

समीक्षा—यूरोप में classical prejudice (यूनान से सारी विद्या के आरम्भ का पक्षपात) के कारण यूनान से परे देखने का स्वभाव नहीं है।

---

1. p. 249.   2. p. 513.   3. p. 24.

सत्य है, योरोप में प्रस्तुत विषय का विचार यूनान से ही आरम्भ हुआ था। पर संसार के इतिहास की दृष्टि से यूनान के विचारकों से सहस्रों वर्ष पूर्व भारत के विचारकों ने इस प्रश्न पर गम्भीर विचार व्यक्त कर दिये थे। व्यास, व्याडि, पतञ्जलि प्रभृति मुनि इस पर बहुत प्रकाश डाल चुके थे। पतञ्जलि ने व्याडि के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है। उसका कथन आगे होगा।

३. वर्तमान योरोपीय मत—स्टुर्टिवण्ट लिखता है—

Nevertheless it is perfectly certain that the meaning of words is not obtained by nature.........it cannot be true that a single object is naturally and inevitably named "sun" in English, *sol* in Latin, *Sonne* in German, *soleil* in French, etc. Somehow or other the meaning of each word is a matter of convention.

अर्थात्—कुछ ही हो, यह सर्वथा निश्चित है कि शब्दों का अर्थ स्वाभाविक नहीं है। ······· यह सत्य नहीं हो सकता कि एक ही पदार्थ के स्वाभाविक रूप से अंग्रेजी, लैटिन, जर्मन और फ्रेंच आदि में भिन्न-भिन्न नाम रखे जाएँ। किसी-न-किसी प्रकार से प्रत्येक शब्द का अर्थ समझौते का फल है।

समीक्षा—यह सत्य है कि एक ही पदार्थ sun (सूर्य) के लिए भिन्न-भिन्न जातियों में प्रयुक्त भिन्न भिन्न नाम स्वाभाविक रूप से नहीं पड़े। पर यह भी सत्य है कि किसी पदार्थ के विभिन्न नाम मूल भाषा के एक नामपद अथवा उसके विभिन्न पर्यायों से अपभ्रष्ट होकर पड़े हैं, convention अर्थात् समझौते से नहीं। वास्तविक प्रश्न है, मूल भाषा के पदों और अर्थों के सम्बन्ध का। जो विचारक शब्दानुकृति अथवा विस्मय बोधक प्रकार से भाषा के उद्गम का घोर खण्डन करता है, उसको स्टुर्टिवण्ट का तर्क शान्त नहीं कर सकता। भारतीय विद्वानों का मत था कि सृष्टि बनते समय हिरण्यगर्भ अथवा महदण्ड से जब पृथिवी पृथक् हुई, तो वायु और महानात्मा के योग से सलिलव्याप्त आकाश में जो आदि ध्वनि हुई, वह भूः ध्वनि थी।[1] प्राण का इस ध्वनि की उत्पत्ति में योग था। अतः भूः का स्वाभाविक अर्थ प्राण हुआ। इस ध्वनि से भूमि अस्तित्व में आई, अतः भू का अर्थ भूमि हुआ। भूमि अस्तित्व में आई अतः भू धातु का अर्थ **सत्ता** हुआ। यह भू पहला उत्पत्ति-स्थान था, अतः संस्कृत वैयाकरणों ने सम्पूर्ण धातु पाठों का आरम्भ भू से किया।

---

१. स भूरिति व्याहरत। स भूमिमसृजत। तै० ब्रा० २।२।४।२॥ इसकी विशद व्याख्या 'वैदिकवाङ्मय का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २२ संस्करण २ पर की है।

४. जब हिरैक्लिटस[1] और पतञ्जलि तथा व्याडि और व्यास शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध मानते हैं, तो वे पूर्व-निर्दिष्ट दृष्टि से मानते हैं। वे शब्दों के विषय में लिखते हैं, अपशब्दों के विषय में नहीं।

भाषा का इतिहास उसी मूल भाषा का संकेत करता है जिसमें शब्दार्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध था। उस मूल भाषा के शतशः अपभ्रंश इस समय संसार में वर्तमान हैं। ग्रे ने उनका सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित रूपों में उपस्थित किया है—

English	*beaver*	A.-Saxon	*befer*
Old Icelandic	*bjorr*	O. High German	*bibar*
Modern German	*Biber*	Cornish	*befer*
Latin	*fiber*	Lithuanian	*bebras*
Russian	*bobru*	Bulgarian	*beber*
Avestan	*bawri*		

इत्यादि सब शब्द 'भूरा रंग' अर्थ को देते थे। संस्कृत बभ्रु का मूलार्थ यही था और है। अंग्रेजी में पहले *bear* अर्थात् रीछ को brown=भूरा कहते थे। वस्तुतः beaver और bear निर्वचन की दृष्टि से समीपस्थ हैं। लिथूएनियन में beras=भूरा शब्द विशेषकर घोड़ों के अर्थ में प्रसिद्ध है।[2] इन्द्र और रुद्र के अश्व बभ्रु कहाते हैं। निरुक्त ४।१५ में भी बभ्रु पद अश्ववाची है।

बभ्रु शिव का भी नाम है। दैत्य और दानव शिवोपासक थे। अतः दैत्य देश में बभ्रु नामक एक नगर भी था। उस नाम का प्राकृत रूपान्तर बवेरु बना। असुर देशों में उसका अपभ्रंश Babylon (=बैबिलॉन) हुआ। अवेस्ता में वह 'बावरी' हुआ। अहि दानव 'बावरि' नगर का था।

५. अतः इन सब अप-भाषाओं का जो मूल था, उसके विषय में विवेचना उपादेय है। विकास मतस्थ विचारक आदि-मानव सृष्टि को अज्ञानियों का समूह मानता है। उसके लिए इस प्रश्न का और उत्तर बन ही नहीं पाता। वह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मानव-समाज के समझौते का परिणाम मानता है।

भारतीय सिद्धान्त

वैदिक विचारक विद्या के गम्भीरतम रहस्यों को समझकर आदि-मानव ब्रह्मा और सप्तर्षियों को परम ज्ञानी मानते हैं। तनिक विचारो,

१. यूनान में Analogists विश्वास रखते थे कि language was natural. (Bloomfield, p. 4) अर्थात् भाषा स्वाभाविक थी। यह सत्य उन्होंने भारतीय व्याकरण आगम से सीखा था।

२. ग्रे, पृ० २४९, २५०।

वर्तमान सारा ज्ञान भी महान् आत्मा की विभूति का फल है। उसी महान् आत्मा से अपने मन के संयोग द्वारा उन महान् ज्ञानियों ने आकाश में स्थिर भौतिक नियमों के अनुसार व्याप्त होने वाली श्रुति को सुना। उस श्रुति और उससे लिये गए लोक के शब्दों में शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य था। तत्त्ववित् व्याडि ने इस दृष्टि से कहा था—

६. **सम्बन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः ।**
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात् कृतः कथम् ॥

अर्थात्—लोक और वेद के शब्दार्थों के सम्बन्ध का (कोई) कर्ता नहीं है। शब्दों द्वारा शब्दों का सम्बन्ध कैसे होगा। इसमें अनवस्था दोष है।

७. इसी सम्बन्ध में कात्यायन ने कहा—

सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे । वार्तिक ।

अर्थात्—शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध नित्य हैं।

८. भाष्यकार पतञ्जलि भी इसी पक्ष का पोषक है—

किं स्वाभाविकं शब्दैरर्थाभिधानम्-आहोस्विद् वाचनिकम् ।

स्वाभाविकम् इत्याह । अर्थ-अनादेशात् । निमित्तत्वेन-अन्वाख्यानं क्रियते ।

किं पुनः कारणमर्था नादिश्यन्ते ।

(१) **तच्च लघ्वर्थम् ।**

लघ्वर्थं ह्यर्था नादिश्यन्ते । अवश्यं हि अनेन अर्थानादिशता केनचिच्छब्देन निर्देशः कर्तव्यः स्यात् । तस्य च तावत् केन कृतो येनासौ क्रियते । अथ तस्य केनचित्कृतः इत्यनवस्था ।

[संख्या ६ के अन्तर्गत व्याडि के तर्क का यह अनुवादमात्र है।]

(२) **असंभवः खल्वपि अर्थादेशनस्य ।**

(३) **अप्रवृत्तिः खल्वपि अर्थादेशनस्य ।** (२।१।१॥)

अर्थात्—क्या शब्द स्वाभाविक रूप से अर्थों को कहते हैं अथवा वाणी द्वारा समझौते से नियत किए हुए हैं? उत्तर है—यह सम्बन्ध स्वाभाविक है। आदि काल से किसी भी वैयाकरण ने अर्थों का उपदेश नहीं किया। व्याकरण में यदि कहीं अर्थ से शब्द का अनुशासन है तो वह निमित्तमात्र है।......

९. **जैमिनि का मत**—जैमिनि (३१५० वि० पूर्व) का १।१।५ में मत है कि शब्दों का अर्थों से औत्पत्तिक अर्थात् नित्य सम्बन्ध है।

मीमांसा भाष्यकार शबर स्वामी स्पष्ट करता है कि शब्दार्थ सम्बन्ध कृतक नहीं।[1]

१०. **अक्षपाद गौतम का मत**—महामुनि मेधातिथि गौतम (विक्रम से

---

१. **आनन्दाश्रम संस्करण, पृ० १७६ ।**

३५०० वर्ष से पूर्व) ने न्याय सूत्र २।१।५०-६९ तक शब्द प्रामाण्य की विवेचना की है। उसमें २।१।५६ पर वात्स्यायन मुनि लिखता है—

सामयिकः शब्दार्थसम्प्रत्ययः

अर्थात्—शब्द और अर्थ का ज्ञान सामयिक=सांकेतिक है।

इसका तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध तो विद्यमान होता है, परन्तु उसका ज्ञान विना संकेत के नहीं होता। अनेक नैयायिकों के मत में सृष्टि के आदि में इस संकेत का बताने वाला ईश्वर है।

सामयिक का अर्थ यह भी होता है, जो समय=परस्पर प्रतिज्ञा के अनुसार हुआ। शब्द और अर्थ की यह प्रतिज्ञा सृष्टि बनते समय स्वाभाविक हुई।

११. कणाद का मत—यही मत इन्हीं शब्दों में वैशेषिक सूत्र ७।२।२० में भी है।

१२. योग के व्यासभाष्य का मत—योगसूत्र १।२७ के व्यास भाष्य में लिखा है—

किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वम्, अथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितम्। स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते-अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति।

अर्थात्—क्या शब्द और अर्थ का वाच्यवाचकत्व सम्बन्ध सांकेतिक है अथवा प्रदीप प्रकाश के समान स्वतःसिद्ध है। वाच्य का वाचक के साथ सम्बन्ध स्थित=स्वतःसिद्ध है। ईश्वर का संकेत [सृष्टि के आरम्भ में] पूर्वतः स्थित शब्दार्थ को स्पष्ट करता है। जैसे लोक में पिता पुत्र का पूर्वतः विद्यमान स्वाभाविक सम्बन्ध, 'यह इसका पिता है', 'यह इसका पुत्र है' इन संकेतों से द्योतित कराया जाता है। संकेत से पिता पुत्र सम्बन्ध बनाया नहीं जाता।

इस शब्द का यह अर्थ है, यह सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर प्रेरणा से आदि ऋषियों को ज्ञात होता है। उत्तरकाल में शास्त्रव्यवहार और आप्तोपदेश से गृहीत होता है। कुछ शब्दार्थ सम्बन्ध अनित्य भी होता है। यथा कृत्रिम संज्ञाओं और उनके वाच्यों का। अपभ्रंश भाषाओं में शब्दार्थ सम्बन्ध अनित्य है।

निष्कर्ष—जिस प्रकार वर्तमान अवस्था में भी बालक को शब्दों के अर्थों से परिचित कराया जाता है, 'यह गौ है', 'यह गौ है', ऐसा कह कर। उसी प्रकार लोक में शब्दों का संकेत कृतक है। और इसी प्रकार वैदिक पदों का

अर्थ ऋषि-बुद्धियों में ईश्वर प्रेरणा के संकेत से स्फुरित हुआ। वस्तुतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक है।

अपभ्रंशों में अर्थ—मूल शब्द के कारण से ही अपभ्रंशों में भी बुद्धि में अर्थ सरकता है।[1]

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कह दिया। अब अर्थ की महत्ता के विषय में संक्षेप से लिखते हैं।

अर्थ की महत्ता—मानवों में अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए ही वाक् अथवा भाषा की प्रवृत्ति हुई। अर्थ रहित वाणी व्यर्थ है। ऋ० १०।७१।५ में अर्थ रहित वाक् को **अफलामपुष्पाम्** कहा है। इस पर यास्क लिखता है—**अर्थं वाचः पुष्पफलमाह**। (निरुक्त १।२०) अर्थात् अर्थ ही वाणी का पुष्प और फल है।

बृहद्देवता (विक्रम से २६०० वर्ष पूर्व) में शौनक का भी ऐसा मत है—

प्रधानमर्थः शब्दो हि तद्गुणायत्त इष्यते। २।६६॥

अर्थात्—अर्थ प्रधान है शब्द उसके अधीन है।

पद-लोप के कारण

शब्दार्थ विषयक दोनों मत कह दिए। अब पदों के लोपादि कहते हैं।

१. भाषा का इतिहास बताता है कि समय की गति के साथ भाषाओं में से अनेक पदों का लोप होता रहता है। इसके निम्नलिखित प्रकार हैं—

(क) **पर्यायों में एक अवशिष्ट**—अति प्राचीन काल से संस्कृत में माता और अम्बा दो पर्याय शब्द प्रयुक्त होते रहे। हिन्दी में आज भी माँ और अम्माँ उन दोनों के अपभ्रंश व्यवहृत होते हैं। परन्तु संसार की अनेक जातियों ने उनमें से एक-एक शब्द ही अपनाया। यथा—

ग्रीक—Meter, लैटिन—Mater, Lith.—Mote, Slav—mati, जर्मन—Mutter और अंग्रेज़ी—Mother रह गए। ये संस्कृत मातृ शब्द के विकार हैं।

इसके विपरीत अम्बा के विकार अरबी में उम्म और तामिल में अम्मा ही रहे।

संस्कृत में अश्व, और घोटक पर्याय थे और घोड़े के हिनहिनाने शब्द के लिए ह्रेस का और घोड़े के लिए ह्रेषी का प्रयोग होता था। इनके अपभ्रंश फारसी में अस्प, हिन्दी में घोड़ा और अंग्रेजी में horse मात्र रह गए।

बृहदारण्यक में अद्वितीय तथ्य—बृहदारण्यक में लिखा है—

हय इति देवान्, अर्वा इत्यसुरान्, वाजीति गन्धर्वान्। अश्व इति मनुष्यान्। १।१।२॥

अर्थात्—इन्द्रादि देवों में हय शब्द, असुरों में अर्वा, गन्धर्वों में वाजी और भारतीय मनुष्यों में अश्व शब्द प्रयुक्त होता था।

बृहदारण्यक का प्रवचन विक्रम से ३२०० वर्ष पूर्व हुआ। उससे भी प्राचीन काल में अश्व शब्द के पर्यायों में से भिन्न-भिन्न जातियों में एक-एक पर्याय रह गया था।

अरब देश—अरब देश के अश्व आज भी प्रसिद्ध हैं। अतः संस्कृत के अर्वा पद से देश के नाम का सम्बन्ध हो सकता है।

यास्क (३२०० वि० पू०) और पतञ्जलि (१२०० वि० पू०) का साक्ष्य—इनके मतानुसार एकार्थक गम, शव, रंह और हम्म धातुओं में से आर्यों में केवल गम का, कम्बोज निवासियों में शव का, प्राच्यों में रंह का और सौराष्ट्र में हम्म का प्रयोग होता था।

वस्तुतः एक-एक जाति में एक-एक पर्याय रह गया। वर्तमान पाश्चात्य भाषाविद् कम्बोजों (दरदों के एक भाग) को ईरानी भाषा-वर्ग में रखते हैं। यास्क के साक्ष्य के सम्मुख यह कथन असत्य है। कम्बोज आर्यों के वंशज और संस्कृत-भाषी थे।

पर्याय-विषय में स्टुर्टिवण्ट लिखता है—

Unless synonyms come to be differentiated in meaning, one of them is usually lost. (p. 99]

अर्थात्—जब पर्यायों के अर्थों का पार्थक्य सुविदित न रहे तो उनमें से प्रायः एक नष्ट हो जाता है।

अधिक युक्त होता, यदि स्टुर्टिवण्ट लिखता कि एक पर्याय रह जाता है।

अपभ्रंशों में यह नियम प्रायः सत्य दिखाई देता है।

(ख) अप्रयुक्त पदार्थवाची शब्दों का लोप—पदार्थों के प्रयोग में न रहने से उनके द्योतक शब्द लुप्त हो जाते हैं। पहले दीपक जलते थे। पर अब विद्युत् के प्रयोग के कारण इस पुरातन दीपक का अभाव-सा होने लगा है। अब काच-प्रदीप चलेगा।

(ग) नये धार्मिक प्रभाव—जब पुराने विश्वासों पर नये धार्मिक प्रभाव पड़ते हैं, तो पुराने विश्वासों के बताने वाले अनेक शब्द लुप्त हो जाते हैं। जब यज्ञ होते थे, तब दर्वी (कड़छी) शब्द का सदा प्रयोग होता था। अब यह शब्द लुप्त-प्राय है।

(घ) शासन प्रकार के बदलने से पद-लोप—कौटिल्य अर्थशास्त्र १।१२ में

राजा के अठारह तीर्थ-स्थान कहे हैं। पुरातन शासन उनके द्वारा चलता था। उस रीति के बदलने पर आज उनका प्रयोग सर्वथा अज्ञात हो चुका है। यथा, प्रशास्ता, समाहर्ता आदि अनेक ऐसे शब्द हैं, जिनका पूरा-पूरा अर्थ भी आज सब नहीं समझते। मुसलमानी राज्य के पश्चात् आसन्दी (=कुर्सी) शब्द लुप्त हो गया। प्रधान मन्त्री के चुने जाने के पश्चात् 'राजा' पद का शनैः-शनैः व्यवहार में लोप होने लगेगा।

उपसर्गयोग से अर्थभेद—संस्कृत के विद्वान् इस भेद को भले प्रकार से जानते हैं। एक ही धाञ् धातु से भिन्न अर्थ वाले—विधान (करना), अभिधान (कहना), सन्धान (मेल) और निधान (कोष) शब्द बने हैं।

अर्थ-परिवर्तन = उत्सृष्टस्वार्थ =

अर्थान्तरवर्तन[1]

ब्लूमफील्ड ने नौ रूपों का विभाग लिखा है।[2] उनमें से निम्नलिखित रूप विशेष-ध्यान योग्य हैं।

१. Narrowing (**अर्थ संकोच**)—पहले मृग का अर्थ सामान्य पशु था। अब हरिण अर्थ ही रह गया है। इसी प्रकार रुद्र का अर्थ विद्युत् और शिव था, अब शिव मात्र है।

२. Widening (**अर्थविस्तार**)—कभी तैल का अर्थ तिलों का तेल था। अब तिल, सरसों, मूँगफली, नारियल सबके तेलों के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है। इसी प्रकार कुशा लाने वाला कुशल था। अब सब काम में चतुर कुशल है। इसी प्रकार पहले प्रवीण शब्द वीणा बजाने में प्रकृष्ट का वाचक था। अब सब काम में चतुर को प्रवीण कहते हैं।[3]

३. Metaphor or analogy (**अर्थादेश**)—यहां पूर्वकाल का अर्थ लुप्त हो जाता है। 'पर' पद पहले पक्षी के पक्ष अर्थ में ही था। लोग इससे लिखते थे, अतः प्रत्येक लेखयोग्य पदार्थ परा कहाया। पुनः कलम को भी परा कहने लगे। पहले दिशा जाना साधारण गमन के अर्थ में था। पुनः शौचार्थ बाहर जाने के अर्थ में रह गया।

---

१. निरुक्त २।१ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

उत्सृष्टस्वार्थ-अभिधेयसम्बन्धाः सन्तः क्रिया-गुण-सामान्य-हेतुम-त्रमाश्रि-त्यान्येषु-अर्थान्तरेषु वर्तन्ते।

२. पृष्ठ ४२६, ४२७।

३. अधिक विस्तार देखो, निरुक्त २।१ पर दुर्गकृत निरुक्तवृत्ति में।

४. Hyperbole गुणहीनता (गुरुतर अर्थ से निर्बल अर्थ की ओर)—
अभियुक्त — प्राचीन अर्थ, प्रामाणिक पुरुष।
— नवीन अर्थ, अपराधी।
महाब्राह्मण— श्रेष्ठ ब्राह्मण।
— निकृष्ट ब्राह्मण, मृतक के वस्त्रादि लेने वाला।

५. Litotes (निर्बल अर्थ से गुरुतर की ओर)—कोष्ठ शब्द संस्कृत में पेट के मध्य भाग के लिए प्रयुक्त होता था। फिर बड़े कमरों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। पंजाबी में कोठे का अर्थ ऊपर की छत हो गया।

६. Degeneration **क्रियाहीनता (अर्थापकर्ष)**—पहले श्रेष्ठ अर्थ रहना और उत्तरकाल में उसका निकृष्ट अर्थ हो जाना। यथा गुरु शब्द का अर्थ आदर का भाव रखता है। फिर—आप भी गुरु निकले, गुरु का अर्थ चालाक हो गया। महाराज शब्द सम्राट् अर्थ में था। अब पानी पिलाने वाले को भी महाराज कहते हैं। अंग्रेजी में पहले boy शब्द का अर्थ लड़का था, अब इस का 'नौकर' अर्थ भी है।

७. Elevation (**अर्थोत्कर्ष**)—अर्थ का उच्चता की ओर जाना। गोस्वामी अथवा गोसाईं शब्द पहले केवल गो के स्वामी के अर्थ में था। अब प्रभु अथवा सम्पन्न के अर्थ में प्रयुक्त होता है। रेल शब्द पहले केवल लोहे की पटड़ी के अर्थ में था। अब रेलगाड़ी के अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है।

परिवर्तन में परिस्थितियों का स्थान

१. समाज की स्थिति पद-परिवर्तन का कारण बनती है। मुसलमानी काल में गन्दी-गालियां बहुत थीं। पोलिस के लोग गालियाँ बहुत निकालते थे। अब भी पोलिस के अनेक लोग ऐसा करते हैं। पर गालियों के प्रति अब घृणा हो रही है। सभ्यता का स्तर पुनः बढ़ने पर इनका अभाव दिखाई देगा।

२. संस्कृति के शब्द आदान-प्रदान का फल हैं। अंग्रेजी का शब्द muslin मलमल का वाची है। यह मलमल मसूलीपटम के बन्दर स्थान से भारत से इंगलैण्ड जाता था। मसूलीपटम का रूपान्तर muslin और पुनः मलमल बना। संस्कृत का कर्पूर शब्द फारस आदि में सांस्कृतिक कारण से काफ़ूर बना। संस्कृत में बुद्ध शब्द था। बुद्ध की मूर्तियाँ बनती थीं। वे अरब और फारस तक पहुँचीं। उनसे बुत शब्द प्रस्तर मूर्ति के लिए वहाँ बना।

३. अर्थ परिवर्तन में मन का विशेष योग होता है। 'पर' का लेखनी अर्थ इसी कारण हुआ है। मानसिक योग के कारण सामान्य अर्थ शनैः शनैः विशेष अर्थों में रह गए हैं।

ग्रे लिखता है—

For the most part, the meanings of words, at first general, and perhaps vague tend to become more and more specific.

(p. 252.)

अर्थात्—अधिकांश अवस्थाओं में शब्दों के अर्थ पहले सामान्य और कदाचित् अस्पष्ट भी थे। शनैः शनैः वे अधिकाधिक विशिष्ट अर्थ देने लगे।

समीक्षा—'कदाचित् अस्पष्ट'। ऐसी घटना संस्कृत भाषा में नहीं घटी।

अरविन्दजी ने इसे अधिक स्पष्ट और वैज्ञानिक रूप से प्रकट किया है—

We see the word वृक in modern Sanskrit used only as a noun signifying wolf; in the Veda it means simply tearing or a tearer, is used indifferently as a noun or adjective, even in its noun use has much of the freedom of an adjective and can be applied freely to a wolf, a demon, an enemy, a disruptive force or anything that tears. (p. 41)

We are prepared, therefore, to find that in the simplest and earliest forms of the Aryan tongue the use of a word was quite fluid, that a word like चित् for instance might equally mean to know, knowing, knows, knower, knowledge or knowingly and be used by the speaker without any distinct idea of the particular employment he was making of the pliant vocable.

(p. 42.)

that each word, not only exceptionally but ordinarily, was capable of numerous different meanings. (p. 42.)

अर्थात्—हम देखते हैं कि वर्तमान संस्कृत में वृक शब्द नाम है और इसका अर्थ भेड़िया है। वेद में इसका अर्थ है, फाड़ना अथवा फाड़ने वाला। यहाँ यह नाम अथवा विशेषण भी बनता है। नाम होते हुए भी इसमें विशेषण का अर्थ कहने की स्वतन्त्रता है। इस प्रकार यह भेड़िया, दस्यु, शत्रु अथवा किसी भी फाड़ने वाले के लिए प्रयुक्त होता है।

आर्य भाषा के सरल और प्राचीनतम स्वरूप में शब्द का प्रयोग सर्वथा तरलावस्था में था। उदाहरणार्थ चित् का अर्थ जानना, जानने वाला, ज्ञान आदि कुछ भी हो सकता है। एक ही शब्द विशिष्ट रूप से नहीं, प्रत्युत् साधारण रूप से बहुविध अर्थों का देने वाला होता था।

जब ऐसी दशा थी, तब मनुष्य की बुद्धि कितनी अपरिमित होगी। नहीं कह सकते, शब्द अर्थ का सीमित होना ह्रास है वा विकास। बुद्धि के सीमित होते जाने से यह गति हुई है, इसमें सन्देह नहीं।

सातवाँ व्याख्यान

वर्ण विमर्श—लिपि और वर्ण उच्चारण

भाषा विद्या में वर्ण स्वरूप तथा लिपि प्रधान अंग हैं। वर्तमान देवनागरी लिपि में अनेक प्राचीन वर्णों के संकेतों का अभाव हो गया है। पर जब तक श्रति भाषा (प्राचीनतम संस्कृत भाषा) के सम्पूर्ण वर्णों तथा उनके लिपि-बद्ध संकेतों का यथार्थ ज्ञान न हो जाये, तब तक भाषा के उत्तरोत्तर ह्रास का यथार्थ इतिहास समझ में नहीं आ सकता। अतः आगे इस विषय का निदर्शन किया जाता है।

पाश्चात्य लेखकों द्वारा कल्पित भारोपीय भाषा के वर्णों की कल्पना—विज्ञान के नाम पर गप्पें हांकने वाले ईसाई-यहूदी गुट के लेखकों ने वर्णों की ऊटपटांग कल्पना की है। यथा ऊह्लनबेक आदि ने। उसका आधार तर्कहीन कल्पनाओं पर है। अत: वर्ण-विज्ञान पर यथार्थ प्रकाश डालने वाली सामग्री आगे लिखी जाती है।

वर्ण ज्ञान के आचार्य—भारत की प्राचीन परम्परा में वर्णविद् अथवा शैक्षुक आचार्यों की एक विशिष्ट श्रेणी रही है। वर्णोच्चारण शिक्षा स्वतन्त्र विद्या-स्थान मानी गई, इसे वेदाङ्गों में प्रथम स्थान दिया गया। सम्प्रति उपलभ्यमान शिक्षा ग्रन्थों में नारद शिक्षा प्राचीनतम है। भरत नाट्यशास्त्र भी अति प्राचीन ग्रन्थ है। तत्पश्चात् आपिशलि की शिक्षा का स्थान है। आपिशलि के पश्चात् तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, ऋक्प्रातिशाख्य, कौहली शिक्षा और याज्ञवल्क्य शिक्षा आदि का स्थान है। तदनन्तर पाणिनीय शिक्षा और उसके भी अनन्तर कात्यायन के प्रतिज्ञा परिशिष्ट तथा वाजसनेय प्रातिशाख्य का स्थान है।

वर्ण-संख्या—वायुपुराण २६।२८, आपिशलि शिक्षा तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र में त्रेसठ वर्णों का उल्लेख मिलता है। पाणिनीय शिक्षा में त्रेसठ अथवा चौंसठ वर्ण माने हैं। प्रातिशाख्यों में अपने-अपने चरणों में प्रयुक्त वर्णों की दृष्टि से न्यूनाधिक वर्ण गिनाये हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १।१ की वैदिकाभरण टीका में वासिष्ठी शिक्षा के मत से ६८ अक्षरों का उल्लेख किया है।

६३ संख्या की पूर्ति—सम्प्रति वर्णों की ६३ संख्या की पूर्ति स्वरों के

ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेदों को पृथक्-पृथक् वर्ण मानकर इस प्रकार की जाती है—

स्वर	२२
स्पर्श	२५
अन्तस्थ	४
ऊष्म	४
अयोगवाह[1]	८
योग	६३

२२ स्वर—स्वरों की २२ संख्या इस प्रकार गिनी जाती है—

अ इ उ ऋ के तीन-तीन भेद माने जाते हैं	४×३=१२
लृ के ह्रस्व प्लुत भेद	२
ए ऐ ओ औ के दीर्घ प्लुत भेद	४×२=८

२३ स्वर—वाजसनेय प्रातिशाख्य ८।३।५ में २३ स्वर गिनाये हैं। उनमें लृ का दीर्घ भेद भी गिना है।

१४ स्वर—वायुपुराण २६।२८ में वर्णों की ६३ संख्या मानी है। तदुपरान्त अ इ उ ऋ लृ के ह्रस्व और दीर्घ तथा ए ऐ ओ औ के दीर्घ भेद माने हैं, अर्थात् १४ स्वर गिनाये हैं। स्वरों की यही संख्या तथा इस संख्या का गणना-प्रकार ऋक्तन्त्र १।२, भरत नाट्यशास्त्र १४।८, ९ तथा कातन्त्र व्याकरण के आरम्भ में मिलता है। स्वरों की १४ संख्या मानकर वायुपुराण की ६३ संख्या कैसे पूर्ण होगी, यह अभी तक अज्ञात है।

१६ स्वर—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १।२–५ में १६ स्वर गिनाये हैं, अर्थात्—

अ इ उ के तीन-तीन भेद	३×३=९
ऋ ॠ लृ ए ऐ ओ औ	=७

२६ स्वर—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के व्याख्याता गार्ग्य गोपाल यज्व ने वासिष्ठी शिक्षा का वचन उद्धृत किया है—

लृवर्णं दीर्घं परिहाप्य स्वराष्षड्विंशतिः प्रोक्ताः

अर्थात्—लृ वर्ण के दीर्घ भेद को छोड़कर स्वर २६ कहे गये हैं।

इस वचन के अनुसार अ इ उ ऋ ए ऐ ओ औ इन ८ स्वरों के ह्रस्व,

---

१. **विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार और ४ यम, ये आठ अयोगवाह कहाते हैं।**

दीर्घ और प्लुत तीन-तीन भेद (८×३=२४) और लृ के ह्रस्व दीर्घ दो भेद मिलाकर २६ संख्या दर्शाई है।

आचार्य आपिशलि ने भी अपनी शिक्षा ६।९, १० में कहा है—

छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति । तेषामप्यष्टादशप्रभेदानि ।

अर्थात्—सामवेदियों में सात्यमुग्र राणायनीय शाखा के अध्येता सन्ध्यक्षरों (ए, ऐ, ओ, औ) के ह्रस्व भी पढ़ते हैं। उनके मत में प्रत्येक सन्ध्यक्षर के अठारह-अठारह भेद होते हैं।

अंग्रेजी में men और hen के उच्चारण में अर्ध ऐकार है। इसी प्रकार पंजाबी के 'मैंनु' के मैं में अर्ध ऐकार है।

वासिष्ठी और आपिशलि शिक्षा के वचनों की महत्ता—दोनों शिक्षाओं के उक्त वचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनसे स्पष्ट है कि पुराकाल में ए ऐ ओ औ के ह्रस्व रूप भी प्रयुक्त थे। इनके व्यापार का क्षेत्र ध्वनिनियमों की समीक्षा के समय स्पष्ट होगा।

यदि ये रूप प्राचीन संस्कृत में न होते, तो शौरसेनी आदि में कैसे होते। शौरसेनी सर्वथा अपभ्रष्ट भाषा है।

२७ स्वर—आपिशलि और पाणिनीय शिक्षा में मतान्तर से लृ का दीर्घ भेद भी स्वीकार किया है। उसको सम्मिलित करने पर स्वरों की संख्या २७ हो जाती हैं।

व्यञ्जन संख्या में मतभेद—जिस प्रकार स्वरों की संख्या में विभिन्न मत दर्शाये हैं उसी प्रकार व्यञ्जनों की संख्या में भी अनेक मत हैं। विस्तरभय से उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया।

कतिपय लुप्त वर्ण और उनके लिपि संकेत—वर्णध्वनियों का निश्चय उनके स्थान और प्रयत्न के आधार पर किया जाता है, अर्थात् स्थान और प्रयत्न के भेद से एक ध्वनि का दूसरी ध्वनि से भेद किया जाता है। इसी आधार पर हम उन कतिपय प्राचीन वर्णध्वनियों का निर्देश करेंगे, जिनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में सुरक्षित है। यथा—

(१) **सन्ध्यक्षरों के ह्रस्व भेद**—शिक्षा के उपर्युक्त वचनों से प्राचीन काल में सन्ध्यक्षरों की ह्रस्व ध्वनि का सद्भाव स्पष्ट है। इनकी ह्रस्व ध्वनि को प्रकट करने के लिए पुराकाल में लिपि संकेत भी अवश्य रहा होगा।

२—**स्पृष्ट और ईषत्स्पृष्ट द्विविध यकार**—कात्यायन परिशिष्ट २।१, २ तथा उसकी अनन्तदेव की व्याख्या से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में स्पृष्ट प्रयत्न वाला 'य' एक स्वतन्त्र वर्ण माना जाता था और उसका ईषत्स्पृष्ट 'य'

से भेद दर्शाने के लिए 'य' लिपी के नीचे अथवा मध्य में बिन्दु लगाया जाता था। इस स्पृष्ट प्रयत्न वाले यकार की ध्वनि 'ज' वर्ण से मिलती जुलती थी।[1] अतएव साम्प्रतिक माध्यन्दिनी शाखा के अध्येता स्पृष्ट प्रयत्न वाले य का ठीक उच्चारण न कर सकने के कारण 'ज' रूप से उच्चारण करते हैं।

३—स्पृष्ट और ईषत्स्पृष्ट दो प्रकार का ल—इसी प्रकार स्पृष्ट और ईषत्स्पृष्ट प्रयत्नों के भेद से लकार की भी दो प्रकार की ध्वनि थी। सम्प्रति उत्तर भारतीय जिस ल ध्वनि का उच्चारण करते हैं, वह स्पृष्टप्रयत्न वाला है। ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले ल का उच्चारण उत्तर भारतीय लोगों में लुप्त हो गया है। महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान के कुछ भाग में ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले लकार का भी उच्चारण होता है। इसके लिए महाराष्ट्री लिपि में ळ संकेत है। गुजराती लिपि में भी उसके लिए पृथक् संकेत विद्यमान है। राजस्थान की अपनी स्वतन्त्र लिपि न होने के कारण ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न से उच्चरित ल के लिये इसमें पृथक् संकेत नहीं है।

इस ळ ध्वनि और उसकी लिपि का उत्तरभारत में उच्छेद हो जाने के कारण इस ळ ध्वनि की संस्कृत के किन्हीं शब्दों में 'ड' ध्वनि में तथा किन्हीं शब्दों में 'ल' ध्वनि में परिणति हो गई और उसी के आधार पर उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने '**डलयोरेकत्वम्**' ऐसा नियम कल्पित कर लिया।

४—य व के तीन भेद—याज्ञवल्क्य शिक्षा १५५-१५६ में य व के गुरु, लघु और लघुतर तीन-तीन भेद दर्शाए हैं। अष्टाध्यायी ८।३।१८ में पाणिनि ने भी शाकटायन के मत में लघुप्रयत्नतर य् व् ध्वनि का निर्देश किया है।[2] कात्यायन के प्रतिज्ञा परिशिष्ट २।६ में व के पूर्वोक्त तीनों भेदों के लिए गुरु, मध्य और लघु नाम लिखे हैं।

बहुत सम्भव है इन विभिन्न उच्चारणों के लिए प्राचीन काल में विशिष्ट संकेत भी रहे हों।

५. अनुस्वार स्थानीय ँ के तृतीय संकेत का लोप—माध्यन्दिनी संहिता के लिखित और प्राचीन सम्प्रदायानुसार मुद्रित ग्रन्थों में थ् के दो प्रकार के संकेत उपलब्ध होते हैं। कात्यायन के प्रतिज्ञा-परिशिष्ट ३।२ में ँ के ह्रस्व, दीर्घ और गुरु तीन भेद दर्शाए हैं। उक्त सूत्र की व्याख्या में अनन्तदेव लिखता है—

अस्ति चात्र उपाधिः। संज्ञाभेदो निमित्तभेदो लिपिभेदश्च। तृतीयस्तु

---

१. **स्पृष्टप्रयत्नं स्थानैक्यात् चवर्गतृतीयसदृशं यकारं पठन्ति। अनन्तदेव प्रतिज्ञापरिशिष्ट २।२ टीका। यहाँ 'सदृश' पद ध्यान देने योग्य है।**

२. **व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्यैव।**

इदानीं प्रायशः परिश्रेष्ठः (परिभ्रष्टः), तथापि सम्प्रदायानुरोधाद् विज्ञायते ।

अर्थात्—तीन प्रकार के ऌ के भेदों में संज्ञा का भेद, निमित्त का भेद और लिपि का भेद है । परन्तु इस समय तृतीय (गुरु) ऌ का उच्चारण तथा लिपि संकेत नष्ट हो गया है । परम्परा से उसका ज्ञान होता है ।

मैकडानल को स्वल्पाभास—इस विषय में मैकडानल को भी स्वल्पाभास हुआ, पर विकासमत के कीचड़ में फँसे रहने के कारण उसे यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ । यथा—

It seems likely that the recorded Vedic dialect was descended from an Indo-Iranian one in which rhotacism had removed every *l*; but that there must have been another Vedic dialect in which I E. *r* and *l* were kept distinct, and a third in which I E. *r* became *l* throughout; (Ved. gr. for students p. 11, 12.)

प्राण शक्ति की विभिन्नता से ध्वनि भेद—प्राण के भेदों में से एक उदान नामक प्राण भी है । उसी के कारण सारा ध्वनिभेद होता है । पाश्चात्यों को इस सूक्ष्मता का ज्ञान नहीं है । अतः ध्वनिभेदों को वे यथार्थ रूप में समझ नहीं सके । महाभारत में श्लोकार्ध है—

उदानाद् उच्छ्वसिति च ध्वनिभेदश्च जायते ।

(कृत्यकल्पतरु, मोक्षकाण्ड, पृ० १११ पर उद्धृत)

६. षकार का दो प्रकार का उच्चारण—माध्यन्दिनी संहिता के अध्येता क और ट वर्ग के संयोग से रहित मूर्धन्य षकार का 'ख' उच्चारण करते हैं । वस्तुतः उनका वर्तमान उच्चारण अशुद्ध है । पुराकाल में उक्त षकार का 'ख' उच्चारण से मिलता-जुलता स्वतन्त्र उच्चारण था ।[१] 'ख' उच्चारण नहीं था ।

७. अन्य वर्णों की विभिन्न ध्वनियाँ—आपिशलि शिक्षा आदि ग्रन्थों से विदित होता है कि अनेक वर्णों के उच्चारण, स्थान और प्रयत्न विषय में अनेक विभिन्न मत हैं । एक ही वर्ण का विभिन्न स्थान और प्रयत्न से उच्चारण किया जाए तो उसमें ध्वनि-भेद अवश्य होगा । यथा—

१—अ का कण्ठ और तालु आदि समस्त स्थानों से उच्चरित रूप । (आपिशलि)

२—पदादि असंयुक्त व्यञ्जनसंबद्ध ह्रस्व अ का ईषद्दीर्घ रूप । (प्रतिज्ञा-परिशिष्ट ३।५)

---

१. **षकारो मूर्धन्यस्थानकरणपरित्यागेन अर्धस्पृष्टषकारस्थाने कवर्गीयप्रतिरूपकं खकारोच्चारणं कर्तव्यम् । प्रतिज्ञापरिशिष्ट २।१२ अनन्त-टीका । यहाँ 'प्रतिरूपक' शब्द ध्यान देने योग्य है ।**

३—ह तथा **विसर्ग** का कण्ठ और उरस्य रूप । (आपिशलि)
४—**कवर्ग** का कण्ठ्य और जिह्व्य रूप । ,,
५—**र** का मूर्धन्य और दन्तमूलीय रूप । ,,
६—**व** का दन्तोष्ठ्य और सृक्वस्थानीय रूप । ,,
इत्यादि ।

हमने ऊपर ईषत्स्पृष्ट और स्पृष्ट प्रयत्न वाले य और ल ध्वनि के भेद के लिए जिस प्रकार लिपि संकेत का पार्थक्य दर्शाया है, उसी प्रकार अकारादि वर्णों की विभिन्न ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए पुराकाल में कोई लिपिसंकेत थे अथवा नहीं, यह अज्ञात है।

यह भी सम्भव है कि उपरिनिर्दिष्ट विभिन्न ध्वनियों में कतिपय ध्वनियाँ स्वतन्त्र वर्णरूप रहीं हों और कतिपय एक हो मूल ध्वनि के देशकाल भेद से उत्पन्न ध्वनि विकार हों। यथा—एक ही अ का उच्चारण हरियाणा प्रान्तवासी ग्रामीण कहीं-कहीं इ सदृश करता है (पण्डित=पिण्डित), तो बंगाली किसी का उच्चारण ह्रस्व **ओ** सदृश करता है।

पूर्व निर्दिष्ट विभिन्न वर्णसंख्या तथा वर्णों के विभिन्न उच्चारण भिन्न-भिन्न समयों की परम्परा, स्वस्वशास्त्रानुकूलता और स्वस्वदेश-विभेद के अनुसार हैं। हमने इनका वर्णन इसलिए किया है कि इन भेदों को जाने विना संसार की विभिन्न भाषाओं में अनन्त विकार कैसे उत्पन्न हुए, यह जानना असम्भव है।

लुप्त वर्णध्वनियों और ध्वनिभेदों का प्राकृत और म्लेच्छ भाषाओं की उत्पत्ति में योग—यदि भारतीय शिक्षा शास्त्रविदों द्वारा दर्शाई लुप्त वर्णध्वनियों और ध्वनि-भेदों के आधार पर प्राचीन अतिभाषा के पदों की अन्य भाषाओं से तुलना की जाय तो निश्चय ही आश्चर्यजनक परिणाम निकलेंगे और यह अधिक स्पष्ट हो जायगा कि संस्कृत की एक ही मूल ध्वनि ने अपनी विकृत ध्वनियों के कारण संस्कृतपदों को अन्यदेश भाषाओं में किस प्रकार विभिन्न रूपों में अन्तरित किया है। निदर्शनार्थ यहाँ दो-एक उदाहरण दिए जाते हैं।

१—आपिशलि कहता है कि अनेक आचार्य कण्ठ्य अ का उच्चारण तालु, ओष्ठ आदि स्थानों से भी मानने हैं। तदनुसार—

(क) पण्डित शब्द का हरियाणा का उच्चारण पिण्डित हुआ।
(ख) खच्चर को उत्तर प्रदेश में कोई खिच्चर और कोई खुच्चर रूप बोलते हैं।
(ग) बंगालियों का अ का ह्रस्व ओ जैसा उच्चारण प्रसिद्ध है।

अ के इन्हीं भारतीय विविध उच्चारणों के प्रकाश में संस्कृत अग्नि शब्द के योरोपियन भाषा में हुए रूपान्तरों को देखिए—

संस्कृत—अग्निः (अग्निस्) ।
लैटिन—इग्निस् ।
पुरानी लिथूएनियन—उङ्निस् ।
स्लैवॉनिक—ओग्नि ।
भारतीय सामगान में—ओग्नाइ ।

इसी प्रकार संस्कृत के 'अस्ति' का ग्रीक में 'एस्ति' (esti), लैटिन में 'एस्त' (est), और वट (बड़) का पंजाबी में बोड रूपान्तर हुआ ।

२. पूर्वनिर्दिष्ट स्पृष्ट प्रयत्न वाले 'य' के 'ज' सदृश उच्चारण के कारण प्राकृत में य का ज में परिवर्तन हो गया । यथा—

यशोदा—जसोदा	यक्ष—जक्खो
युवान—जवान	यथा—जह

वैदिक यातु पद अवेस्ता में जातु और फ़ारसी में जादु बन गया ।

उत्तर काल में य ज का अभेद हो जाने पर कई प्राकृत शब्दों में ज का य भी हो गया । यथा—

जानाति—याणादि   जायते—यायदे   जनपद—यणपद

चवर्ग अस्पृष्ट भी—वररुचि अपने प्राकृत प्रकाश में स्पष्ट निर्देश करता है कि चवर्ग का अस्पृष्ट उच्चारण भी होता है । भामह ने इस पर जो उदाहरण दिए हैं, उनमें 'वियले' उदाहरण महत्त्वपूर्ण है । 'विजलः' के ज वर्ण का अस्पृष्ट उच्चारण होने से यह अस्पृष्ट य में परिवर्तित हो गया ।

३. मूर्धन्य षकार की ख प्रतिरूपक (सदृश) ध्वनि के कारण भारतीय प्राकृत और अन्य भाषाओं के बहुत से अपभ्रंश उत्पन्न हुए । यथा—

पाषण्ड—पाखण्ड
वृक्ष —रुक्ख
यक्ष —जक्ख
दक्षिण—दक्खिन
पुष्ट —पुख्ता (फ़ारसी)
अष्ट —ऑक्टो (ग्रीक)

इस संक्षिप्त उल्लेख के पश्चात् अब हम पाश्चात्य विचारधारा का दिग्दर्शन कराते हैं ।

उच्चारण-विद्या में योरोप भारत का ऋणी

जिस प्रकार योरोप ने भाषा-विद्या और व्याकरण का सूक्ष्म ज्ञान भारत से सीखा, उसी प्रकार योरोप ने उच्चारण-विद्या भी पर्याप्तांश में भारत से

सीखी है। एल्लेन लिखता है--

For whilst Paninean techniques are only just beginning to banish the incubus of Latin grammar, our phonetic categories and terminology owe more than is perhaps generally realized to the influence of the Sanskrit phoneticians. (p. 3)

The 'seemingly obvious' distinction of voiced and voiceless here referred to (not known to German philologists) was subsequently recognized by Lepsius as 'derived from the Sanskrit grammarians' (p. 3, 4)

अर्थात्--पाणिनि की परिभाषाएँ लैटिन व्याकरण की डायन से अब छुटकारा दिलाने लगी हैं। पर संस्कृत शिक्षा-विशारदों का प्रभाव हमारी उच्चारण-परिभाषाओं पर इतना अधिक है, जितना सब अनुभव नहीं करते।

ह्विटने आश्चर्य करता है, और एल्लेन उसे स्पष्ट करता है कि जर्मन भाषा-विद् घोष और अघोष वर्णों के अति स्पष्ट भेद को क्यों नहीं समझ सके।

सत्य है योरोप ने इन विद्याओं में हम से बहुत कुछ सीखा है, पर निस्सन्देह अपने पक्षपात को दृढ़ करने के लिए उसे बिगाड़ा भी बहुत है।

पाश्चात्य मत का आधार--योरोपीय मत के एतद्विषयक पर्यालोचन का मूलाधार बरो के शब्दों में निम्नलिखित है--

The reconstructions are of two kinds. In the first and commonest case the phoneme postulated for Indo-European occurs in a number of the existing languages in which it has continued unchanged, in the second and rarer case the phoneme assumed for Indo-European is nowhere preserved as such, but is deduced by comparison of the forms derived from it. Naturally there is the greatest certainity in the case of the first class, but even the pure reconstructions of the second class, are, with few exceptions, established beyond reasonable doubt. (p. 66, 67)

अर्थात्--[मूल (इण्डो-योरोपियन) भाषा के शब्दों और ध्वनियों का] पुनर्निर्माण दो प्रकार का है। प्रथम और सामान्यतम अवस्था में वह ध्वनि जो इण्डो-योरोपियन रूप के लिए स्वीकार की गई है, उपस्थित भाषाओं में कई एक में विद्यमान है, और अपरिवर्तित चली आ रही है। दूसरी और न्यून सुलभ अवस्था में वह ध्वनि जो इण्डो-योरोपियन के लिए मान ली गई है, कहीं भी इस रूप में सुरक्षित नहीं, परन्तु उन [सम्प्राप्त] रूपों की तुलना से, जो उससे निकले हैं, अनुमानित की गई है। स्वभावतः पहले प्रकार में अधिक-

तम निश्चितता है, परन्तु दूसरे प्रकार के शुद्ध पुनर्निर्माणों में, कहीं-कहीं अपवाद को छोड़कर शेष रूप तर्कयुक्त सन्देह से परे हैं।

ये दोनों प्रकार भ्रान्तियुक्त—प्रस्तुत सामान्य ध्वनियाँ आवश्यक नहीं कि एक ही मूल ध्वनि वा मूल शब्द से विकृत हुई हों। यथा—

१. प्राकृत और पंजाबी में लगभग एक ही रूप के तीन शब्द हैं—

मुच्छा, मुच्छ (मूँछ), मुच्छ (ठगना)

इनके मूल हैं—मूर्च्छा, श्मश्रु और मुश्[1] (धातु)।

प्राकृत और पंजाबी की इन तीनों समान ध्वनियों की मूल ध्वनियों में अन्तर है, अतः पाश्चात्यों के प्रथम प्रकार की सामान्य अवस्थाओं में ध्वनि अपरिवर्तित रहकर असन्दिग्ध मूल ध्वनि का पता देती है, मान्य नहीं।

२. संस्कृत में एक मूल शब्द है—शर्करा=शर्क्करा।

इस एक के हिन्दी, पंजाबी में तीन अपभ्रंश बने। यथा—

(क) शक्कर (पंजाबी)

(ख) कंकर (पंजाबी, हिन्दी)

(ग) कुक्करा[2] (पंजाबी)

३. पुनः ध्यान देने का विषय है। प्राकृत में वच्छो रूप है। संस्कृत में इसकी मूल तीन ध्वनियाँ हैं। यथा—

वृक्षः वत्सः वक्षस्

इसी प्रकार प्राकृत के अन्य रूप भी देखने योग्य हैं—

प्राकृत	संस्कृत मूल
अस्स	अस्मिन्
अस्सो	अश्वः
आसो	अश्वः
अज्ज	अद्य
अज्ज	आर्य

अंग्रेजी के अगले रूप भी देखने योग्य हैं—

अंग्रेजी	संस्कृत मूल
४. widow	विधवा

---

१. तुलना करो, Eng—moustache; Greek—mustax-akos. **अंग्रेजी और ग्रीक में मकार से परे सकार की विद्यमानता श्मश्रु के श्म के आद्यन्त विपर्यय के कारण है। प्राकृत में श्मश्रु से मंसु और मस्सू रूप भी बने हैं।**

२. **तुलना करो—शर्करा अक्षिण्वजायन्त। जैमिनि ब्रा० १।१६८॥**

widower विधुर

ध्यान रहे कि widower शब्द का widow शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं। आक्सफोर्ड कोश के सम्पादकों को यह बात नहीं सूझी। अंग्रेजी में er प्रत्यय से lecture, lecturer; do, doer; own, owner; आदि में er प्रत्यय से करने वाला अर्थ बनता है। widower शब्द में er प्रत्यय माना जाए, तो widow बनाने वाला=करने वाला अर्थ नहीं बनता।

ये सब ध्वनि-रूप प्रकट करते हैं कि विकृत ध्वनि से मूल ध्वनि का असन्दिग्ध रूप जान लेना सरल नहीं। हाँ, मूल रूप के ज्ञान से विकृत रूप का जानना इतना कठिन नहीं।

कल्पित इण्डो-योरोपियन को मान कर ईसाई लोगों को यह तथ्य ज्ञात नहीं हो सका।

संस्कृत और ग्रीक के निम्नलिखित रूप देखिये—

अभि	epi (on)
परि	peri (around)
अस्ति	esti

इनमें अ मूल ध्वनि है वा e (ए), इसके कार्य-कारण भाव का निर्णय कैसे होगा। इतिहास के सुनिश्चित काल-क्रम के विना यह निर्णय करना असम्भव है। इतिहास कहता है कि ग्रीक वा यवन लोग अति प्राचीन आर्य क्षत्रिय थे।[1] अतः उनकी ए ध्वनि संस्कृत अ ध्वनि का ही विकार है।

इस उज्ज्वल सत्य से परम भयभीत पाश्चात्यों ने कहना आरम्भ किया कि यह इतिहास झूठा है। इस इतिहास को झूठा सिद्ध करने के लिए भाषा-क्षेत्र से बाहर का तर्क आना चाहिए। वैसा तर्क पाश्चात्यों के पास है नहीं। वे अपने कल्पित भाषा-विज्ञान का ही आश्रय लेते हैं। परन्तु जिसको अभी सिद्ध करना है, उसका प्रमाण कैसे दिया जा सकता है। तर्क में इसे साध्य सम हेत्वाभास कहते हैं। यह हेतु नहीं है। अतः सारा पाश्चात्य पक्ष असिद्ध प्रतिज्ञाओं का समुदायमात्र है।

बरो और उसके साथियों में सूक्ष्मान्वेषण का अभाव—बरो की अगली पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

दूसरी ओर न्यून सुलभ अवस्था में वह ध्वनि जो इण्डो-योरोपियन के लिए मान ली गई है, कहीं भी इस रूप में सुरक्षित नहीं, **परन्तु उन [सम्प्राप्त] रूपों की तुलना से, जो उससे निकले हैं,** अनुमानित की गई है। इति।

(पूर्व, पृ० ९४)

---

१. देखो, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० ८८।

विचारणीय है कि जब मूल-ध्वनि का यथार्थ ज्ञान नहीं है, और वह केवल मान ली गई है, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि—

"उन रूपों की तुलना से, जो इस [ध्वनि] से निकले हैं"

एक असिद्ध अनुमान पर आश्रित दूसरा अनुमान सत्य नहीं होता । यही वर्तमान कल्पित "भाषा-विज्ञान" का निर्बल स्थान है । इसी के आधार पर अनृतवाद का एक खपुष्प बनाया गया है । वस्तुतः यह तर्क का दिवाला निकालना है । तुलना के अन्दर कार्य-कारण के सुनिश्चित आधार के विना कौन कह सकता है कि वर्तमान रूप अवश्य उस मान लिये गए रूप से निकले हैं । कहना यह चाहिए कि जो रूप उससे निकले मान लिये गए हैं । देखिये निम्नलिखित शब्द के तीन रूपों को—

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन
नव	neos	novus

इन तीनों से इण्डो-योरोपियन neuo-s कैसे कल्पित हो सकता है । इच्छामात्र से यह करना विद्या के क्षेत्र से बाहर है ।

इतिहास कहता है कि संस्कृत भाषा विक्रम से छः-सात सहस्र वर्ष से कहीं पूर्व की है । इस सत्य को पक्षपात से न मानना, और कल्पित इतिहास का एक ढाँचा खड़ा कर देना और सब प्राचीन संस्कृत ग्रन्थकारों को legendry, और mythical कहना इन्हीं मतान्ध "भाषाविज्ञानियों" का पेशा है ।

इस असिद्ध भाषा-विज्ञान के आधार पर पाश्चात्यों ने संस्कृत वर्णसमाम्नाय के विषय में निम्नलिखित कल्पनाएँ उपस्थित की हैं ।

१. तालव्य श्रेणी उत्तर-कालीन—वेद को उत्तरकालीन सिद्ध करने के लिए भाषा-विषय पर लिखने वाले जर्मन आदि लेखकों ने कुछ कल्पनाएँ कीं । उनमें से एक कल्पना तालव्य वर्णों (इ-च वर्ग, य् श्) के विषय में है ।

गुणे—अपने गुरुओं की प्रतिध्वनि करता हुआ गुणे लिखता है—

1. Only in the Sanskrit guttural class have merged the two other classes of the old language, namely the pure velar gutturals and the labiovelar gutturals. Thus Sk. क represents both a *k* and a *qu* sound of the western Indg. languages.

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	गाथिक	अँग्रेजी
कः		quo	has	
चक्रम्	kuklos			wheel
रजः			riquis	

(p. 156 ,57)

अर्थात्—भाषा के दो वर्ण-वर्ग अर्थात् शुद्ध velar कण्ठ्य (क, ग) तथा

ओष्ठ्य-velar कण्ठ्य (क्व, ग्व) केवल संस्कृत की कण्ठ्य श्रेणी में निमज्जित हो गए हैं। इस प्रकार संस्कृत का एक ही क् पश्चिमी इण्डोजर्मनिक भाषाओं के दोनों k और qu ध्वनि का प्रतिनिधि है।

2. The Indo-Germanic palatals have nothing to do with the sk. palatals. These latter, as we shall see, are original velar gutturals palatalized on account of a following इ or ए.

	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	लिथूएनियन
(a)	श्रुतः[१]	klutos[1]	in-clutus	
	दश	deka		
	छाया	skia		
(b)	जनस्	genos		
	ज्मा			zeme

N.B.—Sanskrit (ज्) therefore is no real palatal. (p. 157)

अर्थात्—इण्डो-जर्मनिक तालव्य वर्णों का संस्कृत तालव्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। संस्कृत तालव्य जैसा हम देखेंगे, मूलतः velar कण्ठ्य हैं। इनके आगे इ अथवा ए आए और ये तालव्य बन गए।

श वर्ण संस्कृत में तालव्य है। परन्तु यह पहले क वर्ण था। यथा दश का ग्रीक रूप deka में हुआ। ज् भी पहले g (ग्) था।

3. The Sanskrit palatal class as a whole is a newcomer. It is the old velar or guttural class, labialized or not labialized, before palatal vowels इ, or ए, and the semivowel य. This is the *palatal* law. (p. 157)

अर्थात्—संस्कृत के सारे-के-सारे तालव्य वर्ण नवागत हैं। ये पुराने velar वा कण्ठ्य थे और इ अथवा ए स्वरों तथा अर्धस्वर य् के पूर्व चाहे औष्ठ्य बने वा नहीं, इसका प्रश्न नहीं। यही तालव्य नियम है।

उह्लनबैक ककार के विषय में लिखता हुआ कहता है—

During the Aryan period the idg. K (क्) became C (श्). This voiceless palatal spirant remained unchanged in Indian. (p. 70)

अर्थात्—इण्डो-आर्यकाल के पश्चात् आर्ययुग में इण्डो-जर्मनिक क् का श् हो गया। यह श् भारतीय में अपरिवर्तित रहा।

पाश्चात्य-पक्ष-परीक्षा—तालव्य-वर्ण-विषय में पाश्चात्य मत संक्षेप से लिख दिया। अब इसकी सत्यता की परीक्षा करते हैं। पाश्चात्यों ने इस विषय

---

१. संस्कृत श वर्ण का ही ग्रीक में k उच्चारण हो गया है। इसकी तुलना संस्कृत शर्करा पद के पंजाबी अपभ्रंश कुक्करा से करनी चाहिए।

इसी नियम और लिपि-दोष के कारण योरोपीय भाषाओं के कतम वर्ग में संस्कृत श् का ही विकार क् है।

इसके अतिरिक्त तनिक और विचारो। वैदिक वाङ्मय में एक ही पद में क् और च् का भेद दृष्टिगत होता है। यथा वैदिक वेरिएण्टस् में प्रदर्शित—

शोकात् (वा० सं०, मै० सं०)	शोचात् (तै० सं०)
अधिविकर्तनम् (ऋग्वेद, अथर्व)	अधिविचर्तनम् (आप० म० ब्रा०)
सुकेतुना	सुचेतुना

वैदिक वाङ्मय में एक ही पद के ग् और ज् के भेद वाले दो-दो रूप भी मिलते हैं। यथा—

युनग्मि	युनज्मि
मार्ग्मि	मार्ज्मि
ससृज्महे (ऋग्वेद)	ससृग्महे
युगा	युजा

जब वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत एक मन्त्र के दो पाठों में ही दो-रूप मिलते हैं, और यह कहना असम्भव है कि अमुक उत्तर-कालिक है, तो जनः और genos में संस्कृत जनः का ज्, ग् का रूपान्तर है और ग्रीक ने मूल ग् को सुरक्षित रखा है, तर्कयुक्त नहीं। कार्य-कारण भाव को स्थिर करने के लिए कोई तर्क बाहर से आना चाहिए। उसमें साध्यसमहेत्वाभास नहीं होना चाहिए। ऐसा तर्क योरोपीय 'भाषा-विज्ञान' में नहीं है।

एक और उदाहरण देखिए—

संस्कृत	ग्रीक
पञ्च	पेंते

यहाँ च् और त् का भेद भी एक ही पद के वैदिक पाठान्तरों से अधिक स्पष्ट हो जाता है। यथा—

चरन्ति	तरन्ति
चरेम	तरेम
प्रचरताम्	प्रतरताम्

न वर्ण और क वर्ण के उदाहरण में भी स्वल्प अन्तर था। तदनुसार तिरीटं=किरीटं (मुकुट अर्थ)[1] वाले दो पद हुए।

प्रतीत होता है, अति प्राचीन काल में कोई अति सूक्ष्म उच्चारण भेद था, जिसके निमित्त एक ही मन्त्र के एक ही पद के ये दो रूप दिखते हैं। इसी

१. वामनकृत लिङ्गानुशासन, पृ० ५।

प्रकार संस्कृत पञ्च के च का ही रूपान्तर ग्रीक पेन्ते का तकार है, इसमें सन्देह नहीं।

स्मरण रखना चाहिए कि ब्राह्मण ग्रन्थों में एक शब्द है पाङ्क्त (=पांच अवयवों वाला)। इसका मूल पङ्क्ति पद समझा जाता है। सम्भव है कभी पञ्च अर्थ में पङ्क्त एक स्वतन्त्र शब्द रहा हो। उसी से पाङ्क्त रूप बना हो। ऐसी अवस्था में ग्रीक शब्द का मूल पञ्च न होकर पाँच अर्थ वाला पंक्त शब्द मानना पड़ेगा।

निस्सन्देह उच्चारण-भेदों का अभी बहुत गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है।

मूर्धन्यों की उत्पत्ति—इस विषय में गुणे लिखता है—

Among the Sanskrit sounds, the cerebrals are the most important because they are found in no other branch of the Indo-German family—not even in Avesta. Fortunately, however, the Sanskrit-language itself offers a solution of the que. t'on as to how they arose only here. We have a rule, for instance, as a consequence of which the dental न् is changed to the cerebral ण्, when preceded in the same word by ऋ, र्, or ष्; e. g. उत्ण ऋण, कीर्ण; or that the dental sibilant स् is changed to the lingual sibilant ष् when it is preceded by the vowels इ, ई, and उ, ऊ, ऋ, ए or ओ; e. g. करोषि, मातृषु etc. (p. 159)

मैकडानल भी ऐसा ही लिखता है—

The cerebrals, however, were a specifically Indian product, being unknown in the Indo-Iranian period. They are still rare in the RV.,......According[1] to most scholars[1], they are due to aboriginal, especially Dravidian, influence. As a rule they have arisen immediately after ष् or an र् sound from dentals—(Vedic grammar p. 33)

In several instances a cerebral appears by an evident Prakritism, in place of a dental originally preceded by an र् (or ल्) sound; thus वि-कट-beside कर्त—'pit'; अवट—'pit'beside अवर—down; (p. 33)

43. cerebrals in many instances represent the old palatals ज्, श्, ह्।

भ्राट्	भ्राज्
राट्	राज्

---

1. Vedic grammar for students में इसके स्थान में, probably किया गया।

विपाट् विपाश्
विट् विश्

C. The cerebrals in the following words have not been satisfactorily explained :—

आघाटि (अ० वे०), आघाट (अ० वे०) आघात (वा० सं०) अण्ड, इटन्त (ऋ० वे०) इत्यादि ।

वाकर्नागल आदि के आधार पर ब्लूमफ़ील्ड का भी ऐसा ही मत है। देखो, वैदिक वेरिएण्ट्स, भाग २, पृ० ८६ ।

गुणे और मैकडानल के लेखों का अभिप्राय निम्नलिखित है। अर्थात्— ऋ, टवर्ग, र् और ष् वर्ण मूल भारोपीय भाषा में नहीं थे। भारोपीय-कुल की किसी भाषा में ये वर्ण नहीं हैं। अवेस्ता में भी ये नहीं हैं। जब आर्य लोग अपने मूल निवासस्थान से चलकर भारत में आ गए, तो ये वर्ण और इनकी ध्वनियाँ भारत में उत्पन्न की गईं। संस्कृत भाषा से ही इसका कारण भी ज्ञात होता है। संस्कृत व्याकरण का एक नियम है, जिसके अनुसार दन्त्य न्, जब उसी पद में उसके पूर्व ऋ, र्, अथवा ष् हों, तो ण् में परिणत हो जाता है।

इसके अतिरिक्त कई अवस्थाओं में किसी दन्त्य वर्ण के स्थान में कोई मूर्धन्य स्पष्ट ही प्राकृत के प्रकार से उत्पन्न हो जाता है और कई स्थानों में तालव्यों के स्थान में मूर्धन्य बन जाते हैं। यथा—

भ्राट् आदि ।

और आघाटि आदि अथर्ववेद के पदों में मूर्धन्य कैसे बने, यह सन्तोषप्रद रूप से समझाया नहीं जा सकता।

कई लोगों का मत है कि अनेक मूर्धन्य वर्ण आर्यों ने द्राविड़ों से लिए। इति।

मूर्धन्य वर्ण विषयक काल्डवेल्ल और बूहलर के मत - पादरी काल्डवेल्ल ने सुदृढ़ता से इस मत का अनुमोदन किया कि वैदिक ऋषियों ने मूर्धन्य वर्ण द्राविड़ों से लिए। पादरी जी का पक्षपात स्पष्ट है। द्राविड़ लोग तुर्वसु की सन्तान में होने से (वायु पुराण ९९।१-६) आर्य क्षत्रिय हैं, यह भारतीय इतिहास का तथ्य है। बृटिश सरकार और ईसाई पादरी इसके विपरीत दर्शाना चाहते थे।

पादरी जी के पक्ष की निर्बलता को देखकर जॉर्ज बूह्लर ने एक लेख लिखा—

On the Origin of the Sanskrit Linguals—इस लेख में बूह्लर ने काल्डवेल्ल के मत का खण्डन किया। बूह्लर ने प्रतिपादित किया

कि मूर्धन्य वर्ण संस्कृत भाषा में ही उत्पन्न हुए हैं। उसके अनुसार जेन्द में भी तीन मूर्धन्य थे। (देखो, फेरर पृष्ठ ३३५-३४० ।)

केम्ब्रिज हिस्ट्री का झुकाव भी मूर्धन्यों को द्रविड़ों (द्रमिड़=तामिल) से अधिक सम्बद्ध मानने का है। (प्रथम भाग, पृ० ४९)

समीक्षा—आर्य भारत में बाहर से आए, अथवा द्राविड़ लोग आर्यों से पहले भारत में बस रहे थे, अथवा द्राविड़ भाषा, वेद से पूर्वकाल की है, इन कल्पित विषयों पर यहाँ विचार का अवसर नहीं। प्रश्न होता है कि क्या ये वर्ण योरोपीय भाषाओं से उच्चारण और लिपि-दोष के कारण लुप्त हो गए, अथवा आदि से उनमें नहीं थे।

ट और ड ध्वनियाँ तो ग्रीक और अंग्रेजी आदि में चली आ रही हैं। यथा ट ध्वनि ग्रीक ऑक्टो और B (बीटा) में सुरक्षित है। इसी प्रकार अंग्रेजी के that, to और t में भी यह ध्वनि सुरक्षित है। ड ध्वनि dog, do और d आदि में सुरक्षित है। पर ठ, ढ, ण और ष आदि ध्वनियाँ योरोपीय भाषाओं में अब अधिक नहीं हैं।

अंग्रेजी का tree शब्द संस्कृत तरु, पद का स्पष्ट अपभ्रंश है। अंग्रेजी Oxford कोष में इसका संकेत नहीं।

और गुणे आदि जो योरोपीय ट और ड आदि ध्वनियों को संस्कृत टवर्गीय ध्वनियों से विलक्षण मानते हैं, उसके लिए कोई हेतु नहीं है।

ग्रीक में ष ध्वनि कभी-कभी ch (ख) में बदल कर क हुई है। ch ख का द्योतक भी रहा है, इसका प्रमाण loch = lake (लॉख) शब्द में सुरक्षित है। संस्कृत में एक पद है, आर्ष। उसका ग्रीक में arche (beginning, origin) रूप है। ऋषि लोग सर्गारम्भ से हुए। तत्सम्बन्धी आर्ष पद है। इस बात को स्वीकार किए विना ग्रीक पद arche का अर्थ और इसमें a का दीर्घ आ का उच्चारण समझाया नहीं जा सकता।

स्मरण रहे कि लैटिन और ग्रीक में दीर्घ स्वर नहीं थे। यह अति उत्तर काल की अवस्था है।

पाश्चात्य भाषाओं में आश्चर्यकर निदर्शन—अनेक पाश्चात्य भाषाओं में निम्नलिखित घटना दिखाई देती है। संस्कृत दकार पाश्चात्य भाषाओं में मूर्धन्य ड (d) के रूप में मिलता है।[1]

संस्कृत	पाश्चात्य भाषाएँ
दन्त (डच्-tand)	dental (लैटिन-dens)
द्युः	day

द्वार	door
दैत्य	Dieutsch, Dutch
दशम	decimus
नीड[1]	nidus

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है, कि ईसाई-यहूदी गुट के इस द और ड विषय के कल्पित नियम सर्वथा निराधार हैं।

अंग्रेजी adhere शब्द में ढ की ध्वनि है। इसी प्रकार mental में ट वर्ण से पूर्व ण् की भी मध्यम ध्वनि है।

संस्कृत त के स्थान पर भी डकार रहा है—

अन्त	E. end, G. ende, D. einde

इससे ज्ञात होता है कि पाश्चात्य भाषाओं में भी संस्कृत द के स्थान में ड और ड का ड बने रहने की प्रवृत्ति है।

यहाँ प्रश्न होता है, क्या ट् और ड् ध्वनियाँ योरोपीय भाषाओं में भी द्रविड़ों से गईं, अथवा द्रविड़ों के समान उनमें भी पुरा काल से संस्कृत से लिए गए रूपों में चली आ रही थीं। वस्तुतः अति प्राचीन अतिभाषा में ये ध्वनियाँ वर्तमान थीं। उन ध्वनियों का ही एक अंश द्रविड़ों में सुरक्षित रहा, और कुछ अंश योरोपीय भाषाओं में सुरक्षित हुआ। संस्कृत में ये सब ध्वनियाँ यथावत् बनी रहीं।

और जिस प्रकार ष् वर्ण प्राकृत में बहुधा स् हो जाता है, और ष ध्वनि का प्राकृत में लोप हो गया, उसी प्रकार योरोपीय भाषाओं में भी इस ध्वनि का लोप हो गया।

मैकडानल ने स्वयं स्वीकार किया है कि वेद के आघाटि आदि अनेक पदों के मूर्धन्य वर्ण योरोपीय मतों के विरुद्ध पड़ते हैं।

पाणिनि के नियम का कारण—जिस प्रकार एक अर्थ वाले एक शब्द के थोड़े से भेद वाले दो अथवा तीन रूप भी मिलते हैं, उसी प्रकार अवट और अवत आदि दो पृथक् शब्द हैं। उनमें से विना हेतु एक को मूल मानकर दूसरे को उसका रूपान्तर मानना संस्कृत भाषा के प्रति अज्ञान प्रकट करना है। और पाणिनि ने तो अपने काल की प्रवृत्ति के अनुसार भाषा के संकोच का ध्यान करते हुए, यह सरल मार्ग दर्शाया है कि विराट् और विराज् एक ही शब्द मान लिए जाएँ। निस्सन्देह कभी ये दो शब्द थे, उनके रूपों को मिला कर पाणिनि ने ये रूप प्रदर्शित किए हैं। जैसे उसने धात्वादेश माना है, वैसे उसने वर्णादेश भी दर्शाया है।

अतः वर्णों की मूर्धन्य श्रेणी संस्कृत के प्राचीन रूपों से ही संसार में फैली और यत्र-तत्र बची रही।

अनेक आपत्तियाँ देखकर अंग्रेजी की t और d ध्वनियों के विषय में योरोपीय उच्चारण-विचारकों ने माना है कि इन ध्वनियों के चार-चार उच्चारण भेद हैं, (Ferrar, p. 12—13)। पर कुछ भी माना जाए, यह निश्चय है कि जब ट और ड ध्वनियाँ योरोपीय भाषाओं में विद्यमान हैं, तो उनके साथ की ठ, ढ और ण आदि ध्वनियाँ विशेष दोषों के कारण वहाँ से लुप्त हुई हैं।

हमारे पूर्व तर्कों के विरुद्ध यदि कहो कि "युवक वैयाकरणों" की इच्छा ही प्रमाण है, तो स्मरण रहे कि विज्ञान अथवा विद्या के क्षेत्र में इच्छा प्रमाण नहीं हुआ करती, कार्यकारण भाव की लड़ी इच्छा पर आश्रित नहीं हो सकती। अपरंच यदि कहो कि "भाषा-विज्ञान" के principles अथवा laws प्रमाण हैं, तो उनकी प्रामाणिकता का भण्डा अगले अध्याय में फूटेगा।

मैक्समूलर इस छिद्र से अवगत—प्रश्न होता है, कि क्या ईसाई-यहूदी लेखक इतने अज्ञानी हैं कि उन्हें अपने पक्ष की इस त्रुटि का पता ही नहीं। नहीं, ऐसा नहीं है। सन् १८६० में भी मैक्समूलर को अपने पक्ष की असत्यता का ज्ञान था। पर मतान्धता से उसने और उसके उत्तरवर्ती लेखकों ने बहुविध यत्नों से इस त्रुटि को ओझल कर देने का भूरि परिश्रम किया। मैक्समूलर लिखता है—

The evidence of language is irrefragable, and it is the only evidence worth listening to with regard to ante-historical periods. (A H. A. S. L., p. 13)

अर्थात्—भाषा का साक्ष्य अखण्ड्य है, और यह एकमात्र साक्ष्य है जो प्रागैतिहासिक युगों के विषय में सुनने योग्य है। इति।

मैक्समूलर के इस लेख में निम्नलिखित दो असिद्ध प्रतिज्ञाएँ हैं—

१ भाषा का साक्ष्य अखण्ड्य है, अर्थात् योरोप के संस्थापित "भाषा-विज्ञान" का खण्डन नहीं हो सकता।

२. प्रागैतिहासिक युगों के जानने में इसी "भाषाविज्ञान" का एकमात्र साक्ष्य है।

पहली प्रतिज्ञा कोरी गप्प है, पक्षपाती ईसाई लेखकों का मिथ्या प्रचार है, सारहीन कल्पनाओं का समुदाय है, और कागज का व्यर्थ काला करना है। भाषा का साक्ष्य अभी प्रस्तुत ही नहीं हुआ। जो कथित-साक्ष्य उपस्थित किया गया है, वह शतशः दोष-युक्त है। भाषा-विषयक प्रस्तावित principles (नियम) अधिकांश अनियम हैं। अरविन्द और रेनाँ, उनका प्रतिवाद करते हैं।

उनके अतिरिक्त अनेक निष्पक्ष ईसाई विद्वान् पुरुष योरोप में ही इन्हें नियम नहीं मानते।

मैक्समूलर और उसके साथियों की इच्छा थी कि लोग उनकी बात मान लें और उन पर कोई प्रश्न न करें। उनसे और उनके शिष्य प्रशिष्यों से उपाधि-प्राप्त अनेक लोगों ने ऐसा किया भी, पर रेत पर खड़ा किया गया प्रासाद कब तक खड़ा रह सकता था। योरोप के भाषा के साक्ष्य का खण्डन हुआ। साक्ष्य उपस्थित करने वाले उसका उत्तर नहीं दे सके।

पर रॉथ और मैक्समूलर की परम्परा के लोगों ने भाषा-साक्ष्य के आधार पर जो मिथ्या मत चलाए, वे अभी तक यत्र-तत्र चल रहे हैं। अनेक अर्ध-शिक्षित लोग मानते हैं कि आर्य लोग भारत में योरोप के किसी भाग से आए। वेद का काल ईसा से २५०० वर्ष से पहले का नहीं है। इत्यादि।

साध्यसम हेत्वाभास—भला जो साक्ष्य स्वयं असिद्ध है, उस पर आश्रित कोई मत युक्त कैसे हो सकता है। निस्सन्देह योरोप द्वारा प्रस्तावित भाषा का साक्ष्य, साक्ष्य नहीं है। मैक्समूलर के मन में यह बात खटकती थी। वह चाहता था, लोग किसी प्रकार से उसकी बात मान लें। उसने लच्छेदार भाषा लिखी। भोले पाठकों ने समझा, वह ठीक कहता है। अस्तु। पर अन्त में उसका भण्डा फूट गया।

दूसरी प्रतिज्ञा 'प्रागैतिहासिक' काल का मानना है। प्रागैतिहासिक काल की भावना उसी के मन में उपजती है, जो इतिहास नहीं जानता, जो रामायण, महाभारत और ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित इतिहासों से अपरिचित है। प्राचीन इतिहास और विक्रम से तीन, चार, पाँच और छः सहस्र वर्ष के पूर्व तक के इतिहास इन्हीं ग्रन्थों में हैं। उन इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं को प्रागैतिहासिक कहना अपने अल्प-अध्ययन का परिचय देना है। उनके विषय में "भाषा के साक्ष्य" के नाम पर जो बे सिर पैर की हांकी गई हैं, उन्हें मानना विद्या का दिवाला निकालना है।

अपने छिद्रों को जानता हुआ ही मैक्समूलर यह चाहता था कि इन दो-चार पक्षपाती लेखकों की युक्ति-शून्य स्थापनाओं को संसार स्वीकार कर ले। पर असत्य सदा के लिए ठहर नहीं सकता।

हमने दिखा दिया है कि संस्कृत वर्णसमाम्नाय के विषय में जो मत योरोपीय कतिपय ईसाई लेखकों ने प्रस्तुत किए हैं, वे तर्क-युक्त नहीं हैं।

संसार में वर्णों के उच्चारण का इतिहास उच्चारण के ह्रास का नग्न-चित्र उपस्थित करता है।

आठवाँ व्याख्यान

उच्चारण विकार = व्यथन[1] — (ध्वनि-विपर्यास)

प्रकृतिं सत्यमित्याहुः विकारो ऽनृतमुच्यते । वायु पुराण ।

स्वर उत्पत्ति का मूल-मन्त्र—मानव स्वर की उत्पत्ति का वर्णन अनेक वर्तमान पाश्चात्य ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। उसकी एतद्विषयक सीमा श्रवणेन्द्रिय और वागिन्द्रिय के काकलक (घण्डी) तथा फिफड़ों तक सीमित रहती है। भारतीय ऋषियों ने उस सीमा से बहुत परे की गति का भी उल्लेख किया है। यथा—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयते स्वरम् ।। शिक्षा[2] ।

अर्थात्—आत्मा बुद्धि-योग से पदार्थों का मनन करके मन को जोड़ता है, बोलने की इच्छा से। मन शरीराग्नि पर आघात करता है। वह घातित अग्नि प्राण को प्रेरता है। प्राण फेफड़े से चलता हुआ मन्द्र स्वर को उत्पन्न करता है।

विशेष ध्यातव्य—इस वर्णन में आत्मा, बुद्धि और मन का कार्य विशिष्टता से वर्णित है। उच्चारण में मन का साहाय्य-विशेष है।

ऋ० १०।७१।२ में भी कहा है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत । ऋ० १०।७१।२

अर्थात्—जैसे चालनी द्वारा सत्तु को तोह से पृथक् करते हैं, वैसे ही अर्थ-हीन ध्वनियों से वेदवाक् को पृथक् करके ज्ञानियों ने मन से वाणी को किया।

अन्तरिक्ष में अर्थहीन और सार्थ दोनों प्रकार की ध्वनियां उत्पन्न हुईं।

---

१. **ऋक् प्रातिशाख्य ।**

२. **श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के आर्च और याजुष पाठ में। भर्तृहरि (३ शती वि० से पूर्व) तथा आचार्य दुर्ग (६ शती वि० से पूर्व) द्वारा उद्धृत। सम्वत् ३७५ विक्रम का जैन आचार्य मल्लवादी सूरी अपने द्वादशारनयचक्र में भर्तृहरि को उद्धृत करता है।**

शिक्षा की इन तीन पंक्तियों में से अन्तिम दो पंक्तियां मैत्रायणी उपनिषद् ७।११ में पढ़ी गई हैं। निस्सन्देह अति प्राचीन काल में, अर्थात् भारत-युद्ध से पूर्व भारत में यह वैज्ञानिक तथ्य सुविदित था।

सार्थ ध्वनियाँ वेदमन्त्र थे । उन्हें ही दिव्य ऋषियों ने पृथक् किया । यह क्रिया मन द्वारा हुई । इसी मन्त्रस्थ मनसा पद से संकेत पाकर शिक्षा शास्त्र रचयिताओं ने वाणी और मन के संयोग के तथ्य का वर्णन किया है ।

वाक् के अधिपति वाचस्पति का दिव्य मन से सम्बन्ध भी वेद में कहा है । यथा—

उप न एहि वाचस्पते देवेन मनसा सह । अथर्व १।१।२॥

अपभ्रंश का कारण—मन के अस्वस्थ होने पर स्वर-दोष होते हैं । अपभ्रंशों के बनने में अस्वस्थ मन के कार्य का विस्तृत इतिहास निहित है ।

सब का मन एक प्रकार की अस्वस्थता प्रकट नहीं करता, अतः अपभ्रंश स्थिर नियमों में नहीं हुए ।

बुद्धि तत्त्व—एल्लेन महाशय ने अपने 'फॉनेटिक्स इन एनशिएण्ट इण्डिया' नामक ग्रन्थ, पृष्ठ २१ पर शिक्षा के पूर्वोद्धृत श्लोक के प्रथम चरण का अंग्रेजी अनुवाद किया है—

The soul apprehending things with the intellect inspires the mind to speak.

इस अनुवाद में बुद्धि का intellect अनुवाद ठीक नहीं, बुद्धि एक तत्त्व है । वस्तुतः अंग्रेजी भाषा में उसके लिए कोई शब्द ही नहीं है । इससे अधिक एक और बात भी है । योरोपीय मनोविज्ञान (psychology) में आत्मा और मन एक ही वस्तु है । अतः ऐसा अनुवाद करते समय एल्लेन जी को टिप्पणी में यह रहस्य खोलना चाहिए था ।

अस्वस्थ मन से म्लेच्छीकरण—दैत्य (दिति के पुत्र), देव (=आदित्य अथवा अदिति के पुत्र), दानव (दनू के पुत्र), और मानव (मनु के पुत्र) अथवा आर्य, प्राचीनतम काल में संसार के विभिन्न देशों में बसते थे । दैत्य और दानव, जो कभी अपने को देव कहते थे, उत्तरकाल में भारतीय मानवों अथवा आर्यों में असुर नाम से प्रसिद्ध हुए । सर्वप्रथम इन असुरों की वाक् में उद्विग्न मन[1] और अनभ्यास के कारण शब्दोच्चारण में अस्पष्टता अथवा म्लेछत्व उत्पन्न हुआ । आर्य इस दोष से बचें, अतः ब्राह्मण में संकेत है—

तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेछेत् । असुर्या हैषा वाक् । श० ब्रा० ३।२।१।२४॥

न म्लेच्छितवै न अपभाषितवै । महाभाष्य में उद्धृत ।

अर्थात्—म्लेच्छपन करना योग्य नहीं ।

---

१. **मनसा व इषिता वाग्वदति । यां हि अन्यमना वाचं वदति, असुर्या वै सा वाक् अदेवजुष्टा । ऐ० ब्रा० ६।५॥**

यां वै दृप्तो वदति, या उन्मत्तः, सा वै राक्षसी वाक् । ऐ० ब्रा० ६।७॥

कृष्ण द्वैपायन व्यास ने भी कहा है—

नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभिः ।

म्लेच्छ धातु अव्यक्त अर्थात् अस्पष्ट वाणी के अर्थों में पढ़ा गया है।

मैक्समूलर और म्लेच्छ शब्द—म्लेच्छ शब्द का अर्थ—a person who talks indistinctly,[1] जानते हुए भी मैक्समूलर ने आर्यों के इस शब्द के तथा इसके अनुवाद barbarian के प्रयोग के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा है।[2]

फ्रैड्रिक बॉडमर=मैक्समूलर-प्रदर्शित मार्ग का सर्वांश अनुकरण करते हुए बॉडमर लिखता है—

Christianity performed one genuine service to the study of languag·,—It threw the opprobrious term *Barbarian* overboard, and thus paved the way for the study of all tongues on their own merits.[3]

अर्थात्—ईसाई मत ने भाषा के अध्ययन में एक यथार्थ सेवा की है ..... इसने घृणित म्लेच्छ शब्द को परे फेंका और इस प्रकार सम्पूर्ण बोलियों को उनके अपने गुणों के आधार पर अध्ययन करने का मार्ग प्रशस्त किया।

स्ट्रैबो[४] के काल में—barbarian speech अथवा म्लेच्छ वाक् पदों का प्रयोग आज से लगभग २००० वर्ष पहले अनेक जातियाँ अपने से उत्तरकाल की जातियों की हीन भाषा के लिए करती थीं।

समीक्षा—चाहे कोई कितना ही बचे, पर इसमें सन्देह नहीं कि आदि भाषा से हुए अपभ्रंशों का प्रयोग अथवा उसके पदों का दुष्ट-उच्चारण म्लेच्छ-पन है। अँग्रेजी भाषा के superintendent शब्द को जो "भुटण्ड", bhutanda बोलता है, वह अँग्रेजी उच्चारण की अपेक्षा अशुद्ध उच्चारण करने वाला म्लेच्छ ही कहा जायगा। इसमें लज्जा की बात नहीं। यदि संसार को एक वार ज्ञान हो जाये कि वह म्लेच्छवाक् को अपनाये बैठा है, तो प्रत्येक देश के सब बुद्धिमान् संस्कृत की ओर झुकेंगे। इसी भय से मैक्समूलर ने म्लेच्छ शब्द के प्रयोग के विरुद्ध अपने संकीर्ण-भाव प्रकट किये।

ईसाई मत ने मानव की सेवा नहीं की, प्रत्युत उसे अनृत-मार्ग की ओर अग्रसर किया है। संसार को मानना चाहिए कि उसकी विकृत भाषाएँ वस्तुतः म्लेच्छ वाक् हैं। जब चोर अपने को चोर कहेगा, तभी वह चोरी छोड़ेगा।

उच्चारण दोष से भाषा-भेद—धर्मशास्त्रकार मनु ने इस दृष्टि से प्राचीनतम भाषा के दो रूपान्तर कहे हैं। उनका उत्तरोत्तर रूप निम्न प्रकार का होता गया—

---

1. L. S. L. Vol. I, p. 97. 2. ibid, p. 137-141.
3. The Loom of Language, p. 170. 4. vol. VI, pp. 303-307.
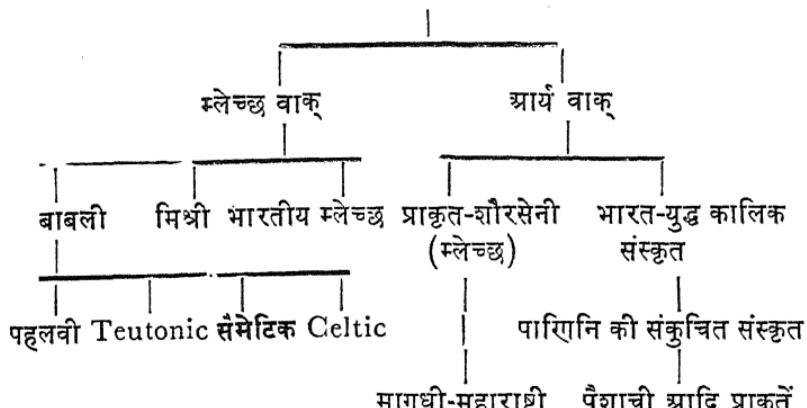
सैमेटिक—वर्तमान पाश्चात्य वर्गीकरण के अनुसार सैमेटिक **भाषा-वर्ग** स्वीकृत-इण्डो-योरोपियन भाषा-वर्ग से बहुत दूर नहीं, इस तथ्य को अनेक भाषा-विद् अब स्वीकार करने लगे हैं। उनके प्रमाण आगे लिखे जाएँगे।

संसार की प्राचीन भाषाओं में विकारों का अध्ययन करते समय प्रातिशाख्यों में वर्णित अनेक उच्चारण सहायक होते हैं। यथा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य अ० १४ में इसके कई उदाहरण दिए हैं। तदनुसार कृष्ण को **कृष्ट्ण** और ग्रीष्म को **ग्रीष्प्म** भी बोलते हैं। 'क्राईस्ट' पद में ट् ध्वनि का आगम इसी का फल है। इस प्रकार के उदाहरण से सैमेटिक और इण्डो-यूरोपियन के पार्थक्य का पता लगेगा।

आर्यों में उच्चारण सावधानता—भारत में यद्यपि प्राकृतें और अपभ्रंश भाषाएँ उत्पन्न हो रही थीं, तथापि आर्यों ने वेदांगों में शिक्षा-विद्या अथवा शुद्धोच्चारण विद्या का समावेश किया। उन्होंने वेद की रक्षा के लिए अपने उच्चारण की महती रक्षा की।

एल्लेन इस महत्ता से अवगत—आर्यों के वर्णोच्चारण के सूक्ष्मज्ञान को संसार भूल रहा था। उस भूल का ध्यान दिलाते हुए W. S. Allen लिखता है—

In phonetics, we all too rarely look back beyond the great names of the nineteenth century......We justify......... by tracing it back to......Aristotle : but generally speaking the expressions of ancient phonetic thought in the west have

---

१. **अति भाषा सतयुग के आदिभाग और देवयुग में रही। सतयुग के अन्त से म्लेच्छवाकों की उत्पत्ति हुई और त्रेता से भारतीय प्राकृतों का अस्तित्व हुआ।**

little to repay our attention or deserve our respect, whereas Indian sources as ancient and even more ancient are infinitely more rewarding.[1]

अर्थात्—उच्चारण के विषय में प्राचीन भारतीय ग्रन्थों से अत्यधिक फल-प्राप्ति होती है।

अस्तु। संसार में उच्चारण भ्रष्ट, भ्रष्टतर और भ्रष्टतम होता गया। लिपियाँ भी लंगड़ी होती गईं, और स्वर तथा वर्ण (व्यञ्जन) दोनों की ध्वनियों में बहुत अन्तर आता गया। इस अन्तर का इतिहास बहुत चित्ताकर्षक है।

प्राचीन-विचारक—वर्ण-परिवर्तन तथा ध्वनि-दोषों के विषय में भरत, पतञ्जलि, वररुचि और भर्तृहरि आदि ने न्यूनाधिक प्रकाश डाला है। उन सब का मत है कि **ध्वनि-दोष सर्वत्र नियमित रूप से एक प्रकार के नहीं हुए।** उनमें यत्किञ्चित् साम्य तो मिलता है, पर पूर्ण अथवा निरपवाद नहीं।

योरोपीय प्रथम-पक्ष—ध्वनि तथा वर्णपरिवर्तन के विषय में योरोप में जो पहला विचार था, उसे फेरर ने निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है—

The roots of the Indo-European languages are subject to two distinct classes of changes—irregular or sporadic, and regular. The regular changes permeate all the dialects of a language, while the irregular show themselves chiefly in some one dialect (p. 26)

अर्थात्—इण्डो-योरोपियन भाषाओं के धातुओं में दो स्पष्ट प्रकार के परिवर्तन हुए हैं। एक अनियमित अथवा यत्र-तत्र होने वाले, और दूसरे नियमित। नियमित परिवर्तन किसी भाषा की सब बोलियों में एकसे हुए हैं, और अनियमित किसी एक ही बोली में दिखाई देते हैं।

योरोपीय उत्तर-कालीन पक्ष—जर्मनी के युवक वैयाकरणों (young grammarians) का बॉप आदि के विरुद्ध मत बना कि अपभ्रंशों में ध्वनि-परिवर्तन सदा 'अन्ध नियमों' में बँधे रहे हैं।

ग्रे का स्पष्टीकरण—इस विषय पर Louis H. Gray का लेख देखने योग्य है। यह लेख सन् १९३९ में प्रथम वार लिखा गया और सन् १९५० में दूसरे संस्करण में भी दोहराया गया है—

No principle of linguistics has aroused more controversy than that of the role of phonetic correspondences. In its crassest form, this principle has been enunciated as 'phonetic laws (we should now say, "phonetic correspondences") know

1. Phonetics in Ancient India, London, 1953, p. 2.

no exceptions'; on the other hand, some scholars deny that there are any regular phonetic correspondences worth considering. A survey of language as a whole seems, however, to justify the following conclusion : *phonetic correspondences as we have defined them, operate without exception save when we have to deal wlth (1) borrowing of words of various types; (2) the existence of other correspondence-systems either yet unknown or active only under special conditions; (3) analogy; (4) dialect mixture; (5) onomatopoeia; or (6) rhyme-words.* Any other working hypothesis appears destined to resolve linguistics into a congeries of meaningless guesses and to open the way to unbridled fantasies. We must also bear in mind that *only exact phonological correspondences (with the modifying factors just noted) enable us to determine either the connexions or lack of connexions of languages and dialects with each other so as to classify them, or to explain and understand their development, whether parallel or divergent, from their common source or sources. Phonology is the very foundation of all scientific linguistics,* (p. 82, 83)

अर्थात्—भाषा-विद्या के किसी सिद्धान्त ने इतना विवाद खड़ा नहीं किया, जितना उच्चारण के ध्वनि-अनुरूपता के नियमों के प्रसंग ने। स्थूलतम रूप में इस सिद्धान्त को उच्चारण के अपवाद-रहित नियम घोषित किया गया है। (अब इन्हें नियम नहीं, प्रत्युत उच्चारण के ध्वनि के अनुरूप कहते हैं।) दूसरी ओर कुछ विद्वान् अस्वीकार करते हैं, कि उच्चारण के ध्वनि के अनुरूपों में कोई ऐसे सुव्यवस्थित नियम हैं, जो विचार-योग्य हैं। तथापि समूची भाषा का विस्तृत निरीक्षण निम्नलिखित परिणाम को न्याय्य कहता है—

हमारे द्वारा कहे गए लक्षणों वाले ध्वनि के अनुरूप निरपवाद रूप से काम करते हैं, सिवाय उन अवस्थाओं के जब हमें अगली छः बातों का सामना करना पड़ता है—

१. विविध उधारे शब्दों का,
२. ध्वनि-अनुरूप के ऐसे प्रकारों का जो अभी हमें अज्ञात हैं, अथवा जो अवस्था-विशेषों में कार्य-शील होते हैं,
३. सादृश्यों का,
४. बोली सम्मिश्रणों का,
५. शब्दानुकृतियों का, अथवा
६. कविता में तुकान्त वा अनुप्रास के लिये बनाये गये शब्दों का।

दूसरी कोई काम-चलाऊ कल्पना भाषा-विद्या को निश्चय ही व्यर्थ अनुमानों के ढेरों में धकेल देगी, और विना लगाम की असम्भव-कल्पनाओं का मार्ग खोल देगी। हमें मन में यह अवश्य धारण करना चाहिये, कि (प्रतिबन्धों की पूर्वोक्त अवस्थाओं से विरहित) केवल ठीक ध्वनि-अनुरूप-ही हमें भाषाओं और बोलियों के परस्पर सम्बन्धों अथवा सम्बन्ध के अभावों को स्थिर करने के योग्य बनाते हैं, जिनसे उनका वर्गीकरण कर सकें, अथवा उनके विकास को, चाहे वह अपने सामान्यमूल अथवा मूलों से समानान्तर रेखाओं में अथवा विपरीत दिशाओं में जाने वाला हो, समझ और समझा सकें। इति।

समीक्षा—ग्रे जी का लेख ऐसा है, मानो पक्षी से उसकी पूँछ शतगुण बढ़ गई है। उच्चारण-भ्रंश के नियम इतने नहीं, जितने उनके ठीक सिद्ध करने के लिये प्रतिबन्ध अथवा अपवाद लगाये गए हैं। और प्रतिबन्ध भी ऐसे हैं कि तत्सम्बन्ध में जो गप्प चाही, हाँक दी। जो ध्वनिभ्रष्ट पद अपने कल्पित नियमों के विरुद्ध पड़ा, उसे विना प्रमाण उधारा (borrowed) अथवा सादृश्य (analogy) वर्ग के अन्तर्गत का कह दिया। नियम इसलिए ठीक है कि नियमों में न बंध सकने वाले पद उधारे आदि हैं, और ये शब्द उधारे हैं क्योंकि नियमों पर ठीक नहीं बैठते। कैसा उभयतोभ्रष्ट पथ है। भला कौन विज्ञ पुरुष इन्हें निरपवाद नियम कहेगा। निस्सन्देह ग्रे जी की वाक्य-रचना लक्षण पद के योग्य नहीं।

ग्रे जी "युवक वैयाकरणों" के पक्षपात युक्त मत के अनुयायी हैं, अतः चक्र में पड़े हैं और अनृतवाद के भागी हैं।

ध्यान रहे कि phonetic laws प्रयोग जितना अशुद्ध था, उतना ही phonetic correspondence प्रयोग भी अशुद्ध है। सीधा और युक्त प्रयोग था ध्वनि-भ्रंश अथवा उच्चारण-भ्रंश।

फिर देखिये, ग्रे जी धौंस देते हैं, अर्ध-पठित व्यक्ति के मन में एक भय उत्पन्न करना चाहते हैं। कहते हैं, यदि हमारी काम-चलाऊ कल्पना नहीं मानोगे, तो व्यर्थ कल्पनाओं के ढेर में धकेले जाओगे। क्योंजी, आपकी काम-चलाऊ कल्पना जब स्वयं अप्रमाणित, तर्कहीन और असत्य है, तो उस पर विश्वास न करना व्यर्थ अनुमानों की ओर कैसे ले जाएगा। इसके विपरीत विश्वास न करने वाला, खोज करते-करते सत्य-पथ ढूँढ ही लेगा, और आप स्वयं असत्य के मायाजाल में फँसे रहेंगे। निस्सन्देह ग्रे जी का प्रयत्न सफल नहीं हुआ। ये नियम एकदेशीय अथवा आंशिकमात्र हैं, व्यापक कदापि नहीं।

ग्रे का प्रयत्न—नियमों की कल्पना में अपवादों को समझाने के लिये ग्रे

के पूर्वजों और ग्रे महाशय ने जो छः प्रतिबन्ध लगाये, वे भी सम्पूर्ण अपवादों को दूर नहीं कर सके। अतः योरोप के अनेक विचारकों ने इन नियमों (laws) पर पूरा विश्वास नहीं किया।

बॉप—प्रसिद्ध भाषाविद् बॉप का आरम्भ से ही मत था कि ये ध्वनि-भ्रंश सर्वत्र एक सम नहीं हुए। उसने ग्रे के पूर्वज ग्रिम से अनेक स्थानों में अपने मतभेद का स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा —

(a) The simple maxim laid down elsewhere by me, and deducible only from Sanscrit, that the Gothic O is the long of a, (vol, I. preface, p. XIII.)

(b) In Greek the Sanscrit a, e, or o without presenting any certain rules for the choice between these three vowels;

(c) The Indian system of vowels, pure and consonantal and other altering influences, is of extraordinary importance for the elucidation of the German grammar—on it principally rests my own theory of vowel changes, which differs materially from that of Grimm (vol. I. p. XIII, note).

अर्थात्—(ए) सरल सूत्र जो केवल संस्कृत से अनुमानित हो सकता है, और जिसका मैंने अन्यत्र उल्लेख किया है, यह है कि गॉथिक ओ दीर्घ रूप है अ का।

(बी) ग्रीक भाषा में संस्कृत के अ, ए, अथवा ओ, इन स्वरों में से किसी के संवरण के नियम-विशेषों के विना ही काम कर रहे हैं।

(सी) स्वरों का भारतीय प्रकार, शुद्ध और व्यञ्जन युक्त और दूसरे परिवर्तनकारी प्रभावों (के साथ) जर्मन भाषा के व्याकरण के स्पष्टीकरण के लिए आश्चर्यजनक महत्त्व का है; प्रधानतया इसी पर, स्वर-परिवर्तनों का मेरा अपना मत आश्रित है। यह मत ग्रिम के मत से प्रभूत भिन्न है।

समीक्षा—बॉप का मत ही सत्य मत था। ध्वनि-भ्रंशों में नियम-विशेष सर्वत्र नहीं चलते। भाषा-विद्या के असाधारण मर्मज्ञ वररुचि का भी यही मत था। "युवक वैयाकरण" इस मत से डरते थे, अतः पक्षपात से उन्होंने इस सत्य की अवहेलना की। उनके चेले-चाँटों ने वररुचि के अपूर्व-व्याकरण की भी निन्दा की। इसका उल्लेख प्राकृत के प्रसंग में करेंगे।

बॉप के पश्चात् अन्य भाषाविदों ने भी बॉप के कथन के प्रधान अंश को अधिक स्पष्ट और बलशाली शब्दों में अभिव्यक्त किया। यथा—

१. ध्वनि-नियमों की अपूर्णता के विषय में **जैस्पर्सन** लिखता है—

(क) "but I want to point out the fact that nowhere have I found any reason to accept the theory that sound changes

always take place according to rigorous or 'blind' laws admitting no exceptions." Jesperson, p. 295.

अर्थात्—परन्तु इस तथ्य का संकेत कर देना चाहता हूँ कि मैंने कभी भी ऐसा कारण नहीं पाया कि इस मत को स्वीकार करूँ कि ध्वनिपरिवर्तन सदा कड़े नियमों के अनुकूल होता है और उसमें अपवाद नहीं होते।

(ख) **जैस्पर्सन** पुनः लिखता है—

"For some years a fierce discussion took place on the principles of linguistic science, in which young-grammarians tried to prove deductively the truth of their favourite thesis that "Sound-laws admit of no ex eptions" (first, it seems, enounced by Leskien.)."[1] Jesperson, p. 93.

अर्थात्—कुछ वर्षों तक एक भयानक विवाद हुआ, भाषा विज्ञान के मूल नियमों के विषय में, जिसमें 'युवक वैयाकरणों' ने अपने सर्व-प्रिय निबन्ध को सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ध्वनि-नियमों का कोई अपवाद नहीं होता।

समीक्षा—लेसकीन के विचार के आधार में यदि भारतीय प्राकृतों की तुलना साथ रहती, तो वह इस बात को न लिख सकता।

स्टुर्टिवण्ट का स्पष्टीकरण—

1. The climax of thirty years of increasing strictness in the treatment of sound changes came in 1876, when Leskien, in an essay entitled **Die Deklination in Slavish—Litanischen und Germanischen**, advanced the theory that phonetic laws have no exceptions.

(Linguistic Change, Sturtevant, p. 73, 74)

२. **मेर्यो पाई** भी लिखता है—

(क) "On the other hand, the "no exception" clause in the sound-law runs squarely into fully observable facts that contradict it." Mario Pei, p. 108.

अर्थात्—दूसरी ओर ध्वनि-नियमों का 'निरपवाद' मत पूर्ण सुस्पष्ट और दृष्टिगत ध्वनि-नियमों से पूरा टक्कर खाता है।

(ख) **मेर्यो पाई** पुनः लिखता है—

'Grimm's laws of sound-correspondences and the etymological connections between English and German are occasionally of use in the study of the German language, but they are just as often misleading." Mario Pei. p. 313.

अर्थात्—अंग्रेजी और जर्मन भाषाओं के ग्रिम-प्रदर्शित ध्वनि-साम्यताओं

के नियम और धातु-विषयक सम्बन्ध जर्मन भाषा के पढ़ने में प्रायः उपयुक्त हैं, पर उतने ही उलट मार्ग-प्रदर्शक हैं ।

३. **वर्नर** का विचार है—

He (Verner) never accepted the doctrine in its most pointed form as expressed in the formula "Ausuahmslosig Keit derl autgesetze" ('sound-laws not subject to exceptions'). Linguistica, p. 17.

अर्थात्—वर्नर ने यह सिद्धान्त कि ध्वनि-नियमों का कोई अपवाद नहीं, इसके अतीव तीक्ष्णरूप में कभी स्वीकार नहीं किया ।

४. **ब्लूमफील्ड की विवशता**—आक्षेपों की चोटों से तंग आकर ब्लूमफील्ड को भी लिखना पड़ा—

A great part of this dispute was due merely to bad terminology....................It was evident that the term "law" has here no precise meaning, for a sound change is not in any sense a law, but only a historical occurence (p. 354)

अर्थात्—इस विवाद का अधिकाँश केवल निकृष्ट संज्ञा के कारण था । यह स्पष्ट था कि "नियम" की संज्ञा का यहाँ कोई यथार्थ अर्थ नहीं, क्योंकि ध्वनि-परिवर्तन किसी अभिप्राय से भी नियम नहीं है । यह एक ऐतिहासिक घटनामात्र है ।

समीक्षा—वस्तुतः यह ध्वनि-भ्रंश है और इतिहास इसके कार्य-कारण भाव का पता देता है । भ्रष्ट-उच्चारण भाषाओं के ह्रास का एक कारण है ।

५. **वैण्ड्रिएस**—इस महाशय को भी मानना पड़ा—

These examples show that all the changes which Germanic consonants have undergone cannot be ascribed to a single law.
(p, 39)

अर्थात्—ये उदाहरण दिखाते हैं कि जर्मन भाषा में हुए व्यञ्जन-परिवर्तन एक ही नियम के अनुकूल नहीं हुए ।

वैण्ड्रिएस पुनः ऐसा ही लिखता है—

Phonetic laws can in no way be assimilated to those of physics and chemistry.

अर्थात्—ध्वनि-नियम किसी प्रकार भी रसायन शास्त्र आदि के नियमों की समता में नहीं आ सकते ।

६. **मैक्समूलर** को भी यह बात खटकती थी, अतः उसने देशभेद के अनुसार ध्वनि-नियमों का होना लिखा —

Phonetic laws peculiar to the language of England.[1]

अर्थात्—ध्वनि-परिवर्तन के नियम, जो इंगलैण्ड की भाषा में विशिष्ट हैं।

७. **अर्टेल** ने दूसरे प्रकार से इस आपत्ति के सम्मुख अपने को सान्त्वना दी—

the phonetic law rests its claim to recognition not upon a casual explanation but upon its relative universality. (Lec. on the Study of L., p. 260.)

अर्थात्—ध्वनि-नियम इसलिए स्वीकृति के अधिकार का भागी नहीं कि इसमें कार्य-कारण भाव है, प्रत्युत इसलिए कि यह अपेक्षाकृत व्यापक है।

अर्टेल का स्पष्टीकरण भी अमान्य है। यह नियम अपेक्षाकृत व्यापक भी नहीं है।

इन नियमों की सापेक्ष (relative) व्यापकता आगे पता लगेगी।

८. **गुरो** भी भाषा मत में पूरा विश्वास रखता हुआ इन नियमों को सब कालों के लिए अपरिवर्तनशील (not laws in the sense of invariable principles at all times) नहीं मानता। (p. 59.)

भाषातत्त्व-विद् भरत मुनि का निर्णय

प्राकृत के विभ्रष्ट अथवा तत्सम सम्पूर्ण विकार निरपवाद नियमों पर नहीं हुए, ऐसा महामुनि भरत का मत है। यथा—

ये वर्णाः संयोगस्वरर्णान्यत्वमूनतां चापि।
यान्त्यपदादौ प्रायो विभ्रष्टांस्तान् विदुर्विप्राः॥

नाट्यशास्त्र १७।५।६॥

अर्थात्—जो वर्ण संयोग में स्वर अथवा वर्ण के अन्यत्व और न्यूनता को प्राप्त होते हैं, पद के मध्य वा अन्त में प्रायः। उनको विप्र विभ्रष्ट जानते हैं।

इस वचन में भरत मुनि ने 'प्रायः' शब्द से ध्वनि-भ्रंश के नियमों को स्पष्ट ही सापवाद माना है।

इतनी भूमिका के पश्चात् अब योरोप के आविष्कृत वर्ण-ध्वनि-परिवर्तन नियमों का स्वरूप कहा जाता है।

ग्रिम का वर्ण-परिवर्तन (sound-shift) नियम

१. सन् १८८२ में जेकब ग्रिम के जर्मन भाषा व्याकरण का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। उसमें उन्होंने जर्मन वर्ण-ध्वनि-परिवर्तन का एक

1. L. S. L., Vol. II, p. 19, note.

नियम बनाया, जिसे मैक्समूलर आदि 'ग्रिम-नियम' कहते हैं। तदनुसार यदि एक ही धातु संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, गाथिक और ओल्ड हाई जर्मन में विद्यमान होता है, तो उसके अक्षरों का रूप निम्नलिखित हो जाता है[1]—

संस्कृत-ग्रीक-लैटिन	—क त प	ग द ब	घ ध भ
गाथिक	—घ ध भ	क त प	ग द ब
ओल्ड हाई जर्मन	—ग द ब	घ ध भ	क त प

फिर इस नियम का कुछ सुधार किया गया और गाथिक भ तथा जर्मन ब के स्थान में F तथा V ध्वनियाँ मानी जाने लगीं।

अन्य प्रकार से **संशोधित ग्रिम-नियम**—

(१) पूर्व इण्डो-योरोपिअन के अघोष प, त, क पूर्व जर्मेनिक के अघोष फ, थ, ह में परिणत हुए।

(२) पूर्व इण्डो योरोपिअन के घोष ब, द, ग पूर्व जर्मेनिक में अघोष प, त, क हुए।

(३) पूर्व इण्डो योरोपिअन के घोष भ, ध, घ पूर्व जर्मेनिक में घोष ब, द, ग हो गए।

यही भ, ध, घ पूर्व-ग्रीक में अघोष फ, थ, ख रहे।

इस नियम की पहले प-ध्वनि पर विशेष प्रकाश डाला जाता है।

संस्कृत, ग्रीक, लैटिन—पितृ, पातेर (pater), पेतर (pater)

गाथिक— fader; जर्मन—vater = (फाटेर)

संस्कृत पर्ण; लिथ्० sparna; हाई जर्मन varna, Farn; एंगलो सैक्स fearn; अंग्रेजी fern.

सं०—पाद=पद; लैटिन ped-is; अंग्रेजी foot.

शोधित ग्रिम नियम के अनुसार एक मूल भारोपिय (इण्डोयोरोपीय) भाषा थी, जिसका 'प' वर्ण ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत में 'प' ही बना रहा। पर गाथिक, जर्मन, अंग्रेजी और डच में 'फ' (F) वा 'व' (V) वर्ण हुआ।

प्राकृत में भी संस्कृत प वर्ण का विकार व हुआ है—

धेनुपाल	धनवाल
गोपाल	गोवाल

इसी प्रकार ग्रिम के अनुसार संस्कृत, ग्रीक और लैटिन में त वर्ण रहा और उसके स्थान में गॉथिक और अंग्रेजी में थ (th) हो गया। यथा —

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	गॉथिक	अंग्रेजी
त्रि	treis (त्रेइस)	tres (त्रेस)	threis (थ्राइस)	three (थ्री)
तृण				thorn (थॉर्न)
तृषा अथवा तर्ष			thars	thirst (थर्स्ट)

१. फैरर के अनुसार, पृ० २६-२७।

गॉथिक और अंग्रेजी में ही नहीं, प्रत्युत त का थ में परिणमन[1] अवेस्ता में भी है। यथा—मित्र=मिथ्र; क्षत्रम्=ख्षथ्रम्; पुत्र=पुथ्र आदि। पर यह सर्वत्र नहीं है, यथा—भ्रातर=ब्रातर; सप्ताह=हफ्तः।

भारतीय भाषाओं में, पंजाबी भाषा की भिन्न-भिन्न बोलियों में भी, तकार वाले एक ही संस्कृत रूप के त और थ वाले दो रूप मिलते हैं। यथा—तृषा=त्रे और थ्रिहा। तुहाडा और थुहाडा।

ग्रिम-नियम की त्रुटि

भौतिक वैज्ञानिक नियम सदा एक समान रहते हैं। पर ग्रिम का नियम त्रुटिपूर्ण ही रहा। कारण, यह एकदेशीय है। यथा—

(क) ग्रिम नियम के अनुसार संस्कृत शब्दों में श्रूयमाण 'प' श्रुति लैटिन में भी 'प' ही रहनी चाहिए, परन्तु इसके सर्वथा विपरीत, वह कहीं-कहीं 'फ' (F) ध्वनि में परिवर्तित भी देखी जाती है। यथा—संस्कृत का 'पलाशक' शब्द लैटिन में [Butea] Froidosa हो गया है।

(ख) इसी प्रकार संस्कृत पदों के आदि और मध्य में होने वाली 'प' ध्वनि अंग्रेजी में 'फ़' ध्वनि रूप में परिवर्तित होनी चाहिए, परन्तु अंग्रेजी में वह अनेक स्थानों पर 'फ' रूप में परिवर्तित न होकर 'प' रूप में ही उपलब्ध होती है। यथा—

संस्कृत	अंग्रेजी		पंजाबी	अन्य योरो० भाषा
१. पराग	pollen	(पोलन)		
२. परिक्री	purchase[2]	(पर्चेज़)		OF. porchas
३. परित्रातृ	protector	(प्रोटैक्टर)		
४. पलित	pale	(पेल)	पीला	Lat. pallidus
५. पीड़ा	pain	(पेन)		
६. कल्पन[3]	clipping	(क्लिप)	कप्परणा	
७. कल्पक[4]	(नापित)			Lith. kerpikas[5]
८. स्पश	spy	(स्पाई)		Lat. spex
९. प्लीहन्	spleen	(स्प्लीन)		Gr. splen

इन उदाहरणों से ग्रिम नियम की अव्यापकता स्पष्ट है।

---

१. इस प्रयोग के लिए देखो, राजशेखर-काव्य मीमांसा १।७॥
२. तुलना करो, E. procure.
३. तुलना करो—क्लृप्तकेशनखश्मश्रु। मनु।
४. अर्थशास्त्र।
५. मोनियर विलियमज़ के कोश में।

भारतीय अपभ्रंशों में प के रूपान्तर

यदि भारतीय प्राकृतों तथा अपभ्रंशों में ध्वनि-परिवर्तन का व्यवहार देखा जाए तो पता लगता है कि संस्कृत पदों में विद्यमान 'प' वर्ण संस्कृत से विकार को प्राप्त हुई प्राकृत आदि भाषाओं में कुछ स्थानों पर, विशेषकर पदादि में 'फ' और अन्यत्र 'व' हो जाता है, तथा कहीं-कहीं 'प' ही रहता है। यह तथ्य भारत-युद्ध से बहुत पूर्व भरत मुनि ने जान लिया था, पर शोक है कि पक्षपाती योरोपीय लेखकों ने कभी इस सत्य का नाम तक नहीं लिया।

ग्रिम यत्किंचित् अंश में भरत मुनि के चरण चिन्हों पर

ग्रिम से सहस्रों वर्ष पूर्व भरत मुनि (भारत युद्ध से ४५०० वर्ष पूर्व) ने नाट्यशास्त्र के १७वें अध्याय में संस्कृत से विकार को प्राप्त हुई प्राकृत भाषा के रूपों का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित कारिकांश कहे हैं—

आपानं आवाणं भवति पकारेण वत्व (नत्व) युक्तेन।

परुषं फरुसं विद्यात् पकारवर्णोऽपि फत्वमुपयाति ॥१५, १६॥

अर्थात्—संस्कृत के 'आपान' शब्द का प्राकृत में 'आवाण' रूप हो जाता है।[1] 'परुष' का फरुस बनता है और कहीं-कहीं 'प' अपने रूप में भी रह जाता है।

अन्तिम तथ्य 'अपि' शब्द से स्पष्ट है।

भरत मुनि प्रदर्शित रूपान्तरों के कतिपय उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

'प' को 'फ' हुआ

१ परशु	फरसा	पञ्जाबी
२. परिखा[2]	फडिहा	रावणवहो १२।७५॥
३. परिघ[2]	फडिह	,, ,, ५।५४॥
४. परुष[2]	फरुस	नाट्य शास्त्र १७।२६॥ धम्मपद, रावणवहो
५. परुषासि[2]	फरुसासि	लीलावई ११८८
६. परूषक	फ़ालसा (पंजाबी)	सुश्रुत डल्हण टीका
७. पर्शुका	फासुका	धम्मपद (पाली)
८. पलित	फलित	धम्मपद
९. पाश	फांसी, फास्नु	नेपाली
१०. पारिभद्रः	फरहट्ट[3]	

---

१. इस प्रकार का पूर्व लिखा गया रूप, गोपाल—गवाल है।

२. परुष-परिघ-परिखासु फः। वररुचि, प्राकृत सूत्र २।३६॥

३. आह्निक प्रकाश, पृ० १२४।

भविसियत्तकहा के बड़ोदा संस्करण का सहकारी सम्पादक पाण्डुरंग दामोदर गुणे (सन् १९२३) 'फंस' का मूल 'स्पर्श' बताता है। प्राकृत प्रकाश में प्राकृत फंसो का मूल स्पर्श दिया है (३।३६), परन्तु फाँसी शब्द का यह मूल नहीं, स्पर्श अर्थ वाले का मूल है। स्पर्श का एक प्राकृतरूप 'फरिसो' भी बनता है (प्राकृत प्रकाश ४।६२)। गुणे की भ्रान्ति रावणवहो (इण्डेक्स पृष्ठ १७३) के सम्पादक सीगफ्राईड गोल्डश्मिट के अन्धाधुन्ध अनुकरण का फल है। गुणे का भाषा-ज्ञान गुरुओं से विभिन्न कैसे हो सकता था।

११. पांसन	फंसण	भविसियत्तकहा पृष्ठ १४९
१२. पृषत	फुसी-फुसरो	नेपाली
१३. प्रुषित	,, ,,	,,
१४. स्पर्श	फरिस	रावणवहो
१५. पाट[1]	फाड़ (हिन्दी)	(पाड़-पंजाबी)
१६. पाटन[2]	फाड़ना ,,	

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'प' के आगे जब प्रायः 'र' और 'ल' की श्रुति होती है तब 'प' को 'फ' हो जाता है।

'प' को 'व' हुआ[4]

१. त्रिपथगा	तिवहगा	रावणवहो सूची पृष्ठ १६३
२. विटप	विडव	,, ,, ,, ,, १८५
३. व्यपदेश	ववएस	,, ,, ,, ,, १८५
४. व्यापार	वावार	,, ,, ,, ,, १८५
५. पादप	पाअव	रावणवहो सूची पृष्ठ १७१
६. भिन्दिपाल	भिण्डिवाल	वररुचि प्राकृत सूत्र ३।४६
७. कपिल	कविल	सन्मतितर्क कारिका

'प' का 'व' रूपान्तर प्राकृत आदि में अभी तक हमें पदादि में नहीं मिला। पंजाबी में अपि को वि होता है।

आश्चर्य है कि संस्कृत 'पितृ' शब्द के लिए जर्मन Vater शब्द में ध्वनि यद्यपि 'फ' की है, पर लिपि में V (= व) ही है।

इसी फ ध्वनि के व में परिणमन के कारण अंग्रेजी में—

knife के बहुवचन knives में, तथा

wife ,, ,, wives में

---

१. पाट्यति का घञन्तरूप।

२. विपाटनात्। निरुक्त ९।२६॥

४. तुलना करो, वररुचि का सूत्र—पो वः। २।१३॥

फ का व में परिणमन हुआ है।

हमारे पूर्व दर्शाए उदाहरणों से स्पष्ट है कि ग्रिम की अपेक्षा उससे सहस्रों वर्ष पूर्व लिखा गया भरत मुनि का नियम अधिक व्यापक तथा यथार्थ है। भरत का नियम प्राकृत-भाषा विषयक है। यह नियम सब अपभ्रंशों पर समान रूप से चरितार्थ न हो सकेगा।

भरत की महत्ता

(ग) इसी प्रकार ग्रिम का भाव है कि भारोपीय भाषा के 'क' वर्ण को गॉथिक, जर्मन और अंग्रेजी भाषा में 'ह' वा 'ह्व' होता है, और ग्रीक, लैटिन और संस्कृत में 'क' ही रहता है। तथा भारोपीय भाषा का 'त' वर्ण गॉथिक, जर्मन, अंग्रेजी में 'थ' हो जाता है, परन्तु ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत में 'त' ही रहता है।

ग्रिम का यह नियम भी ठीक नहीं। अंग्रेजी आदि भाषाओं के बहुत से पदों में 'क' संस्कृतवत् 'क' ही रहा है, 'ह' वा 'ह्व' नहीं हुआ। यथा—

	संस्कृत	अंग्रेजी	ग्रीक	प्राकृत
१.	क्रूर	cruel=(क्रूएल)		
२.	कपाल	cup=(कप)	cephale	कवाल[1]
३.	क्रमेल	camel=(कैमल)	kamelos	

पाश्चात्य मोनियर विलियम्स अपने संस्कृत-अंग्रेजी कोश में 'क्रमेल' शब्द पर लिखता है—

borrowed from Greek.

अर्थात्—संस्कृत का 'क्रमेल' शब्द ग्रीक भाषा से उधार लिया गया है।

मोनियर विलियम्स की प्रतिध्वनि मैकडानल ने की। देखो वैदिक ग्रामर, पृ० ६, टिप्पण ५। मोनियर विलियम्स तथा मैकडानल की प्रतिध्वनि करता हुआ कीथ भी लिखता है—

With similar ingenuity the useful camel was metamorphosed into क्रमेल suggesting connexion with क्रम to go. (H. S. L., p. 25)

अपने पक्ष की निर्बलता को जानता हुआ कीथ एक तर्क उपस्थित करता है। तदनुसार क्रम धातु से सम्बन्ध प्रकट करने के लिए कैमेल के क में रेफ जोड़ा गया।

यदि ऐसी बात होती तो क्रमेल असाधु शब्द होता। पर किसी भी संस्कृत ग्रन्थ में ऐसा संकेत नहीं है। स्पष्ट है कि जिस प्रकार अनेक प्राकृतों में नीचे

---

१. वररुचि २।१३॥

का संयुक्त र् उड़ा है उसी प्रकार ग्रीक में भी, जो एक प्राकृत का एक प्रकार है, क्रमेल का संयुक्त र् उड़कर कैमेलॉस रूप रह गया है।

अपने कल्पित भाषा-नियमों को सच्चा सिद्ध करने के लिए पाश्चात्य लेखक इसी प्रकार की गप्पें हाँकते हैं।

संस्कृत	अंग्रेजी
४. कर्तन	cutting=कटिंग
५. क्रुक्त	crooked

इन उदाहरणों में 'क' का 'क' ही बना रहा, 'ह' वा 'ह्व' नहीं हुआ।

अब 'त' और 'थ' को लेते हैं। यह सत्य है, संस्कृत में जहाँ 'त' था, वहाँ अंग्रेजी आदि में बहुधा 'थ' हो गया।

१. त्रि three थ्री[1]

२. तृषा thirst=थर्स्ट

पर इस 'त' को भी अंग्रेज़ी आदि में सर्वत्र 'थ' नहीं होता। यथा—

१. तटाक=तडाक tank=टैङ्क[2]

२ तरु tree=ट्री

३. गर्त cart=कार्ट

जर्मनिक भाषाओं में भी संस्कृतस्थ त का सर्वत्र थ नहीं हुआ। यथा—

अष्ट गॉथिक=ahtaw

अस्ति " =ist

स्मरण रहे कि संस्कृत के व्यापक प्रभाव से भयभीत होकर योरोपीय लेखकों ने शनैः शनैः इस बात का यत्न आरम्भ कर दिया था कि योरोपीय भाषाओं के अनेक शब्दों का सादृश्य संस्कृत से न माना जाए। अतः योरोपीय भाषाओं के जो नए कोश बने, उनमें बहुत थोड़े शब्दों की संस्कृत शब्दों में तुलना की गई। यथा—आक्सफोर्ड कोष में।

वस्तुतः अपभ्रंश भाषाओं के वर्ण-विकार-नियम कभी भी व्यापक नहीं होंगे।

ग्रिम-नियम के अपवादों पर उत्तरोत्तर काम

ग्रिम की तीन प्रधान भूलें हमने दिखा दीं। अधिक परीक्षा करने पर ज्ञात

---

१. प्राकृत में संस्कृत 'स्त' को थ हो जाता है। यथा—स्तन=थण।

२. हेमचन्द्र के शब्दानुशासन, भाग १, १७ ख पर तटाक शब्द पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिंग दोनों रूपों में बताया गया है। अंग्रेजी शब्द में अनुस्वार का आगम तटाकम् रूप के कारण हुआ। तटाकम् रूप महाभारत, सभापर्व तथा रुद्रदामा के शिला लेख में उपलब्ध है।

होता है कि ग्रिम-नियम अपवाद-बहुल हैं।[1] ग्रिम को स्वयं भी इस त्रुटि का ज्ञान था।

ग्रासमैन—कालान्तर में **ग्रासमैन** (सन् १८६२) ने इनका कुछ संशोधन किया। इससे अपवाद कुछ न्यून माने गए, पर अधिक न्यून नहीं।

ग्रासमैन ने अनुमान किया कि संस्कृत में जहाँ—

जुहोति[2] जुह्वतः जुह्वति
बोधति
बिभर्ति (डर)
दभ्नाति

रूप मिलते हैं, जिनमें ध, भ का पूर्वाक्षर ब, द है, वहाँ मूल भारोपीय भाषा में पहले—

हुहोति, भोधति, भिभर्ति और धभ्नाति रूप रहे होंगे। तब इस रूप के भ, ध आदि के स्थान में गॉथिक आदि में ब, द हो गए। यद्यपि ग्रिम-नियम के अनुसार यहाँ चाहिएँ प, त थे। तदनुसार संस्कृत बोधति और दभ् के गॉथिक में piudan और taubs मिलने के स्थान पर biudan और daubs मिलते हैं। गॉथिक के ये ब और द रूप मूल भाषा के भ और ध का पता देते हैं।

वस्तुतः यह सब कल्पना मात्र है। संस्कृत रूप **बोधति** के स्थान में पहले **भोधति** रूप था, यह अनुमान है। अनुमान व्यापक प्रत्यक्ष के आश्रय पर होता है, न कि संकुचित अनुमान के आश्रय पर। इसलिए ग्रिम और ग्रासमैन दोनों की कल्पानाएँ तर्क-सिद्ध नहीं हैं।

ग्रिम का प्रदर्शन आंशिक रूप से ठीक है। उसने उतना अंग भरत से लिया है। पर ग्रासमैन का मत कल्पना से अधिक नहीं। ग्रासमैन ने संस्कृत रूप से चोरी करके नियम तो बनाना चाहा, पर बना नहीं सका।

पश्चात् डेनिश विद्वान् कार्ल अडोल्फ वर्नर (सन् १८४६ से १८९६) ने सन् १८७५ में एतद्विषयक एक और संशोधन मुद्रित कर विशेष ख्याति प्राप्त की।[3]

---

१. भाषा-विज्ञान, डा० मंगलदेव कृत, सन् १९५१ पृष्ठ २६५, २६६।
२. आश्चर्य है कि अरबी के ईद-उल-जुहा शब्द में जुहा का जुहोति (हवि देना) अर्थ ही है, और ध्वनि ज से ज़ की हुई है।
३. जैस्पर्सन लिखता है—
It was Verner who first made men properly observe the sweeping role which accent plays in all linguistic changes, as he himself put it a few years later: "We are

जब वर्नर ने देखा कि—

संस्कृत पितृ के त के स्थान पर जर्मन में *vatar* और संस्कृत भ्रातृ के त के स्थान पर जर्मन में bruder है, तो उसने एक आविष्कार किया। अर्थात् एक ही त के लिए एक शब्द में t और दूसरे शब्द में d क्यों है। उसका उल्लेख जैस्पर्सन करता है—

A whole series of consonant alterations in the old Gothonic languages was dependent on accent, and (more remarkable still) on the primeval accent, pre-erevеd in its oldest form in Sanskrit only, (p. 93)[1]

अर्थात्—जर्मन भाषा में इस भेद का कारण स्वर से समझ में आता है। यह स्वर विधान अपने प्राचीनतम रूप में केवल संस्कृत में सुरक्षित है।

स्वर का स्पष्टीकरण—जब उदात्त स्वर क, त, प के ठीक पहले हो, तो ग्रिम का नियम काम करता है, पर जब उदात्त स्वर क, त, प के पश्चात् आए तो जर्मन में इन संस्कृत ध्वनियों के स्थान में ग, द, ब हो जाते हैं।

संस्कृत सप्त से गॉथिक sibun (सिबुन) में ब इसी नियम का फल है।

तालव्य-नियम आविष्कार—पर अपवादों को वे भी अधिक न्यून नहीं कर पाए। तदनन्तर तालव्य नियम का आविष्कार घोषित किया गया। इसकी डिण्डिभी बहुत पीटी गई। योरोप के भाषाविदों को इस पर बड़ा गर्व है। इसलिए इस एक नियम की परीक्षा करने से ध्वनि-परिवर्तन के सारे इतिहास पर और योरोपीय अन्वेषकों की योग्यता पर विशेष प्रकाश पड़ेगा। अतः वह परीक्षा आगे की जाती है।

तालव्य-नियम की विवेचना

तालव्य-नियम का मूलाधार (प्रथम भाग)

पूर्व मत—प्रारम्भ में योरोप के कुछ लेखकों का विचार था कि संस्कृत के जिन शब्दों में 'अ' स्वर का प्रयोग है और उसी 'अ' के स्थान में ग्रीक, और लैटिन में जहाँ 'ए, ओ' का रूप मिलता है, वहाँ निश्चय ही ग्रीक और लैटिन

at last on the way to recognize that accent does not like the accentuation mark, hover over words in a careless apathy but as their living and life-imparting soul lives in and with the word, and exerts an influence on the structure of the word and thereby of the whole language, such as we seem hitherto to have only had the faintest conception of." Linguistica—1933, p. 16.

१. तुलना करो, ब्लूमफील्ड, पृ० ३०७।

में संस्कृत 'अ' का ही विकृतरूप 'ए, ओ' हैं। बॉप आदि का यह सत्य पक्ष तालव्य-नियम पर तुषारपात था। यथा—

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन
अस्ति	esti	est
जनः	genos	genus

उत्तरकालीनमत—तत्पश्चात् नवकल्पित तालव्य-नियम के अनुसार योरोप के ब्रुगमन आदि कथित-भाषाविदों ने यह मत दृढ़ किया कि संस्कृत से पूर्व एक भारोपीय भाषा थी। उसमें वर्तमान अ, ए और ओ ध्वनियों का संस्कृत में केवल 'अ' रूप रह गया और 'ए, ओ' ध्वनियों का लोप अथवा अ-ध्वनि में निमज्जन हो गया। इसके विपरीत ग्रीक और लैटिन ने मूल भाषा की ए और ओ ध्वनियों को भी सुरक्षित रक्खा।[1]

पूर्वमत-सत्यता में ग्रीक का प्रमाण—इन मतों में से पुरातन विचार ही वस्तुतः सत्य था। इसके अनेक प्रमाण हैं कि ग्रीक लोग संस्कृत की 'अ' ध्वनि को बहुधा 'ए' और 'ओ' के रूप में बोलते थे। अतः योरोपीय भाषाविदों की नवीन कल्पना प्रमाण-शून्य है। निम्नलिखित उदाहरण इस नवीन कल्पना का खण्डन करते हैं—

	संस्कृत नाम	प्राकृत	ग्रीक रूप
१.	मधु[2]		मेथु (methu)[3]
२.	मथुरा	महुरा	मेथोरा (Methora)[4]
३.	शतद्रु		हेज़िड्रस (Hesidrus;[5] Zadadros[6])

---

१. उह्लनबैक, पृ० ६३, ६४। बरो, पृ० १०३। ब्लूम०, पृ० ३०७-३०८।

२. यदि कोई कहे कि ग्रीक भाषा के 'मेथु' शब्द का किसी प्राचीन योरोपीय भाषा से सम्बन्ध है और संस्कृत भाषा के 'मधु' शब्द के उच्चारण में उसी की 'ए' ध्वनि की 'अ' ध्वनि हुई है, तो यह कहना उपहास-जनक होगा, क्योंकि भारतीय मथुरा शब्द का ग्रीक-उच्चारण 'मेथोरा' स्पष्ट ही योरोपीय विचार पर तुषारपात है।

3. Uhlenbeck, C. C. M. S. Ph., 1948, p. 87.
पंजाबी में संस्कृत 'मथानी' का 'मधानी' विकार हुआ।

4. Megasthenes, p. 142.

5, Megas. p. 130.

६. संस्कृत ह का ईरानी में ज स्पष्ट है। यथा हिम=जिम। परन्तु Zadadros रूप Hesidrus का रूपान्तर नहीं, प्रत्युत सीधा शतद्रु का है।

४. दशार्ण[1]	दसोन धसन	दोसोर्न	(Dosorna[2], Dosaron, Dosarene[3])
५. माही[4]			मोफिस (Mophis[5])
६. यमुना	जउणा (भवि० कहा) जमना (हिन्दी)		जोमनेस (Jomanes,[6] Diamuna,[7] Iomanes[8])

एक नया प्रमाण—गान्धार के पास अशोक का एक नया शिलालेख मिला है। उसमें भी संस्कृत अ को ग्रीक रूप में ओ हुआ है—

प्रियदर्शी पियो-दासस

पूर्व-निर्दिष्ट उदाहरणों में प्रथम दो शब्द **मधु** और **मथुरा** हैं, उनके म-वर्ण के उत्तरवर्ती अ' को ग्रीक में 'ए' हो गया है। और **शतद्रु** शब्द के श को ह और उससे उत्तरवर्ती 'अ' को 'ए'। इसी प्रकार दशार्ण शब्द के द के उत्तरवर्ती 'अ' और श के उत्तरवर्ती 'अ' को ओकार हो गया है। तथा माही शब्द के म-वर्ण के उत्तरवर्ती 'आ' और यमुना के य वर्ण के उत्तरवर्ती 'अ' को 'ओ' हुआ है। ग्रीक 'जोमनेस' प्राकृत जउणा का रूपान्तर नहीं है। ग्रीक रूप

---

१. योरोपियन लेखकों के अनुसार यदि कल्पित भारोपीय भाषा का अस्तित्व संसार के सिर पर मढ़ा ही जाए तो संस्कृत भाषा के 'दशार्ण' शब्द से पहले किसी और भाषा में 'दोसोरोन' रूप मानना पड़ेगा। यह उपहास की पराकाष्ठा होगी।

2. Ptolemy, p. 252, 253.

3. Periplus. E. Sea, p. 47.

४. टालेमी के ग्रन्थ के भारतीय संस्करण का सम्पादक सुरेन्द्रनाथ मजुमदार शास्त्री अपने टिप्पण पृष्ठ ३४३ पर लिखता है—"इस शब्द के ग्रीक रूप से अनुमान है कि पुरातन नाम "माभी" था। शास्त्री जी को ज्ञात नहीं कि टालेमी से ३३०० वर्ष पहले जैमिनि ब्राह्मण में 'माही' रूप ही है। आधुनिक योरोपियन भाषामत के मिथ्या प्रभाव के कारण सत्य की कितनी अवहेलना हुई। इसमें दूसरी अड़चन भी है कि "माभी" शब्द की कल्पना कर लेने पर भी "मा" के "आ" का ग्रीक में "ओ" कैसे हो गया। वंगीय श्री सुनीतिकुमार जी को ही अल्पाध्ययन के कारण ये बातें समझ में नहीं आईं, तो उनके चेले-चाँटों को कैसे समझ में आ सकती थीं।

5. Ptolemy p. 38, 343.

6. Megas. p. 130.

7. Ptolemy, Notes, p. 358. 8. Megas. p. 145.

में म-वर्ण विद्यमान है। अतः वह स्पष्ट संस्कृत शब्द यमुना का रूपान्तर है।

पंजाबी से प्रमाण—संस्कृत में—अरण्य (=जंगल), पंजाबी—एरना (जंगली गोबर)।

ऐसे उदाहरणों की चोटों से तंग आकर कई लेखक लिखते हैं कि नगरों और पुरुषों आदि के नाम भाषाओं की तुलना में सहायक नहीं होते। यह कथन सर्वथा हेय है। अपने पक्ष को निराधार और खण्डित होते देखकर ईसाई लोगों ने यह छलरूप प्रतिज्ञा की है।

कीथ की घबराहट—महापक्षपाती ईसाई कीथ घबराहट में पड़ा हुआ लिखता है—

...Greek renderings of Indian terms. These are neither wholly based on Sanskrit forms nor on Prakrit. (H.S L., p. 16.)

अनृत भाषी के लिए जब कोई और मार्ग न निकला, तो यह निराधार प्रतिज्ञा करके उसने भोले-भाले अनेक पाठकों को धोखा देना चाहा।

ग्रे का स्पष्ट कथन—ग्रे लिखता है—

Proper names frequently preserve archaic features which elsewhere have disappeared. (p. 244)

अर्थात्—अनेक अति पुरातन रूप जो अन्यत्र लुप्त हो चुके हैं, नाम-विशेषों में बहुधा सुरक्षित हैं।

प्राकृत से पुष्टि—संस्कृत पदों में प्रयुक्त '**अ**' ध्वनि के 'ए' और '**ओ**' विकार केवल ग्रीक और लैटिन आदि भाषाओं में ही नहीं होते, अपितु उच्चारण-दोष के कारण संस्कृत से साक्षात् विकृत भारतीय प्राकृतों और अपभ्रंशों में भी देखने में आते हैं। यथा—

अ को ए

	संस्कृत	प्राकृत आदि	
१.	अत्र	एत्थ[1]	(मियांवाली बोली-इथाई, पंजाबी एथे)
२.	अत्रान्तरे	एत्थंतरि	भविसि० कहा, पृष्ठ ३६
३.	अधस्थ	हेठ	(पं०—हेठां)
४.	अरे	ए	
५.	कदली	केला	
६.	त्वत्तः	तेत्थों	(पंजाबी)

१. गुणे, पृ० ४५, संस्कृत इत्था से प्राकृत एत्थ का सम्बन्ध बताता है। हमारा विचार है कि अर्थ-भेद के हेतु इन दोनों का कार्य-कारण भाव नहीं है। इत्था का अर्थ है, इस प्रकार, ऐसा।
जेंद—इध, ग्रीक—इथा, गाथिक—इथ। मोनियर विलियम्ज़ अपने कोश में इनका सम्बन्ध इह से जोड़ता है।

७.	मत्तः	मेत्थों	पंजाबी
८.	यथा	जेम	भविसि० कहा पृष्ठ ६
९.	मन्यते	मेंति	अशोक का शिलालेख[१]

अ अथवा आ को ओ

१.	असौ	ओ, ओह	
२.	अवपतन	ओवअण	रावणवहो
३.	अवकाश	ओआस	,,
४.	अवश्याय	ओस	
५.	महत्		Mohat[२]
६.	धावक		धोबी (पंजाबी)

उनका कथन है कि 'अव' में अ के उत्तरवर्ती व के योग से प्राकृत में 'ओ' हुआ है। वस्तुतः यह ठीक नहीं। यहाँ 'अ' को ही 'ओ' हुआ है और उत्तर-वर्ती 'ओ' सदृश 'व' ध्वनि का लोप। क्योंकि अनेक स्थानों में 'अ' के उत्तर 'व' न होने पर भी 'अ' को 'ओ' देखा जाता है, और जहाँ अ से पूर्व 'व' ध्वनि होती है, वहाँ 'अ' को 'ओ' हो जाने पर भी 'व' ध्वनि का लोप नहीं होता और वह कहीं-कहीं 'ब' में परिवर्तित हो जाती है। यथा—

६.	वट	बोड़ (पंजाबी)
७.	यष्टि	सोटी (,,)[३]
८.	खनन	खोदना (पंजाबी, हिन्दी)
९.	खर	खोता (पंजाबी)

कौन नहीं जानता कि बंगाली लोग आज भी अकार का उच्चारण बहुधा ओकार सदृश करते हैं।

ध्वनि-शास्त्र का असाधारण ज्ञाता आपिशलि

वस्तुतः एक 'अ' ध्वनि ही देश, काल और परिस्थिति के कारण उत्पन्न हुई उच्चारण-विकलता से इ, उ, ए और ओ आदि ध्वनियों में परिवर्तित हो जाती है। इस तथ्य के कारण का निर्देश आज से लगभग पाँच सहस्र (५०००) वर्ष से पूर्ववर्ती आपिशलि ने अपने शिक्षा-ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से किया है। वह अकार के विभिन्न उच्चारण-स्थानों का निर्देश करता हुआ लिखता है—

---

१. Inscriptional Prakrit, p. 5. (IV)

2. Thomas Maurice, History of Hindostan, MDCCCXX =1820, p. 49.

३. कर्पूर मंजरी, मनोमोहन घोष संस्करण, पृ० ५२ पर यष्टि का विकार वररुचि २।३२ के अनुसार लट्ठी बताया है।

सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके ।[1]

अर्थात्—मुखान्तर्गत उच्चारण के सब स्थान अवर्ण के स्थान होते हैं। ऐसा कई एक आचार्यों का मत हैं।

इससे स्पष्ट है कि जब उच्चारण-विकलता के कारण 'अ' का उच्चारण तालु, ओष्ठ, दन्ततालु अथवा दन्तोष्ठ से होगा तब वह निःसन्देह क्रमशः इ, उ, ए अथवा ओ ध्वनि के समान ही उच्चरित होगा।

इसके लिए निम्न उदाहरण विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

क—संस्कृत में 'अग्निः' शब्द है, लैटिन में 'इग्निस्' पुरानी लिथुएनियन में 'उङ्निस्' और स्लैवॉनिक में 'ओग्नि'[2]।

ख—इसी प्रकार संस्कृत में 'रथः' शब्द है, लिथूएनियन में 'रतस्' और लैटिन में 'रोथ' हो गया है।

ग—अंग्रेजी के दो शब्द हैं। एक octapody (ओक्टापोडी=अष्टापदी और दूसरा quadruped (क्वाड्रुपेड)=चतुश्पद अथवा चतुर्पद। इन शब्दों में पद के पवर्ण के उत्तरवर्ती 'अ' को एक स्थान में 'ओ' हुआ है और दूसरे स्थान में 'ए'।

घ—संस्कृत 'पद' शब्द के लिए लैटिन में 'पेदिस्' और ग्रीक में 'पोद' है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत की अ ध्वनि ही उच्चारण विकलता के कारण इ उ ए और ओ आदि विभिन्न ध्वनियों का रूप धारण कर रही है।

जो योरोपीय अपने "ध्वनि शास्त्र" के ज्ञाता होने की बड़ी-बड़ी ड़ींगें मारते हैं, उन्होंने यह नियम क्यों उद्धृत नहीं किया ?

बॉप का मत—संस्कृत की अ ध्वनि के विषय में बॉप का भी यही मत था। यह पहले लिख चुके हैं।

ग्रीक उच्चारण में संस्कृत के मूल स्वरों के सन्धि-स्वर

संस्कृत के मूल अ इ उ स्वरों के ग्रीक उच्चारण में सन्धिस्वर बनाए जाने की रुचि बहुधा देखी जाती है। यथा—

---

१. भरत नाट्यशास्त्र में भी यही नियम है। तथा तुलना करो, अकारो वै सर्वा वाक्, ऐत० आरण्यक। वायु पुराण में भी यही भाव प्रकट किया गया है।

२. सामगान में 'ओग्नाई'। देखो इस पर तन्त्रवार्तिक पृ० २३८, पूना संस्करण।

भारतीय	ग्रीक	
a को oi		
१. कन्तल Kantalas	Kandaloi	(०ल=loi)
a को ai		
२. अम्बष्ठ Ambastha	Ambastai	(०ष्ठ=stai)
u को ou		
३. पुलिन्द Pulinda	Poulindai	(पु० =pou)
a को oe		
४. उदुम्बर—	Odomboeroe	(०म्ब =mboe)
i को ei		
५. अहिच्छत्र	Adeisathra	(०हि=dei)

इस विवेचना से स्पष्ट है कि संस्कृत की 'अ' ध्वनि और ग्रीक तथा लैटिन की 'ओ' ध्वनि की उत्पत्ति के लिए किसी मूल भारोपीय भाषा की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं। वस्तुतः संस्कृत की मूल 'अ' ध्वनि ने ही ग्रीक और लैटिन आदि में उच्चारण-विकलता के कारण प्रायः 'ए' और 'ओ' रूपों को धारण किया है।

प्राचीन संस्कृत में अर्ध (=ह्रस्व) ए ओ

हम इस प्रसंग में एक तथ्य और प्रकट कर देना चाहते हैं। वह है—अति प्राचीन संस्कृत में अर्ध (=ह्रस्व) 'ए, ओ' की विद्यमानता। ध्वनि-शास्त्र का अप्रतिम आचार्य आपिशलि अपने शिक्षा-सूत्र में लिखता है—

छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति। तेषामप्यष्टादशप्रभेदानि।

अर्थात्—छन्दोगों (सामवेदियों) में राणायनीय चरणान्तर्गत सात्यमुग्र शाखा वाले 'ए ओ' को ह्रस्व पढ़ते हैं। उनके भी (अकार आदि के समान) अठारह भेद होते हैं।

पतञ्जलि अपने व्याकरण महाभाष्य में इसी नियम को दोहराता है।

शौरसेनी और अर्धमागधी में अर्ध ए ओ - शौरसेनी और अर्धमागधी प्राकृत[1] में भी अर्ध ए ओ का प्रयोग होता है। संभव है ऐसे शब्दों का सम्बन्ध संस्कृत के उन प्राचीन प्रयोगों और प्रदेशों से हो जिनके अति प्राचीन उच्चारण में अर्ध ए ओ विद्यमान थे।

इसलिए यह भी सम्भव है कि ग्रीक, लैटिन, जर्मन और अंग्रेजी आदि के वे शब्द जिनमें अर्ध ए ओ ध्वनियाँ विद्यमान हैं, उन मूल संस्कृत शब्दों का अपभ्रंश हों जिनमें ह्रस्व 'ए ओ' का प्रयोग रहा हो।

---

१. देखो कर्पूरमञ्जरी, भूमिका, पृ० ५४।

मैक्सवालेसर और ए ओ नियम की व्यर्थता

अध्यापक कीथ ने अपने संस्कृत वाङ्मय के इतिहास के प्राक्कथन में सूचना दी है कि मैक्सवालेसर ने भी इस विषय पर एक लेख लिखा है। तदनुसार संस्कृत का मूल 'अ' ही कई भाषाओं में 'ए ओ' का रूप धारण कर लेता है। अत. किसी मूल भारोपीय भाषा को मानकर उसमें संस्कृत अ के स्थान में 'अ' 'ए' और 'ओ' का अस्तित्व मानना अनावश्यक है। अध्यापक कीथ ने लिखा है कि मैक्सवालेसर का लेख गम्भीर विचार योग्य है। हम उस लेख को नहीं पढ़ पाए, पर हमारे परिणाम इसी सिद्धान्त पर पहुंचे हैं। कीथ लिखता है—

Very interesting and worthy of serious consideration in the field of comparative philology are the arguments recently adduced by Professor Max Walleser to refute the at present accepted theory regarding the merger in Sanskrit of the three vowels (a, e, o) into a, and to show that Sanskrit preserved as late as the seventh century A. D. the labio-velar consonants.[1]

तालव्य नियम का उत्तर भाग

डॉ० मंगलदेव ने इस अंश का निम्नलिखित शब्दों में संक्षेप किया है—

"भारतयूरोपीय मूल भाषा के कण्ठ-स्थानीय स्पर्श (मूल कण्ठस्थानीय तथा साधारण), जिनके आगे कोई तालव्य स्वर (u/e आदि)[२] आता था, भारत ईरानी भाषा वर्ग में तालव्य व्यञ्जन के रूप में परिवर्तित हो गये, और जहाँ ऐसा नहीं था, वहाँ साधारण कण्ठ-स्पर्श ही रहे।"[३]

यथा—पेङ्क्वे (भारो०), पेन्ते (ग्री०), क्विंक्वे (लै०), पञ्च (सं०)

तालव्य नियम के आधार का खण्डन पूर्व हो गया।[४] भारोपीय मूल भाषा के अस्तित्व को जो नहीं मानता और उसके अस्तित्व में दिए गए लूले लंगड़े उदाहरणों का कठोर खण्डन करता है, उसके प्रतिपक्ष में भारोपीय मूलभाषा को मानकर ध्वनि आदि के किसी नियम का बनाना सर्वथा अपर्याप्त है। अतः इस आधार पर ठहरा हुआ तालव्य नियम स्वतः खण्डित हो जाता है और

---

1. H. S. L., Preface. p. XXIV, XXV.
२. उ अथवा ए।
३. भाषा-विज्ञान, सन् १९५१, पृष्ठ २७२।
४. पृष्ठ १२५-१३२।

मूल भारोपीय भाषा की कल्पना भी नष्ट हो जाती है। निश्चय ही ग्रीक, लैटिन, गॉथिक और अंग्रेजी आदि म्लेच्छ भाषाएँ प्राचीन संस्कृत के ही उत्तर-कालीन रूपान्तर हैं।

इस तालव्य-नियम के खण्डन से घबराया हुआ खिन्नमना पाश्चात्य कहता हैं, कि तुम हमारी बात को मान लो। उसके पास अब तर्क नहीं है।

अब वे प्रमाण जो तालव्य नियम के उत्तरभाग की परीक्षा से सम्बन्ध रखते हैं, उपस्थित किए जाते हैं—

'अ' ध्वनि का संस्कृत के सर्वस्वीकृत अपभ्रंशों में ए ओ आदि के रूपों में परिवर्तन

जैसा पूर्व सिद्ध कर चुके हैं, तदनुसार इस बात के मानने में अणुमात्र सन्देह नहीं कि संस्कृत की 'अ' ध्वनि ही भारतीय भाषाओं तथा ग्रीक और लैटिन आदि में बहुधा 'ए' और 'ओ' का रूप धारण करती है। अतः संस्कृत के 'पञ्च' शब्द का ग्रीक में 'पेन्ते' और लैटिन में 'क्विंक्वे' रूप बना है। ग्रीक शब्द में 'प' के उत्तरवर्ती 'अ' को 'ए' और 'च' को 'त', तथा अगले 'अ' को 'ए' हो गया।

इसी प्रकार अंग्रेजी में भी 'पंचक' का 'पेन्तद' (pentad) अपभ्रंश बना है।

संस्कृत च अर्धमागधी प्राकृत में त—संस्कृत चिकित्सा पद का अर्धमागधी में **तेइच्छा** रूप बन जाता है। (वूलनर, बनारसीदास, पृ० ८७)

संस्कृत में च, त का अभेद भी—ज्योतिष की काश्यप संहिता में विद्युत् के शब्द को **चटचटा** कहा है। उसे ही बार्हस्पत्य संहिता में **तटतटा** कहा है।[1]

संस्कृत च पंजाबी में त—संस्कृत च का अर्थ और होता है। इस का पंजाबी में 'ते' विकार हुआ है। अतः संस्कृत पंच का ही ग्रीक में पेंते विकार हुआ।

बालक और च ध्वनि—आज भी पंजाब में अनेक बालक **चाचा** के स्थान में **ताता** बोलते देखे जाते हैं।

अतः ग्रीक पेन्ते का **त ग्रीक के प्राकृत-प्रकार** का साक्ष्य उपस्थित करता है।[2]

'च' का 'क' में रूपान्तर—संस्कृत की 'च' ध्वनि योरोपीय भाषाओं में बहुधा 'क' ध्वनिवत् उच्चरित होती है। यथा—

---

१. अद्भुतसागर, पृ० ३२३ पर उद्धृत।

२. इस विषय पर विशेष विचार पूर्व पृ० १०१ पंक्ति ३-७ तक के लेख के प्रकाश में होना चाहिए।

१. चतुर लैटिन में—Quatuor (क्वातुओर)
२. चतुर्दश „ „ Quatuor decimas (क्वातुओर डेसिमस)
अंग्रेजी में—Quarto deciman (क्वार्टो डेसिमन्)
३. चतुष्पाद् अंग्रेजी में—Quadruped (क्वाड्रूपेड)
४. चषक (शराब का प्याला) Quaff (क्वाफ)
गैलिक में—Quach, Quaich, आईरिश में cuach,
५. चमर लैटिन में—cauda (पूंछ अर्थ में), अंग्रेजी में Qucu
इसका उच्चारण प्रायः 'क्' होता है।
६. चूषणम् जर्मन में—Kussen
पुरानी अंग्रेजी में—Cyssan
अंग्रेजी में—Kiss
पंजाबी चुम्मणा संस्कृत चुम्बन का विकार है।
७. चरित्र अंग्रेजी में—Character
ग्रीक में—Kharakter
(ऑक्सफोर्ड कोश में यह तुलना नहीं है)

स्मरण रहे कि योरोप में लैटिन का उच्चारण बहुत भ्रष्ट होता रहा है। जैस्पर्सन लिखता है—

Latin was chiefly taught as a written language (witness the totally different manner in which Latin was pronounced in the different countries, the consequence being that as early as the sixteenth century French and English scholars were unable to understand each other's spoken Latin)[1]

इस परिवर्तन का प्रधान कारण लिपि-दोष—संस्कृत भाषा के अनेक पदों में उच्चरित 'च' वर्ण का योरोपीय भाषाओं में जो 'क' रूप में परिवर्तन हुआ है, इसका प्रधान कारण योरोपीय लिपि की अपूर्णता है।

ch **के कारण रूपान्तर**—संस्कृत का च वर्ण रोमनलिपि में ch के रूप में लिखा जाता है। योरोप की प्राचीन भाषाओं में ch का उच्चारण 'च', 'क' और 'ख' तीन प्रकार का रहा है। यथा—

१. अंग्रेजी cha'n (चेन) शब्द में 'च'।
२. (क) Chaldea (कालडिया) शब्द में 'क'।
(ख) अंग्रेजी chrono (क्रोनो) शब्द में 'क'।

1. Language, p. 23.

३. (क) जर्मन nicht (निख्ट) शब्द में 'ख'।
(ख) ,, tochter (टौख्टर) शब्द में 'ख'।

यदि पञ्च पद में क मूल होता है और च उसका रूपान्तर, तो हित्ती भाषा में panza=पंज रूप न होता। पक्षपाती विचारकों ने इसे टालना चाहा है, पर सत्य स्वयं प्रकट है। बरो (पृ० २८) इस शब्द को उधारा शब्द (loan word) लिखता है। यह हेतु, उदाहरण-रहित प्रतिज्ञामात्र है।

प्राकृत में संस्कृत च का विकार क—पचति=पकाता है।

'क' का 'च' रूप में परिवर्तन—जैसे संस्कृत पदस्थ 'च' अपभ्रंश भाषाओं में 'क' रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार संस्कृत पद में विद्यमान 'क' वर्ण भी क्वचित् 'च' रूप में परिवर्तित देखा जाता है। यथा—

१. संस्कृत किलातक का हिन्दी में 'चिचड़ा'।
२. ,, 'कट' ,, ,, में 'चटाई।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'च' ध्वनि का 'क' ध्वनि में और 'क' ध्वनि का 'च' ध्वनि में परिवर्तन होता रहा है। परन्तु पंज में च ही मूल है। प्राकृतों से यही सूचना मिलती है।

'प' ध्वनि का 'क' में रूपान्तर—संस्कृत की 'प' ध्वनि भी योरोपीय भाषाओं में क्वचित् 'क' ध्वनिवत् उच्चरित होती है। यथा—संस्कृत 'प्रश्न' शब्द का अंग्रेजी में question (क्वेश्चन) और लैटिन में quoetion हो जाता है।

'क्वचित्' शब्द का प्रयोग हमने इसलिए किया है कि 'प' ध्वनि का 'क' ध्वनि में भ्रंश और विशेषकर पदादि में बहुत अल्प दृष्टिगोचर होता है। सामान्यतया पदादि में विद्यमान संस्कृत की 'प' ध्वनि लैटिन में भी 'प्' ही रहती है। यथा—पति=पोटिस, पथिन्=पोट-एम, पद् = पेस, पेद-इस।

उपर्युक्त ध्वनि-परिवर्तनों के उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत की 'प' और 'च' दोनों ध्वनियों का योरोपीय भाषाओं में qu के रूप में परिवर्तन होने का स्वभाव देखा जाता है। अतः संस्कृत 'पंच' शब्द ही लैटिन में 'क्विंक्वे' के रूप में परिवर्तित हुआ,[1] इसमें सन्देह नहीं।

आपिशलि भी कवर्ग, चवर्ग और पवर्ग के परस्पर ध्वनिपरिवर्तन नियम को जानता था।

---

१. कल्पित मूल भारोपीय भाषा में 'पंच' के मूल पेङ्के' शब्द की कल्पना करते हुए पाश्चात्य विद्वानों ने भी लैटिन के 'क्विंक्वे' शब्द में 'प' का qu रूप में परिवर्तन स्वीकार किया है।

जब संस्कृत की 'अ' ध्वनि भारतीय तथा योरोपीय उच्चारण में 'ए' रूप में परिवर्तित हो जाती है (जैसा पूर्व लिख चुके), और 'च' ध्वनि 'क्व, रूप में, तब पंच, पेन्ते, और क्विंक्वे शब्दों के लिए किसी मूल भारोपीय 'पेंके' शब्द की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं। संस्कृत 'पंच' शब्द से ग्रीक 'पेन्ते' और लैटिन 'क्विंक्वे' रूप विकृत हुए हैं।

तालव्य नियम पर मॉरीस ब्लूमफील्ड का आघात

वैदिक वेरिएण्टस में ब्लूमफील्ड का निम्न उद्धृत वचन हमारे पक्ष का बलपूर्वक समर्थन करता है—

The general rule that palatals appear before IE e, e (ऐ), i, i, and y, much disturbed by analogies even in established words and classes of words, is still further rendered unstable by the more sporadic forms that mostly appear among the variants. Especially VSK. (वाजसनेय काण्व सं०) affects forms like तनक्मि for तनच्मि; युनग्मि for युनज्मि। (भाग २, पृ० ७०)

अर्थात्—सामान्य नियम कि तालव्य वर्ण इण्डो-योरोपिन ए, ऐ, इ, ई और य के पूर्व बन जाते हैं, वैदिक पाठन्तरों के विरुद्ध पड़ता है। पहले प्रमाणित शब्दों में भी सादृश्यों ने इस नियम को हिलाया है। पर वैदिक पाठन्तरों के यत्र-तत्र होने वाले रूप इसे और भी गिराते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह भी स्पष्ट है कि ग्रीक, जर्मन, अंग्रेजी आदि योरोपीय अपभ्रंश भाषाओं और हिन्दी, पंजाबी आदि भारतीय अपभ्रंश भाषाओं में जो ध्वनि-परिवर्तन देखा जाता है, उसे किसी सर्वांग-पूर्ण नियम में नहीं बाँधा जा सकता।

निस्सन्देह पक्षपाती ईसाई युवक वैय्याकरणों का सब खेल चौपट है। संस्कृत भाषा की अति प्राचीनता को नष्ट करने का उनका पर्यास सर्वथा विफल है। विद्वान् लोग ईसाई लेखकों के असत्य हठ पर उपहास करते हैं।

नवां व्याख्यान

भाषा-विज्ञान वा भाषा-मत

१. मैक्समूलर के काल से यह शोर मचाया गया कि जर्मन आदि अध्यापकों के भाषा-विषयक मत विज्ञान की पदवी प्राप्त कर चुके हैं। यह मत जर्मनी के 'युवक वैयाकरणों' ने बहुत आगे बढ़ाया। पर इस परिश्रम का फल नहीं निकला। योरोप का भाषा-मत विज्ञान नहीं बन पाया, मत ही रहा। उसका निदर्शन आगे कराते हैं।

पूर्वपक्ष—वर्तमान जर्मन लेखकों का साभिमान कथन है कि—

१—वे ही "भाषा-विज्ञान" के जन्मदाता हैं। यथा—

(a) Germany is far more than any other country, the birth place and home of language.[1]

अर्थात्—किसी अन्य देश की अपेक्षा जर्मनी सबसे अधिक भाषा का घर और जन्म-स्थान है।

(b) Germans of today are the undisputed leaders in all fields of philology and linguistic science.[2]

अर्थात्—आज के जर्मन "भाषा-विज्ञान" के सब क्षेत्रों में निर्विवाद नेता हैं।

२—उनके पूर्वज ग्रिम और बॉप आदि विद्वानों ने सर्व-प्रथम अनेक भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण लिखे।

३—उनके सतत परिश्रम से यह विषय विज्ञान की पदवी को प्राप्त हो गया और मतमात्र नहीं रहा।

उत्तरपक्ष—ये स्थापनाएँ मान्य नहीं। कारण—

१—पाश्चात्य देशों में अपभ्रंश-भाषा-विवेचन का कार्य यद्यपि डेन्मार्क आदि देशों में भी हुआ, तथापि जर्मनी में बहुत अधिक हुआ, यह हम स्वीकार करते हैं। यह विवेचन यूनान के पाइथेगोरस, अफलातून, डेमोक्रीट्स और अरस्तू से थोड़ा अधिक था, इसके स्वीकार करने में भी हमें संकोच नहीं। परन्तु यह विवेचन भर्तृहरि, पतञ्जलि, पाणिनि, व्याडि, कृष्ण द्वैपायन व्यास, यास्क, आपिशलि, काशकृत्स्न, औदुम्बरायण और भरतमुनि के विवेचन से

1. Language and the Study of Language, W.D. Whitney, 1937, Lect. 1.
2. Winternitz. H. I. L., 1927, p. 8.

अधिक व्यापक और स्थिर है, यह हम कदापि मान नहीं सकते। भाषा-विज्ञान की जो चरम सीमा भारत में पहुँच चुकी थी, जर्मनी ने अभी तक उसका शतांश भी नहीं जाना। जर्मन लेखक अज्ञानियों के मण्डल के नेता अवश्य रहे हैं।

२—यह सत्य है कि बॉप आदि ने कतिपय योरोपीय अपभ्रंश भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण ग्रन्थ लिखे, परन्तु संस्कृत और वेद के यथेष्ट व्याकरण वे नहीं लिख सके। जिस वाकर्नागल के संस्कृत व्याकरण-ज्ञान की प्रशंसा पाश्चात्य लोग पदे पदे करते हैं, वह संस्कृत भाषा के स्वरूप को भी भले प्रकार न समझ सका।

३—यद्यपि जर्मन लोगों का परिश्रम स्तुत्य है तथापि उनके प्रतिपादित विचार "मत" की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सके। विज्ञान की पदवी से वे कोसों दूर हैं। कारण, विज्ञान के नियम स्थिर, निश्चयात्मक, अपवादशून्य और देश-काल के बंधन से रहित होते हैं। वायु, विद्युत और वर्षा आदि के नियम देशकाल के बंधन से रहित होकर सर्वत्र समान रूप से लागू होते हैं, परन्तु तथाकथित "भाषा-विज्ञान" के अनुमानित नियमों की अवस्था इसके सर्वथा विपरीत है। यथा—

(क) योरोप के भाषा-विषयक अनुसन्धान ने ध्वनि-परिवर्तन संबन्धी जो नियम निर्धारित किये हैं, वे अधूरे, एकदेशी और अपवाद-बहुल हैं।[1] अतः भाषा शास्त्र का जानने वाला कोई सूक्ष्म-दर्शी विद्वान् भाषा तथा ध्वनि-विषयक योरोपीय पक्षों को मत ही कहेगा, विज्ञान नहीं।

जो ध्वनि-परिवर्तन-नियम योरोप की सब भाषाओं पर ही एक समान लागू नहीं हो सके और केवल योरोप के कुछ देशों की भाषाओं पर ही स्वल्प से लागू होते हैं, तथा भारतीय भाषाओं पर अधिकांश लागू नहीं होते, उन्हें धक्का जोरी (बलात् अथवा साहस) से सामान्य रूप देकर सारी भाषाओं पर लागू करना वृथा है, यह विज्ञान का काम नहीं है।

१. विज्ञान का लक्षण करते हुए बाबूराम सक्सेना जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि—

जब उस (वाद) की अपवाद-रहित सत्ता स्थिर हो जाती है तब उसको विज्ञान कहते हैं। इति।

ऐसा लिखकर उन्होंने अपने ग्रन्थ में वर्णित अनेक अपवाद-बहुल नियमों को अपवाद-बहुल नहीं समझा, आश्चर्य है। प्रतीत होता है उन्होंने स्वतन्त्र विचार नहीं किया और योरोप का उच्छिष्टभोजी बनने में ही श्रेय समझा है।

(ख) ध्वनि-परिवर्तन नियमों के अतिरिक्त दूसरे अनेक नियम तो ध्वनि-नियमों से भी अत्यधिक दोष-पूर्ण हैं।

योरोप के अनेक विद्वान् भी ध्वनि-नियमों को व्यापक नहीं मानते, यह पूर्व पृ० ११४-११७ पर दिखाया गया है।

(ग) पाश्चात्य तथाकथित "भाषा विज्ञान" द्वारा स्वीकृत भाषा तथा भाषा समूहों का वर्गीकरण महान् दोषयुक्त तथा पक्षपात-पूर्ण है।

(घ) भाषा के संकोच अथवा विकार को भी सदा विकास अथवा उन्नति का नाम देना पक्षपात का द्योतक है। विज्ञान का इससे कोई संबंध नहीं।

(ङ) पूर्व पृ० १११-११२ पर ग्रे का भाषा-नियमों का जो लक्षण लिखा है, उसमें छः प्रतिबन्धों का होना स्पष्ट करता है, कि ये नियम व्यापक नहीं हैं। इसलिए योरोप ही के अनेक भाषाविद् इन नियमों को व्यापक नियम नहीं मानते। पिछले पृष्ठों से यह सत्य स्पष्ट है।

श्री अरविन्द की चोट

भाषा-मत को भाषा-विज्ञान सिद्ध करने वाले लेखकों की निराधार बात पर ग्रीक और लैटिन के अग्रगण्य पण्डित श्री अरविन्द ने अप्रतिम चोट की है। उनका लेख देखने योग्य है। वे लिखते हैं—

The philologists indeed place a high value on their line of study,—nor is that to be wondered at, in spite of all its defects,—and persist in giving it the name of Science; but the scientists are of a very different opinion. In Germany, in the very metropolis both of Science and of philology, the word philology has become a term of disparagement; nor are the philologists in a position to retort....................Comparative Philology has hardly moved a step beyond its origins; all the rest has been a mass of conjectural and ingenious learning of which the brilliance is only equalled by the uncertainty and unsoundness. Even so great a philologist as Renan was obliged in the later part of his career, begun with such unlimited hopes, to a deprecating apology for the "little conjectural sciences"[1] to which he had devoted his life's energies...........

Still scientific philology is non-existent; much less has there been any real approach to the discovery of the Science of Language.

European philology has missed the road to the truth because

1. "and conjectural science means pseudo-science." (p. 38)

an excessive enthusiasm and eager haste to catch at and exaggerate imperfect, subordinate and often misleading formulae has involved it in bypaths that lead to no restingplace;

Where there is insufficient evidence or equal probability in conflicting solutions, Science admits conjectural hypotheses as a step towards discovery. But the abuse of this concession to our human ignorance, the habit of erecting flimsy conjectures as the assured gains of knowledge is the curse of philology.

A Science which is nine-tenth conjecture has no right......... to impose itself on the mind of the race.

The Philolgists have, for instance, split up, on the strength of linguistic differences the Indian nationality into the northern Aryan race and the southern Dravidian, but sound observation shows a single physical type.........the linguistic division of the tongues of Indian into the Sanscritic and the Tamilic counts for nothing in that problem

Enormous, most ingenious, most painstaking have been the efforts to extract from the meanings of words a picture of the early Aryan civilisation previous to the dispersion of their tribes. Vedic scholarship has built upon this conjectural science,—wholly unreliable interpretation of the Vedas, a remarkable minute and captivating picture of an early half-savage Aryan civilisation in India.........The now settled rendering of Veda which reigns hitherto because it has never been critically and (minutely ?) examined, is sure, before long to be powerfully attacked and questioned. (The Origins of Aryan speech. p. 32-85.)

अर्थात्—भाषाविद् निस्सन्देह, सम्पूर्ण दोषों की विद्यामानता में भी, अपनी अध्ययन परिपाटी का बड़ा मूल्य डालते हैं, इसमें आश्चर्य नहीं, और इसे विज्ञान नाम देने का हठ करते हैं। परन्तु वैज्ञानिकों की सम्मति बहुत भिन्न प्रकार की है। जर्मनी में, जो विज्ञान और फाईलॉलोजि दोनों का प्रधान स्थान है, फाईलॉलोजि शब्द चटियापन का नाम बन गया है, और फाईलॉलोजि-वेत्ता इसका प्रत्युत्तर नहीं दे सकते।···फ्रैंच भाषाविद् रेनाँ इसे अनुमानों पर आश्रित-विद्या [असत्य-विद्या] कहता है।

अभी तक वैज्ञानिक-फाईलॉलोजि का कोई अस्तित्व नहीं। भाषा-विज्ञान के आविष्कार का यथार्थ मार्ग अभी पकड़ा नहीं गया।

योरोप की फाईलॉलोजि सत्यमार्ग से परे जा पड़ी है ।

एक ऐसे विज्ञान को, जो ९/१० केवल अनुमान ही अनुमान है, सारी जाति के मन पर ठोंसने का किसी को अधिकार नहीं ।

फाईलॉलोजि-वेत्ताओं ने इसी नाममात्र विज्ञान के आश्रय पर एक आर्य और दूसरी द्रविड़ जाति में भारतीयों को विभक्त कर दिया है । परन्तु यथार्थ निरीक्षण से शारीरिक-विशेषताओं के कारण यह एक ही जाति है ।

अनुमानों पर आश्रित इसी विज्ञान के आधार पर योरोपीय वैदिक विद्वानों ने वेद का सर्वथा अविश्वसनीय अर्थ किया है ।...इस अर्थ पर शीघ्र प्रबल आक्रमण होगा, और इसकी परीक्षा होगी । इति ।

भाषा-विद्या का क्षेत्र—योरोप के विचारकों ने निष्कर्ष निकाला कि व्याकरण के कार्यों की समाप्ति पर भाषा-विद्या का आरम्भ होता है । यह बात सत्य है । निरुक्त शास्त्र भाषा-विद्या का प्रधान अंग है । उस के विषय में निरुक्त में भी कहा है—

व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम् ।

अर्थात्—यह व्याकरण को पूर्ण करने वाला है ।

इसीलिए यास्क लिखता है—

नावैयाकरणाय ।

अर्थात्—व्याकरण-ज्ञान-रहित पुरुष को निरुक्त शास्त्र न पढ़ाए ।

वस्तुतः जर्मन अध्यापक बॉप ने उपलब्ध संस्कृत व्याकरण के आधार पर ही भाषाओं की थोड़ी सी ठीक तुलना की । यदि वह पाणिनि से पूर्व की अतिभाषा की स्थिति, उसके व्याकरण और शिक्षाशास्त्र के सूक्ष्म तत्त्वों से पूरा परिचित होता, तो उसकी तुलना अधिक संगत होती ।

दसवां व्याख्यान

अतिभाषा=आदिभाषा

वेद शब्दों पर आधारित अथवा वैदिक-पद-बहुला जो लोकभाषा ब्रह्मा और सप्तर्षि आदि द्वारा आदि मानव में व्यवहृत हुई, वही मानव की एकमात्र आदि भाषा थी । इसे प्राचीन आचार्यों ने अतिभाषा भी कहा है ।[1] यह भाषा शब्द और अर्थ की दृष्टि से वर्तमान सम्पूर्ण भाषाओं की अपेक्षा शतगुण से भी अधिक विस्तृत थी । उत्तरोत्तर मतिमान्द्य और धारणा-शक्ति के ह्रास के कारण इस अति विस्तृत अथवा समृद्ध भाषा का ह्रास अथवा संकोच हुआ ।[2] वर्तमान संस्कृत भाषा उसी आदि भाषा का एक अति संकुचित रूप है । संसार की बहुविध भाषाएँ उसी आदि भाषा का परम्परागत विकार हैं । इसे समझने के लिए उस आदि भाषा का स्वरूप बताना परम आवश्यक है । अतः संक्षेप से मानव की आदि भाषा का कुछ स्वरूप दर्शाया जाता है ।

सम्प्रति संस्कृत भाषा का जो अति संकुचित रूप उपलब्ध होता है, वह प्रायः पाणिनि के संक्षिप्ततम व्याकरण से प्रभावित है ।[3] अतिभाषा का स्वरूप जानने के लिए पाणिनि से प्राचीन लोकभाषा में रचे गए ग्रन्थ अधिक सहायता देते हैं । यथा—मनुस्मृति के भृगु और नारद के प्रवचन, वाल्मीकि का रामायण, शालिहोत्र का अश्वशास्त्र, पराशर की ज्योतिष संहिता, चरक और सुश्रुत की संहिताएँ, महाभारत तथा वायु आदि कतिपय प्राचीन पुराण, याज्ञवल्क्य स्मृति, कल्पसूत्र (बौधायनातिरिक्त), वेद के अंग उपांग ग्रन्थ और नारद तथा आपिशलि की शिक्षाएँ आदि, आदि । यद्यपि उत्तरकाल में इन ग्रन्थों के शतशः प्राक्पाणिनीय प्रयोग पाणिनीय मत के प्रभाव से परिवर्तित कर दिए गए, तथापि इनमें और इनके टीका ग्रन्थों में अभी भी सहस्रों प्राक्पाणिनीय प्रयोग सुरक्षित हैं । इसी प्रकार पाणिनि से औत्तर कालिक उन ग्रन्थों से भी सहायता मिलती है, जिनके काल तक भाषा पर पाणिनीय व्याकरण का प्रभाव अल्प पड़ा था । यथा—भास के नाटक और कौटलीय अर्थशास्त्र आदि । स्वयं

---

१. भरत नाट्यशास्त्र १७।२७,२८।।

२. इसका किंचित् निर्देश पूर्व पृष्ठ ३३ पर भी किया है ।

३. इसके विस्तार के लिए पं० युधिष्ठिर मीमांसक रचित 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास', प्रथम अध्याय विशेष रूप से देखना चाहिए ।

पाणिनि के सूत्रपाठ और उसके खिलपाठ[1] में लगभग १०० प्रयोग ऐसे हैं, जो उसी के व्याकरण-नियमों से असिद्ध हैं । कात्यायन के वार्तिक और पतञ्जलि के महाभाष्य में भी ऐसे अनेक प्रयोग उपलब्ध होते हैं ।

irregular **का रोग**—इन वैयाकरण आचार्यों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण एतादृश प्रयोग अनियमित (irregular) कदापि नहीं कहे जा सकते । योरोपियन ग्रन्थकारों ने इन्हें अनियमित[2] कह कर अपना अज्ञान ही प्रकट किया है ।

वेद पर आधारित अतिभाषा में प्रायः वे सभी प्रयोग व्यवहृत होते थे, जिन्हें पाणिनि प्रभृति वैयाकरण केवल छान्दस प्रयोग मानते हैं । अतिभाषा में उत्तरोत्तर महान् ह्रास होने पर भी महाभारत प्रभृति आर्ष ग्रन्थों में अतिभाषा के बहुविध प्रयोग क्वचित् सुरक्षित रह गए हैं । उनके अनुशीलन से अतिभाषा का स्वरूप हस्तामलकवत् विस्पष्ट हो जाता है । अतिभाषा के इस अतिविस्तृत स्वरूप को समझने के लिए हम उसके सम्प्रति लुप्त प्रयोगों को निम्न विभागों में उपस्थित करते हैं । यथा—

१. लुप्त नाम
२. लुप्त लिङ्ग
३. लुप्त वचन
४. लुप्त नाम-रूप
५. लुप्त धातु
६. लुप्त धातु-रूप
७. लुप्त धातु-उपसर्ग सम्बन्ध
८. लुप्त प्रत्यय
९. लुप्त समास-रूप
१०. लुप्त सन्धि-रूप
११. लुप्त वाक्य विन्यास
१२. उदात्तादि स्वरों का लोप
१३. लुप्त अर्थ
१४. लुप्त पर्याय

पूर्वोक्त विभाग-विषयक अतिभाषा के स्वरूप को समझाने के लिए हम प्राचीन ग्रन्थों से प्रत्येक विभाग के कतिपय प्रयोग उपस्थित करते हैं । ये प्रयोग मानवेतिहास के आरम्भ से साधु माने जा रहे थे और लोक ग्रन्थों में प्रयुक्त हो रहे थे । वेद तथा वैदिक वाङ्मय में इनका रूप-विस्तार अधिक था, पर हमने प्रायः उपलब्ध लोक-ग्रन्थों से ही उनका स्वरूप दर्शाया है । यथा—

१. लुप्त नाम—इस विभाग के अन्तर्गत वे शब्द उपस्थित किए जाते हैं जनिका सम्प्रति अत्यल्प प्रयोग अथवा प्रयोगाभाव होता है, अथवा जिन्हें अब असाधु माना जाता है । यथा—

---

१. **धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ, और लिंगानुशासन खिलपाठ कहाते हैं । देखो अष्टा० १।३।२ पर काशिका तथा न्यास ।**

२. irregularities, **संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, कीथकृत, पृ० ५ ।**

अ तथा आ वाले रूप

साधु स्वीकृत	अप्रचलित
उप-नयन	उप-नायन[1]
अमात्य	आमात्य[2]
ननन्द	ननान्दा[3]
शर्वरी	शार्वरी[4]
स्वरवर्णकर	स्वरवर्णकार[5]

आ तथा अ वाले रूप

आत्मवान्	अत्मवान्	
आत्मा	अत्मा	शान्तिपर्व ३११।२०॥[6]
आन्वीक्षिकी	अन्वीक्षिकी	शान्तिपर्व ३२३।१४॥
आस्यम्	अस्यम्	
नारायण	नरायण	शब्दार्णव[7]

अ तथा अ-रहित रूप

अरत्नि	रत्नि[8]
अरिष्ट	रिष्ट[9]

---

१. मनु २।३६॥ याज्ञवल्क्य १।१४॥नारद, वृद्ध वसिष्ठ तथा बृहस्पति, वीरमित्रोदय, संस्कार प्रकाश, पृ० ३३६, ३६६, ३७०, ३७२, ३७३ आदि ।

२. राजपुत्र=बुध महाराज के ग्रन्थ में । अद्भुत सागर, पृ० ६० पर उद्-धृत । मेहेण्डेल ने Inscriptional प्राकृत, पृ० ५३ अन्त, तथा Appendix, पृ० ३२८ पर प्राकृत 'आमच' की तुलना 'अमात्य' पद से की है । यह तुलना आमात्य पद से अधिक युक्त है ।

३. कल्पद्रु कोश । इसका पंजाबी विकार 'ननान' है ।

४. शब्दार्णव । अमरकोश १।४।३ पर सर्वानन्द टीका में उद्धृत ।

५. पाणिनीय शि० । आपिशलि शिक्षा ५ ।

६. दृश्यते ऽत्मा तथात्मनि ।

७. भानुजी दीक्षितकृत अमर टीका, पृ० ६ ।

८. वायु पुराण, श्राद्धकाण्ड, कृत्यकल्पतरु, पृ० ११४ पर उद्धृत । नारद, अद्भुत सागर, पृ० ४३४ पर उद्धृत ।

९. पंजाबी का 'रीठा' इसी का अपभ्रंश है ।

इ और ई वाले रूप

अधिकार	अधीकार[1]	महाभारत
अन्तरिक्ष	अन्तरीक्ष[2]	
अभिचार	अभीचार	आप० धर्म० १।१०।२९।१५।।
अभिमान	अभीमान	महा० शान्ति
अभिषेक	अभीषेक[3]	
पत्नी	पत्नि	वायु पुराण ३०।१०२।।
परिणाह	परीणाह	आप० श्रौत १।५।।
परिधान	परीधान	महा० शान्ति
परिभाण्ड	परीभाण्ड[4]	
परिमाण	परीमाण[5]	
परिवाद (मनु २।१७९।।)	परीवाद[6]	
परिवार	परीवार,	तन्त्राख्यायिका, पृ० ६।
परिवाह	परीवाह,	तन्त्राख्यायिका, पृ० ३। उत्तर रामचरित ३।२९।।
परिवेष	परीवेष[7]	

१. इनमें से कतिपय शब्दों में अष्टा० ६।३।१२१ के अनुसार दीर्घत्व हो सकता है। तथापि तुलना से यही स्वीकार करना होगा कि दीर्घ स्वरवान् पद स्वतन्त्र शब्द हैं।

२. चरक संहिता, सूत्र ५।९।।२५।३७, शारीर ४।६,९।। गर्ग, अद्भुत सागर, पृ० ३०७ पर उद्धृत। आन्तरिक्ष, चरक सूत्र २६।१२२।। आन्तरीक्ष ५।९।।

३. सुमन्तु (विक्रम से ३१०० वर्ष पूर्व) कृत्यकल्पतरु, मोक्षकाण्ड, पृ० २० पर उद्धृत। वह व्यास-शिष्य और शाखा प्रवचनकार था।

४. आप० धर्म, २।६।१४।८।।

५. आप० धर्म १।११।३०।२, ११।। कालपरीमाण, महा० शान्ति० ३४९। १२।।

६. मनु, २।२००, २०१।। हारीत धर्म सू०, कृत्यकल्पतरु, गार्हस्थ्य काण्ड, पृ० ५३१ पर उद्धृत। वासिष्ठ धर्मसूत्र, मोक्षकाण्ड, पृ० २० पर उद्धृत। आप० धर्म, १।११।३१।८।। ब्रह्मपुराण, श्राद्धकाण्ड, पृ० १२१ पर उद्धृत।

७. गर्ग, अद्भुत सागर, पृ० २९१ पर उद्धृत।

परिशोष	परीशोष[1]	
	प्रातीथेयी[2]	
प्रतिघात	प्रतीघात[3]	
प्रतिमान	प्रतीमान	मनु ८।४०३।।
योनि	योनी	वामन पुराण ३६।२३।।
शक्ति	शक्ती	क्षीरतरंगिणी ५।७८।।
शिक्षा	शीक्षा	तै० उप० १।१।२।।
हलिक्षण (वाज०)	हलीक्षण	तै० सं०।मैकडानल, वैदिक ग्रामर, पृ० ११ ।
अभीक्षणम्[4]	अभिक्षणम्	

उ तथा ऊ वाले रूप

तन्तु	तन्तू[5]
पुरुष	पूरुष[6]

ष् स् लोप

आयुष्	आयु	वायु पुराण ५४।२।।
जटायुष्	जटायु	उत्तर रामचरित ३।४३।।
पुरूरवस्	पुरूरव	वीरमित्रोदय, श्राद्धप्रकाश, पृष्ठ २३ पर उद्धृत

पदान्त त् के स्थान में दूसरा रूप

समित्	समिधा	अर्थशास्त्र १४।३।।
योषित्	योषिता	महा० द्रोण०
	योषा	,, शान्ति०
विद्युत्	विद्युत (अकारान्त)	महा० अनु०

१. चरक संहिता, सूत्र १७।५७।।

२ देखो, मोनियर विलियम्ज का संस्कृत इंगलिश कोश, पृ० ७०७, स्तम्भ १, वह लिखता है—wrong reading for प्रातिथेयी ।

३. आप० धर्म २।२।५।११

४. निरुक्त २।२५।। शान्तिपर्व, ६१। तन्त्राख्यायिका ।

५. छान्दोग्य परिशिष्ट, वीरमित्र की याज्ञ० टीका, पृ० ८५ पर उद्धृत ।

६. रामायण, महाभारत में बहुधा प्रयुक्त । शान्तिपर्व ३०५।३२ वचन तन्त्राख्यायिका में उद्धृत । नारद १।१६४।।१८।४६।। योगयाज्ञवल्क्य, अपरार्क टीका, पृ० १०३४ पर उद्धृत ।

अन्य फुटकल पद

शिरस	शीर्ष	विष्णुधर्मोत्तर, वीरमित्रो० लक्षण प्र०, पृष्ठ २२३ पर उद्धृत। अष्टा० ३।२।५१ में स्मृत।
	शीर्षन्	शीर्षण्य आदि प्रयोगों में।
स्वसृ	स्वसा(अकारान्त)	वायु पुराण ६५।२१२॥
ब्रह्मन्	ब्रह्म (अकारान्त)	महा० वन, शान्ति०
यथाकथंचित्	यथाकथा	कथा—ऋग्वेद ४।१४।५॥ शत० ४।२।७।१३॥ आप० धर्म १।२८।१॥ निरुक्त ४।३॥ बृहद्देवता २।९८॥ अष्टाध्यायी ५।१।९८॥
राजन्	राज[1] ,,	महा० आदि
चतुर्विंशतितम	चतुर्विंशतिम[2]	वायुपुराण २१।५५॥
पञ्चम-सप्तम	पञ्चथ-सप्तथ[3]	वेद में प्रयुक्त। मै० सं० तथा काठक सं० में। अष्टा० ५।२।५०॥
षट्त्रिंशत् वर्णाः	षट्त्रिंशतिर्	पूर्णभद्र के पञ्चतन्त्र पाठ में, पृ० २७१।
द्यूत	दयूत	महा० सभा
कन्या	कनीना	तद्धितान्त 'कानीन' की प्रकृति। 'कनीनकेव' ऋ० ४।३२।२३॥ 'कइनीन' अवेस्ता, हओम यश्त ९।२३॥ हिब्रू—कइन, मोनियरविलि० में।

---

१. वस्तुतः राजन् और राज के पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र शब्द होने से ही समास में भी धर्मराज, धर्मराजन्; महाराज, महाराजन् आदि प्रयोग उपपन्न होते हैं। समास में नान्त राजन् प्रयोग महाभारत तथा भास के नाटकों में असकृत प्रयुक्त हैं। प्राकृत में भी नान्त के रूप प्रवृत्त हुए। देखो–सं० व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० ३१। पाञ्चाल राजस्य। भीष्म ५०।८६॥

२. वस्तुतः तम और म दोनों स्वतन्त्र प्रत्यय हैं। 'म' प्रत्यय पञ्चम, दशम आदि में सम्प्रति भी प्रयुक्त होता है।

३. 'म' समानार्थक 'थ' भी स्वतन्त्र प्रत्यय है। संस्कृत भाषा में यह सम्प्रति चतुर्थ और षष्ठ में ही प्रयुक्त है। परन्तु अतिभाषा के परम्परा से विकार अंग्रेजी में 'फिफ्थ' 'सेवन्थ' आदि में अभी भी सुरक्षित है। अंग्रेजी में म प्रत्यय का लोप हुआ, केवल 'थ' सुरक्षित रहा।

त्रि	त्रय	माध्य० सं० १२।१६।। निरुक्त ६।२८।। स्वा० दयानन्द, उणादिवृत्ति १।१३२।। हैमोणादि ३६७।
परिव्राजक	अट्णार	शतपथ
	आट्णार	निरुक्त १।१४।।

पूर्वोक्त रूपों में एक ही पद में ह्रस्व इ अथवा दीर्घ ई के प्रयोग आदि-काल से चले आ रहे हैं । वैदिक ग्रन्थों में इसके बहुत उदाहरण हैं । इस विषय में मॉरीस ब्लूमफील्ड और ईजर्टन आदि लिखते हैं—

No very distinct school tendencies seem to us to be shown by the (Short and Long I stems) variants. Yet we would call attention to the behaviour of the Taittiriya school, which in certain (groups of variants seems to show a sort of perverse desire to differ from the regular usage. (Vedic Variants, III, p. 72).

अर्थात्—तैत्तिरीय शाखा वाले अनेक पदों के विषय में युक्त प्रयोग से भेद करने की टेढ़ी इच्छा का निदर्शन करते हैं ।

समीक्षा—इस में सन्देह नहीं कि तैत्तिरीय पाठों में यह प्रवृत्ति अधिक है, परन्तु वह भेद करने की 'टेढ़ी इच्छा' से नहीं है । अति प्राचीन काल के द्विविध प्रयोगों में से वह एक प्रकार के प्रयोगों को अधिक वर्तता है । इसलिए द्विविध शब्दों में से एक रूप को युक्त और दूसरे को अयुक्त मानना संस्कृत विद्या से परिचय न होने के कारण है । पाणिनीय धातुपाठ में अनेक धातुएँ ऐसी सुरक्षित हैं जो समानार्थक होती हुई भी ह्रस्व-दीर्घ भेद से दो दो प्रकार की हैं । उनसे निष्पन्न शब्दों में ह्रस्व दीर्घ की द्विविध प्रवृत्ति स्वतः उपलब्ध होगी । यथा—

ष्टिम-ष्टीम, तिम-तीम, धुञ् धूञ्, भस-भास, तुण-तूण, कुट-कूट, स्वद-स्वाद ।

इसी प्रकार पाणिनीय व्याकरण में ऐसे अनेक समानार्थक प्रत्यय हैं, जिनसे ह्रस्व दीर्घ स्वर वाले प्रायः एकार्थक शब्द बनते हैं । यथा—

घ —पद	घञ्—पाद
ट —स्वरवर्णकर	अण्—स्वरवर्णकार
यत् —लव्य	ण्यत्—लाव्य (अवश्य)
अच —दवः	ण —दावः

अट्णार—इस शब्द के अनेक पाठान्तर वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं ।

आल्लार भी एक ऐसा पाठान्तर है। इन नामों पर मॉरीस ब्लूमफील्ड लिखता है—

Proper names of barbaric[1] appearance and unknown relationship (Vedic Variants, II, Phonetics. p. 247).

अर्थात्—ये व्यक्ति-नाम बर्बर दिखाई देते हैं, और अज्ञात सम्बन्ध वाले हैं।

समीक्षा—अट्णार अटनशील परिव्राजक होता है। अटनशील को अंग्रेजी में itinerant कहते हैं। यह अंग्रेजी शब्द अट्णार का ही रूपान्तर है। इतने सीधे साधु शब्द को बर्बर समझना पक्षपात अथवा अज्ञान का फल है।

नभ (अकारान्त)—काश्यप मुनि की ज्योतिष संहिता में—**दृश्यते नभे,** प्रयोग है। वर्तमान काल में सप्तमी विभक्ति में **नभसि** पद ठीक माना जाता है। पर पुराकाल में नभ पद अकारान्त भी था।

उद, उदक, दक—जलवाची ये तीनों पद कभी प्रयोग में थे। वर्तमान काल में दक का प्रयोग लुप्तप्राय है।

अद्धा—मोनियर विलियम्ज़ के कोश के अनुसार यह शब्द वेद में ही है। इसका अर्थ है—in this way, पर यह नाम पद कभी लोक में भी प्रयोग में था। जातकमाला, पृष्ठ १३४ पर—**अद्धा** धर्मः प्रयोग है।

घरः—दशपादी उणादिवृत्ति ८।१०४ के अनुसार संस्कृत में यह साधु शब्द है। इसी का घर रूप हिन्दी और पंजाबी में प्रयोग में आता है। इस तत्त्व को न समझकर मेहेण्डेल ने लिखा है[२]—

In G, (an Asokan ins.) the form *gharasta* is not an instance of initial aspiration, for the MIA base *ghara* is to be derived from IE *ghoros* and not from Sk. *griha* (for the latter derivation cf. V [araruci] V. 4. 32.

ध्यान रहे कि वररुचि का टीकाकार भामह[३] गृह को घर का आदेश होना लिखता है। प्राकृत मञ्जरी ४।३३ में भी गृह पद विषयक नियम है। मेहेण्डेल के ग्रन्थ में पृ० ६४ पर **घरिनि** रूप जो प्राकृत में है, इसी मूल घरः पद से सम्बन्ध रखता है। इण्डो-योरोपियन के रोग से पीड़ित मेहेण्डेल को भाषातत्त्व का ज्ञान नहीं है।

---

1. Barbaric names of demons, ibid, p. 200.
2. Historical gr. of inscriptional Prakrits, 1948, p 10. and p. 22.
३. ४।३२॥

अह—जिस प्रकार **घर** पद कभी स्वतन्त्र साधु शब्द था, उसी प्रकार **अह** पद भी स्वतन्त्र शब्द था। वस्तुत: आदिष्ट शब्द कभी आदिष्ट धातुओं के समान स्वतन्त्र शब्द थे। अत: अहन् = अह है। उसी से—पञ्चाहः सप्ताहः, रूप बने हैं।

यदहे चाथवा निशि। तन्त्राख्यायिका २। १३६ ॥ यहाँ अहे सप्तमी-अन्त है। इसका वर्तमान काल का रूप—**अहनि** अथवा अह्नि है।

२—**लुप्त लिंग**—इस विभाग के अन्तर्गत उन शब्दों का उल्लेख किया जाता है, जिनका सम्प्रति व्यवहृत अथवा साधु समझा जाने वाला लिङ्ग एक है और पुराकाल में उनका लिंगान्तर में भी प्रयोग होता था। यथा—

साधु स्वीकृत	अप्रचलित	
अनुमानम् (नपुं०)	अनुमान: (पुं०)	तै० आ०। महाभाष्य २।१।१॥
अभिलाषा	अभिलाष:	उत्तर राम-चरित ५।१८॥
सम्बन्ध:	सम्बन्धम्	महाभाष्य १।१।१॥
अमित्र:	अमित्रम्	अर्थशास्त्र ७।६॥
उपवास:	उपवासम्	वामन पुराण १६।४७॥
चर्चा	चर्च:	योगभाष्य ४।८॥
दिक् (स्त्री०)	दिक् (पु०)	वायु पु० ७७।७६॥
पुस्तकम्	पुस्तक:	पञ्चतन्त्र २।५॥
मधुमांसे	मधुमांसौ	बालक्रीड़ा १।३२ में चरक शाखा का पाठ
रज्ज्वा	रज्जुना	अर्थशास्त्र ४।७॥
लक्षणम्	लक्षण:	वामन पुराण ५।६०॥
तर्केण	तर्कया	महा० शान्ति

३—**लुप्त वचन**—इस विभाग में उन शब्दों का निदर्शन कराया जाता है, जिनको सम्प्रति नित्य बहुवचनान्त माना जाता है, परन्तु पुराकाल में उनका एक वचन में भी प्रयोग होता था। यथा—

दाराभि:	दारेण	बृहदा०[1] उप०

१. **आचार्य दारे, आप० धर्म० १।२।७।२७॥ गुणवति दारे–तन्त्राख्यायिका पृ० ८७, श्लोक १५८। यह पाठ हर्षलिंगानुशासन की पृथिवीश्वर की व्याख्या पृ० ६६ पर उद्धृत है। गुरु दारे—मनु २।२४७॥ दारै:—नारद १२।६१॥ दाराणि-नपुंसक, हर्टल सम्पादित पंचतन्त्र, तन्त्र १, धर्मबुद्धि कथा।**

सिकताः	सिकता	महाभाष्य भाग १, द्वितीयाह्निक ।
अप्सरसः	अप्सराः	अमरटीका १।१।५१ क्षीरस्वामी ।

४—लुप्त नाम रूप—इस विभाग में शब्दों के उन प्राचीन रूपों का निर्देश किया जाता है, जिन्हें सम्प्रति असाधु समझा जाता है । यथा—

साधु स्वीकृत	अप्रचलित	
अष्टगोनाम्	अष्टागवाम्	महा० कर्ण० ६७।६।।
गाम्	गावम्	वायु पुराण ८६।१।।
पत्या	पतिना[1]	वामन पुराण १७।६०।।
पत्याम्	पतौ[1]	पराशरस्मृति
त्रयाणाम्	त्रीणाम्	वेदों में बहुत्र । तुलना करो-प्राकृत-तिण्हम्, हिन्दी-तीन्हों ।
तैः	तेभिः	बौधा०धर्म १६।२२ में उद्धृत प्राचीन श्लोक में ।
अन्यतमे	अन्यतमस्मिन्[2]	अर्थशास्त्र ७।४।।
द्वयानाम्	द्वयेषाम्[3]	माघ १२।१३।।

५—लुप्त धातु—इस विभाग में उन कतिपय धातुओं का निदर्शन कराया जाता है, जिनका प्रयोग उत्तर काल में लुप्त हो गया और जिनसे निष्पन्न कतिपय शब्दों को धात्वन्तरों से कथंचित् सिद्ध किया जाता है, और कतिपय प्रयोगों को असाधु समझा जाता है । इस धातु-लोप प्रकरण को स्पष्ट करने के लिए इसे कई अवान्तर प्रकरणों में विभक्त किया जाता है । यथा—

क—सर्वथा लुप्त धातु—कतिपय धातुएँ ऐसी हैं, जो सम्प्रति सर्वथा लुप्त हो चुकी हैं, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों में क्वचित् उपलब्ध होती हैं । यथा—

सिह (सिहि) हिंसायाम्—	काशकृत्स्न धातुपाठ (पृष्ठ ६६)
ढुण्ढ (ढुढि) अन्वेषणे —	,, ,, (,, ३४) तथा स्कन्द पुराण काशी, खण्ड । हिन्दी, पंजाबी में—ढूँढ़ना ।
छन्द (छदि)—	दैवत ब्रा० १।३।। क्षीर अमरटीका २।७।२२; ३।३।२३२।।

---

१. असाधव एवैते । पदमंजरी १।४।६।। वैदिक वाङ्मय में ऐसे प्रयोग प्रायः उपलब्ध होते हैं ।

२. भट्टोजिदीक्षित ने 'अन्यतम' की वर्तमान संज्ञा का निषेध किया है । द्र० शब्दकौस्तुभ तथा सि० कौ० १।१।२७।।

३. चाक्रवर्मण आचार्य के मत में 'द्वय' की सर्वनाम संज्ञा होती थी । द्र० शब्दकौस्तुभ १।१।२७।।

गृभ[1]	निरुक्त १०।२३॥
भाव्य[2]	वायु पुराण ६४।१७॥
बल[3] (ज्वलने)—	शतपथ २।६।२।११ में यङ्लुक—बल्बलीति । हिन्दी पंजाबी में बलना ।
भिष (भेषति)	चरक सं० विमान० ८।८७॥
वध (वधति)	वैशेषिक १।१।१२॥

टिप्पणी—ध्यान रहे कि धातुओं का जो स्वरूप सम्प्रति माना जाता है वह पाणिनि द्वारा परिष्कृत तथा संक्षिप्त किया गया है। पाणिनीय धातुपाठ में भी (जो सम्प्रति उपलब्ध है) सायण आदि ने पर्याप्त न्यूनाधिक्य किया है।[4] पाणिनि से पर्याप्त प्राचीन[5] काशकृत्स्न धातुपाठ में पाणिनि की अपेक्षा लगभग ४५० धातुएँ अधिक पठित हैं।

ख—आंशिक रूप में लुप्त धातुएँ—कुछ समानार्थक धातुएं ऐसी हैं जिनमें से कतिपय प्रत्ययों में एक धातु का प्रयोग होता है तो अन्य प्रत्ययों में तदर्थक अन्य धातु का। पाणिनि आदि वैयाकरणों ने धात्वादेश के रूप में उनकी व्यवस्था की है। सांप्रतिक वैयाकरण उस व्यवस्थित विषय से अन्यत्र उन धातुओं का प्रयोग असाधु मानते हैं, परन्तु पुराकाल में इन धातुओं का प्रयोग पाणिनीय व्यवस्थित विषय से अन्यत्र भी होता था और उस काल में उन्हें व्यवस्थित ही माना जाता था। यथा—

साधु स्वीकृत	प्राचीन	
ध्मायमानः	धम्यमानः	महा०, कर्ण० ८।८॥
विध्माय	विधम्य	,, ,, १४।३५॥
ध्मास्यामि	धमिष्यामि	रामायण सुन्दर० ६७।१२॥ क्षीरतरंगिणी १।६५९॥
जिघ्रति	घ्राति	महा०, शान्ति० १८७।१७॥ उणादि ५।५६॥

१. गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा। यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति, गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति।

२. भाव्य इत्येष धातुर्वै भाव्ये काले विभाव्यते।

३. प्रामाणिक हिन्दी कोष के सम्पादक श्री रामचन्द्र वर्मा (सं०२००८ वि०) ने हिन्दी जलना अर्थ वाली बलना क्रिया का मूल संस्कृत 'बर्हण' माना है। प्राचीन संस्कृत के न जानने से उनको यह भ्रान्ति हुई है।

४. द्र० धातुवृत्ति, पृष्ठ १६३, काशी संस्क०। ऋग्वेदभाष्य १।८२।१॥

५. कुछ लोग स्वल्पाध्ययन के कारण काशकृत्स्न को पाणिनि से उत्तरकालीन मानते हैं, वह ठीक नहीं। परम्परा का प्रमाण बलशाली है।

अभिघ्राणम्	अभिजिघ्राणम्	तन्त्रवार्तिक १।३।८ में उद्धृत गृह्य पाठ।
पश्यति	दृश्यति	महा०, शान्ति० ३२१।१०॥
वचनात्	श्रवणात्	निरुक्त ६।६ का तन्त्रवार्तिक १।३।१८ में उद्धृत पाठ।[1]
अपश्यम्	अदृश्यम्	पंचतन्त्र, हर्टल, पृष्ठ १११।

ग—वर्णादेश द्वारा प्रज्ञापित धातुओं का लोप—वैयाकरणों ने जिन धातुओं में सम्प्रसारण अथवा अन्य प्रकार के वर्णादेश करके भिन्न रूप वाले शब्दों की निष्पत्तियां दर्शाई हैं, वे सम्प्रसारण अथवा अन्य वर्णादेश वाली धातुएँ भी मूल धातुएँ थीं।[2] अतएव पुराकाल में दोनों प्रकार की धातुओं के स्वतन्त्र प्रयोग होते थे। यथा—

प्रचलित	प्राचीन	
यजन्ति	इज्यन्ति	महा०, शान्ति० २६३।२६॥
अनूषितम्	अनुवसितम्	अर्थशास्त्र ३।१६॥
वसन्तीम्	उषतीम्	महा०, शान्ति० २६६।८।

अन्यवर्णादेश रूप—

प्रचलित	प्राचीन	
संयच्छते	संयमते	महा०, स्त्री० ७।१५॥
गमिष्यति	गच्छिष्यति	तुलना करो—पाली में 'गच्छिस्सति'। झेलम की भाषा में 'गछणा' प्रयोग है।
दातृप्रतीषकौ	दातृप्रतीच्छकौ[3]	मनु ४।१६४॥
क्रम	क्राम[4]	अर्थशास्त्र 'अपक्रान्तव्यम्'

---

१. निरुक्त का पाठ पीछे से बदला गया है। डा० लक्ष्मणसरूप द्वारा सम्पादित निरुक्त के कुछ हस्तलेख तन्त्रवार्तिक द्वारा उद्धृत पुराने पाठ की ओर संकेत करते हैं।

२. यास्क मुनि इस सम्प्रसारण रूपी वर्णादेश का 'द्विप्रकृतीनां स्थानम्' (२।२) पदों से संकेत करता है। उस काल से बहुत पूर्व, संप्रसारण आदि वर्णादेशों के द्वारा, मूल धातुओं के स्थान में एक धातु से कार्य चलाने का मार्ग चल पड़ा था।

३. पाणिनीय मतानुसार अकप्रत्यय में 'इष इच्छायाम्' के षकार को छकार नहीं होता।

४. यथा—क्रामति। अष्टा० ७।३।७६॥

ग्रह	ग्राह[1]	महा०, वन० में 'निजग्राहतुः'

(६) **वर्तमान में लुप्त धातुरूप**—इस विभाग में धातुओं के उन कतिपय रूपों का निदर्शन कराया जाता है, जो सम्प्रति अप्रयुक्त हो गए हैं अथवा जिन्हें असाधु माना जाता है। ये धातुरूप गणभेद, आत्मनेपद परस्मैपद, सेट् अनिट् आदि कई विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं। हम उनमें से कतिपय प्रकार के प्रयोग दर्शाते हैं। यथा—

(क) **गणभेद**—वैयाकरणों ने जिस धातु को जिस गण में पढ़ा है, उस धातु से उस गण से अतिरिक्त विकरण भी देखे जाते हैं। यथा—

साधु स्वीकृत	अप्रचलित		
विरुन्धन्ति	विरुध्यन्ति	महा० उद्योग	१२७।१०॥
पचन्ति	पच्यन्ति	,, ,,	१०९।१४॥
ध्यायामि	ध्यामि	,, ,,	१७५।१६॥
ग्लायति	ग्लाति	,, वन०	२०७।२९॥
आप्नुयुः	आपुयुः	,, शान्ति०	२१४।२४॥
लुनाति	लुनोति	आप० श्रौत	१।४।४।२॥
घ्नन्	हनन्	ब्रह्मवैवर्त पुराण[2]	
अहन्	अहनत्	महा०, सौप्तिक	८।५६॥
	न्यहनत्	,, भीष्म ७२।३२।८२।४७,५५॥ द्रोण १४२।५८॥	
कथयन्ति	कथन्ति[3]		

(ख) **आत्मनेपद परस्मैपद**—वैयाकरणों ने जिन धातुओं को आत्मनेपदी कहा है, उनके परस्मैपद में और परस्मैपदी धातुओं के आत्मनेपद में भी रूप देखे जाते हैं। यथा—

आत्मनेपदी धातुओं के परस्मैपद में—

साधु स्वीकृत	प्राचीन प्रयोग		
याचेत	याचेत्	महा०, आदि	३।१८॥
सहते	सहति	,, भीष्म०	१२१।३२॥
		शान्ति०	८७।२१॥

---

१. **यथा—ग्राहयति, ग्राहः। वृद्धि-अष्टा० ७।२।११६॥**

२. **वीरमित्रोदय, भक्तिप्रकाश पृष्ठ ४५ पर उद्धृत।**

३. **मत्स्यपुराण तथा विष्णुधर्मोत्तर। अद्भुत सागर, पृ० ४१२ पर उदधृत।**

एधन्ते	एधन्ति	महा० वन०	२४६।२२।।
रोरूयन्ते	रोरूयन्ति	,, शल्य०	५०।६०।।
युध्यते	युध्यति	,, शान्ति०	६७।१०।।

परस्मैपदी के आत्मनेपद में—

इच्छसि	इच्छसे	महा०, विराट०	३३।५६।।
		कर्ण०	५६।६।।
भव	भवस्व	,, कर्ण०	३५।४४।।
भवति	भवते [वीतशोकः]	श्वेताश्वतर	
भवेम	भवेमहि	महा० वन०	३१५।८।।
		द्रोण	७५।३।।
जेष्याम	जेष्यामहे	,, वन०	३१५।२६।।
गच्छेः	गच्छेथाः	,, आश्व०	६।३६।।
		अनु०	५३।६४।।
पश्य	पश्यस्व	,, आश्व०	१०।१६।।
अजिघ्रन्	अजिघ्रन्त	,, अनु०	५०।१०।।

नियुञ्जीत तथा **नियुञ्ज्यात्**—कभी ये दोनों रूप अति प्रसिद्ध थे। कौटल्य में—**उपयुञ्जीत** और चरक संहिता, सूत्र स्थान ५।१० में **प्रयुञ्जीत** प्रयोग मिलते हैं। पर निम्नलिखित रूप भी द्रष्टव्य हैं—

उन्मृज्यात्	व्यास, वीरमित्रोदय, आह्निक प्रकाश, पृ० ४१ पर उद्धृत।
नियुञ्ज्यात्	मनु ८।६।। नारद, व्यवहारदर्शन १।६८।।
निमृज्यात्	तै० सं०।[1]
प्रशंसीयात्	कात्यायन, परिशिष्ट पृ० ६२।
भुञ्ज्यात्	शान्तिपर्व १६१।६
युञ्ज्यात्	चरक सं०, सूत्र २।१२।।१६।११।।
	तन्त्राख्यायिका, तन्त्र द्वितीय, श्लोक १२६।

इसी प्रकार कई अन्य धातु-रूप भी द्रष्टव्य हैं।

(ग) **सेट् अनिट्**—वैयाकरणों ने जिन धातुओं को सेट् माना है, उनके इट् रहित प्रयोग और अनिट् धातुओं के इट् सहित प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं। यथा—

वेदिता	वेत्ता	महा०, भीष्म	३।६०।।१२०।४३।।

१. हारीत धर्म में—प्रमृजीत। वीरमित्रोदय, आह्निक प्रकाश, पृ० १४२ पर उद्धृत।

वेदिष्यति	वेत्स्यति	महा०, भीष्म	२।११॥
उषित्वा	उष्ट्वा	,, वन	८२।३५॥

(७) **लुप्त धातु-उपसर्ग सम्बन्ध**—पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों का नियम है कि लोक में उपसर्ग का प्रयोग धातु से अव्यवहित पूर्व में होना चाहिए।[1] वेद में उपसर्ग का प्रयोग धातु से व्यवहित तथा परे भी होता है।[2] प्राचीन अतिभाषा में भी उपसर्गों का पूर्व, पर, और व्यवहित तीनों प्रकार का प्रयोग था। यथा—

पूर्व व्यवहित प्रयोग —

तदेषाभि यज्ञगाथा गीयते।	ऐ० ब्रा० ८।२१॥
अधि विश्वे विषक्ताः।	महा० आदि० ३।६२॥
अति मां नन्दयत्येष।	,, द्रोण ४८।२२॥
सर्वाण्यति च सैन्यानि भारद्वाजो व्यरोचयत्।	महा०, द्रोण० २३।८१॥

पर व्यवहित प्रयोग—

पश्यामस्त्रिषु लोकेषु न तं सं स्थास्नुचारिषु। महा०, द्रोण १०।६८॥

(८) **प्रत्यय लोप**—अतिभाषा में प्रयुक्त, परन्तु उत्तरकालीन संस्कृत में लुप्त धातु और नामों के कुछ उदाहरण दे चुके। अब हम धातु और प्रातिपदिक से होने वाले उन कृत् और तद्धित प्रत्ययों का निदर्शन कराते हैं, जो प्राचीन अतिभाषा में प्रयुक्त किए जाते थे, परन्तु उत्तरकालीन संस्कृत में उन प्रत्ययों का सर्वांश में अथवा आंशिक रूप में लोप हो गया। इन उत्तरकाल में लुप्त प्रत्ययों के कारण प्राचीन अतिभाषा में एकार्थक परन्तु प्रत्ययमात्र के भेद से भिन्न शब्दों का बाहुल्य था। यथा—

(क) **कृत्प्रत्ययों का लोप**—काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नड टीका में उद्धृत काशकृत्स्न के सूत्रों में अनेक ऐसे प्रत्यय स्मृत हैं, जिनसे निष्पन्न शब्द तो भाषा में प्रयुक्त हैं, परन्तु उन प्रत्ययों का विधान पाणिनीय व्याकरण में उपलब्ध नहीं होता है। यथा—

१—कश धातु से यप और इपु प्रत्यय।[3] इनसे कश्यप और हिरण्यकशिपु शब्द निष्पन्न होते हैं।

---

१. ते प्राग्धातोः। १।४।७६॥

२. छन्दसि परेऽपि, व्यवहिताश्च। १।४।८०, ८१॥

३. कशेर्यप इपुश्च। काश०, धातु० पृष्ठ ७६॥
वायुपुराण ६५।११५ के अनुसार —
कश्यं मद्यं स्मृतं विप्रैः कश्यपानात्तु कश्यपः।
फारसी शब्द कशीद का इस कश्य से सम्बन्ध है।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने कश्यप की निष्पत्ति 'पश्यक' के आद्यन्त विपर्यय से मानी है।[1] परन्तु पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों के मत में अक प्रत्यय में पश्यक पद निष्पन्न ही नहीं होता।

२—पुल धातु से **अस्त्य** और अग से **अस्ति** प्रत्यय होते हैं।[2] इनसे क्रमशः पुलस्त्य और अगस्ति पद निष्पन्न होते हैं।

णिलोप—प्रवर्तिता = प्रवर्तयिता। याज्ञवल्क्य, व्यवहार १५३।

(ख) **कृत् प्रत्ययों का आंशिक लोप**—पाणिनि के व्याकरण में कतिपय प्रत्ययों को छोड़कर शेष प्रत्यय व्यवस्थित विषय वाले माने गये हैं, अर्थात् जिन-जिन धातुओं से उनका विधान किया है, उनसे अतिरिक्त धातुओं से वे प्रत्यय नहीं होते। यथा—

यत् ण्यत् और क्यप्—ये तीनों प्रत्यय समानार्थक हैं, परन्तु किन धातुओं से कौन-सा प्रत्यय होता है, इसका विशेष ध्यान पाणिनि ने विस्तर से दर्शाया है। प्राचीन संस्कृत भाषा में इन प्रत्ययों का प्रयोग पाणिनि-निर्दिष्ट धातुओं से अन्यत्र भी देखा जाता है। काशकृत्स्न धातुपाठ की चन्नवीर कवि कृत कन्नड टीका में प्रतिधातु प्रदर्शित कृदन्त प्रयोगों से विदित होता है कि काशकृत्स्न के काल में इन तीनों प्रत्ययों का सामान्य विधान रहा होगा। यथा—

१. द्युत—द्युत्यम् (क्यप्) द्यौत्यम् (ण्यत्)। पृष्ठ १३०।
२. रुच—रौच्यम् (ण्यत्)। पृष्ठ १३०।
३. मिद—मेद्यम् (यत्) मैद्यम् (ण्यत्) पृष्ठ १३१।
४. घुट—घुट्यम् (क्यप्) घौट्यम् (ण्यत्)। पृष्ठ १३१।
५. रुट—रुट्यम् (क्यप्) रौट्यम् (ण्यत्)। पृष्ठ १३१।

(ग) **तद्धित प्रत्ययों का लोप**—जिस प्रकार अनेक सामान्य कृदन्त प्रत्यय पाणिनि के काल में भाषा में आंशिक रूप में ही सुरक्षित रहे, उसी प्रकार अनेक सामान्य तद्धित प्रत्यय भी पाणिनि के काल में आंशिक रूप में ही प्रयुक्त रह गये थे। यथा—**संख्यापूरणार्थक** प्रत्यय।

संख्यावाची विभिन्न प्रातिपदिकों से पाणिनि ने पूरण अर्थ में अ[3], म, तम, थ, तिथ, इथ, तीय आदि पृथक्-पृथक् प्रत्ययों का विधान किया है, परन्तु प्राचीन अतिभाषा में इनमें से कतिपय प्रत्ययों का व्यवहार सामान्य रूप से मिलता है। सम्प्रति संस्कृत भाषा में प्रयोग होता है—

---

१ कश्यपः पश्यको भवति। तै० आर०।

२. पुल्यगिभ्यामस्त्योऽस्तिश्च। काश०, धातु० पृष्ठ ८६।

३. यहाँ हमने आगम आदेश आदि करके प्रत्ययों का जो लोक-व्यवहृत रूप है, उसका निर्देश किया है।

चतुर्थ पञ्चम षष्ठ सप्तम अष्ठम नवम दशम ।

प्राचीन अतिभाषा में **पंचम** आदि के साथ **पञ्चथ, सप्तथ, अष्टथ, नवथ दशथ** आदि प्रयोग भी होते थे । पाणिनि ने इन प्रयोगों को छान्दस कहा है ।[1] निस्सन्देह पाणिनि के काल के समीप लोकभाषा से इनका प्रचुर व्यवहार उठ गया था ।

अतिभाषा में इनके अस्तित्व का अंग्रेजी आदि से प्रमाण

अंग्रेजी भाषा में **फोर्थ, फिफ्थ, सिक्स्थ, सैवन्थ, एठ्थ, नाइन्थ, टैन्थ** आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं । इनमें अतिभाषा में प्रयुक्त पूरणार्थक थ प्रत्यय अभी तक सुरक्षित है ।

इससे ज्ञात होता है कि अंग्रेजी के पुराने रूपों का विकार अतिभाषा से बहुत पुराकाल में हुआ ।

लैटिन में—क्वार्टो (quarto–चतुर्थ), क्विंटो (quinto–पंचथ), सैक्सटो (sexto–षष्ठ), सेप्टिमो (septimo–सप्तमः), नॉनो (nono–नवमः), डैसिमो (decimo–दशमः) प्रयुक्त होते हैं । इनमें उत्तरकालीन संस्कृत के समान थ और म दो प्रत्ययों का मिश्रण है ।

म-तम—ये पूरणार्थक प्रत्यय भी प्राचीन अतिभाषा में सामान्य रूप से प्रयुक्त होते थे । अतः **चतुर्विंशतितम** आदि के स्थान में म-प्रत्ययान्त **चतुर्विंशतिम** (वायु० पु० २१।५५) आदि प्रयोग भी साधु थे ।

तथा—**माषो विंशतिमो भागः** । नारद, याज्ञ०, व्यवहार, १५९ पर मिता-क्षरा में उद्धृत । पार्जिटर के पुराण पाठों में—**पंचत्रिंशति वर्षाणि**, (पृ० १६), षट्त्रिंशति समा नृपाः, (पृ० ३१)

लोक शब्द से यक् प्रत्यय—पाणिनि मत के अनुसार **लोके विदितः** अर्थ में **ठञ्** प्रत्यय होकर **लौकिक** शब्द निष्पन्न होता है ।[2] परन्तु प्राचीन संस्कृत में इसी अर्थ में **यक्** प्रत्ययान्त **लौक्य** शब्द का भी प्रयोग उपलब्ध होता है । **यथा**—

१. लौक्यं वैदिकमेव च । महा०, आश्रम० ११।३८।।
२. लौक्यम्— चरक, विमानस्थान ८।१२।।
३. लौक्यानां वैदिकानां च । बृहद्देवता १।४।।
४. **कलानां लौक्यानां** ।जातकमाला, सुतसोमजातक में पृ० २०८ पर भी ऐसा प्रयोग है—

---

१. **थट् च छन्दसि । ५।२।५० ।। पञ्चथाद्वा । काठक सं० ९।३।। वाक् सप्तथी काठक सं० १४।६ ।।**

२. **लोकसर्वलोकाट्ठञ् । अष्टा० ५।१।४४।।**

५. धर्म्यं स्वर्ग्यं च लोक्यं च । महा०, शान्तिपर्व ।

आश्वलायन गृह्य ४।१०।३१ में **लोक्यः** पाठ उपलब्ध होता है । यदि यह मुद्रण-प्रमाद न हो तो विदित अर्थ में यत् प्रत्यय का भी विधान मानना होगा ।

(९) **लुप्त समासरूप**—इस विभाग में उन समस्त (समासयुक्त) प्रयोगों का निदर्शन कराया जाता है, जिन्हें साम्प्रतिक वैयाकरण असाधु प्रयोग मानते हैं । यथा—

(क) **समास की अप्राप्ति में समास का प्रयोग**—पाणिनि के २।२।१५ अथवा २।२।१६[1] के नियमानुसार तृच् और अक प्रत्ययान्त शब्द का षष्ठ्यन्त पद के साथ समास नहीं होता, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों में तथा पाणिनि के अपने शब्दानुशासन में ऐसे समासों का बहुधा प्रयोग मिलता है । यथा—

वृत्रहन्ता । महा० शान्ति० २२८।८६।। वन० १७६।१।।

बलहन्तुः । महा० अनु० १९०।३६।।

जनिकर्तुः प्रकृतिः । अष्टा० १।४।३०।।

तत्प्रयोजको हेतुश्च । अष्टा० १।४।५५।।

दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् । वार्तिक १।२।१०।।

भामह ने अपने अलङ्कारशास्त्र ६।३६,३७ में **वृत्रहन्ता** समास को **अशुद्ध** माना है, और ऐसे शब्दों के प्रयोग का निषेध किया है ।

भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक १।३।२४ (पृष्ठ २६० पूना) में अष्टाध्यायी तथा वार्तिक के उपर्युक्त समस्त प्रयोगों को असाधु कहा है ।

इसी प्रकार महाभाष्य के प्रथम आह्निक में प्रयुक्त '**अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः**' समास को भी अयुक्त माना जाता है ।[2]

(ख) **समास लिंग**—वैयाकरणों का मत है कि अकारान्त उत्तरपद वाला द्विगु समास स्त्रीलिंग होता है'।[3] यथा—अष्टाध्यायी, पञ्चपूली । तदनुसार—

षण्मासान् । महा०, स्त्री० २०।२९।। शान्ति० २४०।३२।।
सौप्तिक २०।२९।। बौधायन धर्मसूत्र ।

षण्मासाण्यच्च । अष्टा० ५।१।८२।।

---

१. इन दोनों सूत्रों के अर्थ में काशिकाकार तथा सिद्धान्त-कौमुदीकार का मतभेद है । अतः दोनों सूत्रों का निर्देश किया है ।

२. इसी शैली के अनुसार प्रयुक्त 'अथ चक्रवर्तिशब्दस्य कः पदार्थः' के विषय में 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ २२२, २२३ दर्शनीय हैं ।

३. अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते । महा० २।१।५१।।

आदि में **षण्मासी** स्त्रीलिंग का प्रयोग होना चाहिए। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने संस्कृतवाक्यप्रबोध में उपर्युक्त शिष्ट प्रयोगों के अनुसार **'षण्मासात्'** पद का प्रयोग किया था। उसे उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् अम्बिकादत्त व्यास ने 'अबोध-निवारण' लेख में अपशब्द कहा था। इसके उत्तर में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पूर्वनिर्दिष्ट पाणिनीय प्रयोग के आधार पर अपने प्रयोग का साधुत्व दर्शाया था।[1]

इसी प्रकार गणपाठ ६।३।३४ के प्रियादि गण में भक्ति शब्द का पाठ होने से 'दृढभक्ति' पद में पूर्व पद दृढा को पुंवद्भाव नहीं होना चाहिए। तदनुसार महाभारत शान्ति ६७।३६॥६८।५८।५६,५७ में असकृत् प्रयुक्त दृढभक्ति शब्द असाधु होगा। पतञ्जलि ने महाभाष्य ६ ३।३४ में इस शिष्ट प्रयोग के सम्बन्ध में उपर्युक्त आक्षेप उठाकर 'कर्तव्यो ऽत्र यत्नः' (इसके साधुत्व के लिए यत्न करना चाहिए) कह कर साधु माना है।[2]

यही प्रयोग रघुवंश १२।१६ में भी है।

(ग) पूर्व प्रयोग—बहुव्रीहि समास में कात्यायन २।२।३५ के नियमानुसार सर्वनाम पद का पूर्वप्रयोग होना चाहिये। तदनुसार—

हस्तदक्षिणम्। महा०, शान्ति० १८१।६॥

प्रयोग असाधु होगा। साम्प्रतिक वैयाकरण पतञ्जलि के **'अमुष्मिन्नवकाशे हस्तदक्षिणो ग्रहीतव्यः** (महा० १।३।२) प्रयोग को अगत्या साधु कहते हैं। वस्तुतः पतञ्जलि ने महाभारत आदि में प्रयुक्त शिष्ट शब्दों का अनुकरण मात्र किया है। यदि उत्तरकालिक व्याकरण के नियम से विपरीत होने पर भी प्राचीन शिष्टानुकृत पातञ्जल **हस्तदक्षिण** प्रयोग साधु माना जा सकता है, तो अन्य प्राचीन शिष्ट प्रयोग असाधु अथवा अनियमित क्योंकर कहे जा सकते हैं?

इसी प्रकार समासस्थ विभक्ति का लुक् अथवा अलुक् आदि विविध नियमों के विषय में जानना चाहिए।

(१०) **लुप्त सन्धिरूप** - इस विभाग में वे प्राचीन सन्धिरूप दर्शाए जाते हैं जो इस समय असाधु माने जाते हैं, अथवा जिनमें दो वार सन्धिकार्य अथवा अव्यवस्थित सन्धिकार्य माना जाता है। यथा—

	साधु स्वीकृत	प्राचीन	
१.	समा आहूय	समाहूय	महा०, उद्यो० ५२।१०॥

---

१. **देखो, 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ २२३।**

२ **कई वैयाकरण 'दृढभक्ति' को अपशब्द मानते हैं।**

२.	वस्वोक:सारा:	वस्वोकसारा:	महा०, द्रोण ६७।१६।।
३.	तपउपवास	तपोपवास	चरक सूत्र० १।६।।
४.	वयउपेताम्	वयोपेताम्	महा०, शान्ति० १६८।३३।।
५.	तेजउद्भवम्	तेजोद्भवम्	,, ,, ३४२।२।।
६.	ज्ञेय आत्मा	ज्ञेयोत्मा	,, अनु० १४१।१९८।।
७.	मानव आत्मवान्	मानवोत्मवान्	,, शान्ति० ३२७।१७।।
८.	गूढ आत्मा	गूढोत्मा[1]	,, ,, २५२।५।। कठोप० ३।१२।।
९.	स आत्मरति:	सोत्मरति:	महा०, शान्ति० २४४।२४।।
१०.	म आस्यम्	मेस्यम्	,, ,, ३१८।७।।
११.	आयुर्दा अवलिता:	आयुर्दावलिता:	वीरमित्रोदय, लक्षण, पृ० ७९ पर उद्धृत
१२.	उशना: प्रत्यभाषत	उशना प्रत्यभाषत	महा० शान्ति०

सन्धियों के विषय में कीथ और पुसलकेर—प्राचीन सन्धियों पर लिखते हुए पुसलकेर लिखता है—

The last argument regarding irregular and double Sandhis has been answered by Dr. Keith (JRAS. 1914, p. 1030) by stating that they are simply instances of careless Sanskrit, which are not rare in Sanskrit.[2]

अर्थात्—कीथ के अनुसार ऐसी सन्धियाँ असावधानता से लिखी गई संस्कृत के कारण हैं।

समीक्षा—यदि पार्जिटर, कीथ और पुसलकेर प्राचीन शिष्ट संस्कृत के विशाल रूप से परिचित होते, तो वे ऐसा प्रमाण-हीन कथन न करते। सन्धियों में अन्तरविशेष नहीं हुआ। पाणिनि और अन्य नवीन व्याकरणों के अनुसार जो अन्तर प्रतीत होता है, उसके कारण अगले लेख से प्रकट होंगे।

इन प्राचीन प्रयोगों में जो असाधु सन्धिकार्य प्रतीत होता है उसका मुख्य कारण प्राचीन अतिभाषा के विशाल शब्दभण्डार से अपरिचय है। हम प्राचीन अतिभाषा में प्रयुक्त शब्दों के अनुसार इन सन्धियों का साधुत्व दर्शाते हैं। यथा—

संख्या १ में 'समा आहूय' छेद करने से उक्त सन्धिदोष प्रतीत होता है,

---

१. **सोत्यन्तं, शान्तिपर्व २०३।७।। सर्वोत्मानं, सौप्तिकपर्व ३।४।। यहाँ सन्धि में अत्यन्त और अतम पदों के अकार का लोप है। अष्टादश उप० के संपादक ने इसे आर्ष सन्धि कहा है।**

2. Studies in the Epics and Puranas, p. 28.

परन्तु अतिभाषा में अनेक ऐसे प्रयोग हैं जिनमें समास के विना भी ल्यप् प्रत्यय का प्रयोग देखा जाता है। यथा—**गृह्य, अर्च्य, सृत्य**। इसी प्रकार समास होने पर भी ल्यप् नहीं होता। यथा-प्रार्थयित्वा·········। इतना ही नहीं, नञ् समास में ल्यप् का साक्षात् निषेध होने पर भी अहृत्य, अज्ञाय आदि में ल्यप् का प्रयोग देखा जाता है। इससे स्पष्ट है कि क्त्वा और ल्यप् दो स्वतन्त्र प्रत्यय हैं। अतः **समाहूय** में समास के विना भी 'हूय' प्रयोग साधु होने पर कोई सन्धिदोष नहीं है।

संख्या २—५ में ओकस् तपस् वयस् तेजस् को सान्त शब्द मानने पर ही उक्त सन्धियाँ अव्यवस्थित प्रतीत होती हैं, परन्तु हम पूर्व (पृ० ५८, ५९) लिख चुके हैं कि ये शब्द अकारान्त भी हैं। अतः इन को अच् प्रत्ययान्त अकारान्त स्वीकार कर लेने पर कोई सन्धिदोष नहीं रहता।

संख्या ६—९ में आत्मा शब्द को आकारादि मानने पर उक्त सन्धिदोष प्रतीत होता है। परन्तु अत धातु से मनिण में **संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः** परिभाषा के अनुसार वृद्धि के अभाव में आत्मन् पर्याय अत्मन् प्रयोग भी साधु है। अतः यहाँ पर भी कोई अव्यवस्थित् सन्धि नहीं है। देखिए—**अत्मभूतैरतद्भूतः**, शान्ति पर्व ३३७।१६०॥

संख्या १० में पाणिनीय मतानुसार ण्यत् प्रत्ययान्त आस्य पद स्वीकार करने पर सन्धिदोष प्रतीत होता है, परन्तु पूर्व पृष्ठ १५७, १५८ निर्दिष्ट काशकृत्स्न मत के अनुसार अस धातु से यत् प्रत्यय होकर आस्य का पर्याय 'अस्य' शब्द भी साधु है। अतः अस्य' शब्द की विद्यमानता में उक्त सन्धि नियमित अथवा व्यवस्थित ही है।

संख्या ११ में 'आयुर्दाः अवलिताः' सन्धि छेद करने से उक्त सन्धि अव्यवस्थित प्रतीत होती है। वस्तुतः यहाँ **'कृतापकृतम्'** के समान केवल विशेषण पदों का समास है, अतः यहाँ सन्धि-दोष की उपस्थिति ही नहीं होती।

संख्या १२ में 'उशनाः' विसर्गान्त प्रयोग मानने पर अप्राप्त विसर्ग लोप स्वीकार करना होता है। परन्तु काशिका ७।१।९४ में उद्धृत माध्यन्दिन आचार्य के मतानुसार उशनन् और उशनस् दो स्वतंत्र शब्द प्रतीत होते हैं। तदनुसार नान्त **उशनन्** शब्द का **राजा** पद के समान **उशना** आकारान्त प्रयोग ही बनेगा। इस कारण यहाँ विसर्ग का ही अभाव होने से अप्राप्त विसर्गलोप दोष ही नहीं है।

(११) लुप्त वाक्य-विन्यास—प्राचीन अतिभाषा के अनेक वाक्य-विन्यास-प्रकार उत्तर काल की संस्कृत में लुप्त हो गए। पाणिनीय शास्त्र के लक्षणैकचक्षु विद्वान् प्राक्पाणिनि संस्कृत से वाक्य-विन्यास प्रकार को असाधु समझते

हैं। हम यहाँ प्राचीन अतिभाषा के वाक्य विन्यास के कतिपय प्रकार निदर्शनार्थ दो चार उदाहरणों के साथ उपस्थित करते हैं। यथा—

(क) **विभक्ति विन्यास**—साम्प्रतिक वैयाकरण संस्कृत भाषा में उसी विभक्ति विन्यास को साधु मानते हैं, जिसका पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में उल्लेख किया है। प्राचीन संस्कृत में पाणिनि-उल्लिखित विभक्तियों की अपेक्षा भिन्न विभक्तियों का भी विन्यास देखने में आता है। यथा—

पाणिनि-निर्दिष्ट	प्राचीन	
१. कस्माद्बिभ्यति	कस्य बिभ्यति	रामा० दाक्षि० बाल० १।५।।
२. भीष्मात् संत्रस्ताः	भीष्मस्य संत्रस्ताः	महा० कर्ण० ६०।८१।।
३. उद्यद्दण्डादुद्विजते	उद्यद्दण्डस्य उद्विजते	मनु० ७।१०३।।
४. ऋहलभ्यां परः	ऋहलोः परः[1]	द्र० अष्टा० ३।१।१२४।।
५. एकादशिभ्यां परः	एकादशिनोः परः	ऋक्सर्वा० ५।५।।
६. वनाद् वनं गत्वा	वनेन वनं गत्वा	महा० आदि० १५६।
७. कामात् जग्राह	कामाग जग्राह	" वन० १५४।२३।।
८. अन्नेन वर्धितम्	अन्नस्य वर्धितम्	मनु० ३।२२४।।
९. भीष्मवधाय सृष्टः	भीष्मवधात् सृष्टः	महा० उद्यो० १६३।३४।।
१०. इषोरयुगपत्	इषावयुगपत्[2]	वैशे० ५।१।१६।।
११. नहुषं न्यवेदयत्	नहुषाय न्यवेदयत्	महा० अनु० ८५।२८।।
१२. महर्षीन् न्यवेदयत्	महर्षीणां न्यवेदयत्	" " १०६।१४।।
१३. धृतराष्ट्रं न्यवेदयत्	धृतराष्ट्रे न्यवेदयत्	" आश्र० १।८।।

तथा और देखिए—

१४. तस्य मृषोक्तम् तन्त्राख्यायिका पृ० ३।

१५. सूतस्य अर्पयति अभिज्ञान शाकुन्तल, अङ्क १, श्लोक १५ से आगे।

१६. महर्षेर्गंगादेव्या समर्पितम्। उत्तर राम चरित ३।२ के पश्चात्।

(ख) **वचनविन्यास**—साम्प्रतिक मत है कि कर्तृवाच्य क्रिया में और कर्त्ता में समान वचन होना चाहिए, इसी प्रकार कर्मवाच्य क्रिया में और कर्म में। परन्तु प्राचीन अतिभाषा में इस प्रकार का बन्धन नहीं था। उसमें अन्य वचनों का भी प्रयोग हो जाता था। यथा—

विराटद्रुपदौ···ययुः। महा० द्रोण १८६।३१।।

शालावृका···विन्दति। ,, शान्ति १३३।८।।

---

१. यहाँ 'परः' पद का अनुवर्तन है। ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) आदि में व्याख्याकार 'पञ्चम्यर्थे षष्ठी' लिखते हैं।

२. इषाविति षष्ठ्यर्थे सप्तमी। उपस्कार।

तुलना करो—**चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति** । ऋ० १।१६२।६॥

(ग) **पुरुष विन्यास**—साम्प्रतिक वैयाकरणों का मत है कि कर्तृवाच्य क्रिया में अस्मद् के योग में उत्तम पुरुष का, युष्मद् के योग में मध्यम पुरुष का और शेष शब्दों के योग में प्रथम पुरुष का प्रयोग होना चाहिए। परन्तु प्राचीन अतिभाषा में उक्त पुरुष-नियम के अपवाद भी देखे जाते हैं। यथा—

वयं...प्रतिपेदिरे। महा० शान्ति ३३६।३१॥

यूयं...अपराध्येयुः। ,, वन २३९।१०॥

ददृशिरे वयं। महा०, शान्ति ३३६।३५॥

१७. पितृभ्यां ऋते। पितरौ ऋते। नारद १।३२॥

इस वचन के व्याख्यान में नारद स्मृति के भाष्यकार भवस्वामी ने वाल्मीकि और व्यास के भी ऋते पद के साथ द्वितीया के प्रयोग उदाहृत किए हैं।

टिप्पणी—प्राचीन अतिभाषा में विभक्ति, वचन तथा पुरुष विन्यास का इतना स्वच्छन्द प्रयोग क्यों होता था और वह किन नियमों के अनुसार साधु समझा जाता था, इसका विवेचन इसी प्रकरण के अन्त में किया जाएगा।

(घ) **उपसर्ग विन्यास**—सम्प्रति संस्कृत में उपसर्गों का प्रयोग धातु से अव्यवहित पूर्व किया जाता है, परन्तु अतिभाषा में इनका पूर्व, पर और व्यवहित प्रयोग भी होता था। इसके उदाहरण पूर्व (पृष्ठ १५६) लिख चुके।

(१२) **उदात्तादि स्वर लोप**—ब्राह्मणों के असाधारण कठोर तप के कारण दैवी वाक् में उदात्तादि स्वर आज तक सुरक्षित हैं। दैवी वाक् पर आधारित अतिभाषा भी दैवी वाक् के समान उदात्तादि स्वरों से युक्त थी, यह निस्संदिग्ध है। उत्तरकाल में अतिभाषा से पद तथा पदार्थ के समान स्वरों का ह्रास होने पर भी पाणिनि के काल तक उसमें स्वर प्रयोग सुरक्षित था। यह पाणिनि के लौकिक भाषा विषयक स्वर सूत्रों तथा स्वर-हेतुक विभिन्न प्रत्ययानुबन्धों से स्पष्ट है। यथा—

क—पाणिनि का एक सूत्र है—

विभाषा भाषायाम् ।६।१।१८१॥

अर्थात्—भाषा में झलादि (भिस् भ्यस्) विभक्त्यन्त षट् संज्ञक (पञ्चन्, सप्तन् आदि), त्रि और चतुर् शब्द में अंत से पूर्व अच् विकल्प से उदात्त होता है। यथा—पञ्चभिः, पञ्चभिः।

ख—पाणिनि का दूसरा सूत्र है—

उदक् च विपाशः ।४।२।७३॥

अर्थात्—विपाशा (व्यास) नदी के उत्तर किनारे पर निर्मित कूप के लिए

निर्माता के नाम से अञ् प्रत्यय होता है। दक्षिण किनारे के कूप के लिए अण होता है। यथा--

उत्तर के किनारे--दात्तः गौप्तः।

दक्षिण किनारे के--दात्तः गौप्तः।

ये प्रयोग नित्य प्रति की व्यावहारिक भाषा के हैं। तात्कालिक लोक भाषा में इस स्वर भेद का व्यवहार होने पर ही पाणिनि का स्वर भेद निमित्तक अञ् और अण प्रत्ययों का भेद करना युक्ति-संगत हो सकता है, अन्यथा नहीं।

इस से यह भी स्पष्ट है कि पाणिनि उस काल का व्यक्ति है जब विपाशा (ब्यास) के उत्तर और दक्षिण किनारों के जन-साधारण एक ही शब्द को देशीय प्रथा के अनुसार दो विभिन्न स्वरों से युक्त व्यवहार में लाते थे।

बुद्ध के काल में इन स्थानों की भाषा प्राकृत हो गई थी। पाणिनि उससे बहुत पहले का आचार्य है।

संस्कृत का प्राचीन लौकिक वाङ्मय भी वैदिक वाङ्मय के समान स्वर युक्त था। यद्यपि उत्तरकाल में जैसे अनेक वैदिक ग्रंथों से स्वर चिन्ह लुप्त हो गए, उसी प्रकार प्राचीन लौकिक वाङ्मय भी स्वर-रहित हो गया, तथापि अनेक ऐसे प्रमाण अभी तक सुरक्षित हैं, जो कतिपय प्राचीन ग्रंथों के स्वर युक्त होने के स्पष्ट ज्ञापक हैं। यथा—

(१) **मनुस्मृति**—निरुक्त ३।१ में स्वायम्भुव मनु का **अविशेषेण पुत्राणां** श्लोक उद्धृत है। उस पर आज भी स्वर चिन्ह उपलब्ध हैं।

(२) **ब्राह्मण ग्रन्थों से पूर्व**—ऐतरेय और शतपथादि ब्राह्मणों में जो प्राचीन गाथाएँ लोक भाषा में उद्धृत हैं, वे शतपथ में सस्वर हैं।

(३) **निरुक्त से प्राचीन ग्रन्थ**—निरुक्त १४।६ में **मृतश्चाहं पुनर्जातः** आदि तीन श्लोक किसी प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत हैं। इनमें अद्यावधि स्वर चिन्ह विद्यमान हैं। इनमें से **आहारा विविधा भुक्ताः** श्लोक महाभारत (आश्व० १६।२२) में भी उपलब्ध होता है।

(४) **निरुक्त**—(क) निरुक्त के कतिपय हस्तलिखित पत्रे पं० युधिष्ठिर मीमांसक के पास सुरक्षित हैं (ये उन्हें सं० १९९० में काशी में गंगा-प्रवाह में बहते हुए मिले थे)। इनमें मन्त्रोद्धरण के पश्चात् प्रयुक्त **इत्यपि निगमो भवति** अंश पर स्वर चिन्ह लगे हुए है।

(ख) डा० लक्ष्मणसरूप द्वारा सम्पादित निरुक्त पृष्ठ ३१ टि० १० से व्यक्त होता है कि उनके द्वारा संगृहीत कतिपय हस्तलेखों में मंत्रउद्धरण के अनंतर प्रयुक्त इति पद सस्वर पढ़ा है।

(५) **श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा**—काशी संस्कृत सीरिज में मुद्रित शिक्षासंग्रह में पाणिनीय शिक्षा पर चिन्ह उपलब्ध होते हैं। यद्यपि सस्वर पाठ के लुप्त हो जाने के कारण चिन्ह बहुत विकृत हो गए हैं, तथापि मूल ग्रन्थ स्वरयुक्त था, यह इससे स्पष्ट है।

सस्वर अतिभाषा का प्रभाव

प्राचीन अतिभाषा के स्वर युक्त होने से उससे परम्परा से विकृत ग्रीक आदि भाषाओं में भी स्वर का सद्भाव मिलता है।

(१३) **अर्थ लोप**—प्राचीन अतिभाषा में एक शब्द प्रकरण आदि के अनुरोध से अनेक विभिन्न अर्थों का वाचक होता था। इसी प्रकार सम्प्रति पर्याय समझे जाने वाले शब्दों के अर्थों में भी पुराकाल में सूक्ष्म भेद था। उत्तरकाल में अनेकार्थक शब्दों के कुछ अर्थ लुप्त हो गए और कुछ शेष रहे। इसी प्रकार जिन शब्दों के अर्थों में सूक्ष्म भेद था, वह सूक्ष्म अर्थभेद भी लुप्त हो गया, और वे पर्याय बन गए। इनके विषय में अगले 'लुप्त पर्याय' शीर्षक के नीचे लिखेंगे। यहाँ उन शब्दों के विषय में लिखा जाएगा जो प्राचीन काल में अनेक अर्थों में प्रसिद्ध थे और उत्तर काल में उनके अनेक अर्थ लुप्त हो गए। यथा—

शब्द	प्रसिद्ध अर्थ	लुप्त अर्थ	प्रयोग स्थान
घृत	घी	जल	महा० आदि० १८।३५॥
क्षय	नाश	ऐश्वर्य	" सभा० २१।६॥
"	"	गृह	" वन० १६२।३२॥
			शान्तिपर्व १६७।५॥
			मनु ६।६१॥
			बृहद्देवता ४।११४॥
भवन	गृह	क्षेत्र	महा० उद्योग० ८४।१५॥
			अष्टा० ५।२।१ 'भवने क्षेत्रे'।
अर्यमा	देवविशेष	सूर्य	महा० द्रोण० १।२१।
कर्म	क्रिया	अर्थ	निरुक्त १।२,४ इत्यादि।

(१) **लुप्त पर्याय**—प्राचीन अतिभाषा में वस्तुतः कोई भी पर्याय शब्द नहीं था। सम्प्रति जिन शब्दों को पर्याय माना जाता है, आदि में उनके अर्थों में कुछ-कुछ सूक्ष्म भेद था। मीमांसक सम्प्रदाय में यह प्राचीन तथ्य अद्ययावत् सुरक्षित है। भगवान् जैमिनि ने लिखा है—

अन्याय्यश्चानेकशब्दत्वम् ।१।३।२६॥

अर्थात्—एक अर्थ के लिए अनेक शब्द स्वीकार करना अन्याय्य है।

यहां अन्याय्यः पुल्लिङ्ग है और शब्दत्वम् नपुंसकलिंग है।

चिरकाल पश्चात् मतिमान्द्य तथा अविद्या के कारण जब शब्दों का अर्थों में निहित सूक्ष्म भेद लुप्त हो गया तब वे शब्द पर्याय मान लिये गए। इस प्रकार पर्याय शब्दों की सृष्ठि हो जाने के पश्चात् कालान्तर में उन पर्याय शब्दों में से किसी देश अथवा जाति में कोई शब्द शेष रह गया और किसी एक में कोई। इस कारण उन देशों और जातियों की परम्परा से विकृत भाषाओं में उसी मूल संस्कृत शब्द का परम्परागत अपभ्रंश उपलब्ध होता है।

पर्याय लोप के विषय में हम पूर्व पृष्ठ ८२-८३ तक लिख चुके हैं। यहाँ हम कतिपय पर्याय शब्दों की एक सूची उपस्थित करते हैं, जिससे ज्ञात होगा कि किस प्रकार देश और जाति भेद से तत्तद् देश और जाति की भाषाओं में अनेक पर्यायों में से एक-एक पर्याय शेष रहा है। यथा —

अर्थ	संस्कृत	अन्य भाषा	प्रयोग स्थान
गत्यर्थक धातु	शव		कम्बोज में
,, ,,	गम		आर्यों में
,, ,,	रंह		प्राच्य-मगध में
,, ,,	हम्म		सुराष्ट्र में
,, ,,	वञ्च(=वञ्ज)		मुलतान में
अश्ववाचक शब्द	हय		देवों में
,, ,,	अर्वा		असुरों में
,, ,,	वाजी		गन्धर्वों में
,, ,,	अश्व		आर्यों में
,, ,,	अश्व=अस्प		फारसी में
,, ,,		अस्व	पहलवी में
,, ,,	घोटः=घोड़ा[1]		हिन्दी में
,, ,,	ह्रेष=हार्स		अंग्रेजी में
अर्धवाची शब्द	नेम[2]=नीम=नएम		फारसी में, अवेस्ता में[3]
,, ,,	सामि=semi		अंग्रेजी में
,, ,,	अर्द्ध=ordo		लैटिन में
,, ,,		अद्धा	पंजाबी में

१. तथा घोटकाः। शालिहोत्र संहिता में। घोटकमुखाः। प्रावरिका सूत्र, याजुष परिशिष्ट, पृ० १८०।

२. **मीमांसा १।३।८ के शबर-भाष्य से विदित होता है कि उसके काल में अर्धवाची नेम शब्द आर्यों में अप्रयुक्त हो चुका था। म्लेच्छों में इसका प्रयोग अवशिष्ट था।** ३. **देखो पूर्व पृष्ठ ४६।**

भगिनीवाची शब्द		भगिनी=बोहिनी	बंगला में
,,	,,	बहिन	हिन्दी में
,,	,,	स्वसृ=sister	अंग्रेजी में

इसी प्रकार माता और अम्बा पर्यायों में से कौन शब्द किस भाषा में शेष रहा, यह पूर्व पृष्ठ ८२ पर लिख चुके हैं।

उक्षावाची शब्द	उक्षा=ox	अंग्रेजी में

अंग्रेजी में बहुवचन में (Oxen) रूप है। वह संस्कृत **उक्षाणः** पद का विकार है। अन्यथा अंग्रेजी में en प्रत्यय लग कर बहुवचन का स्पष्ट कारण दिखाई नहीं देता।

बलीवर्द	पद		संस्कृत में
,,	,,	बल्द	हिन्दी में
,,	,,	वइल्ल	प्राकृत में
,,	,,	bull	अंग्रेजी में।

अंग्रेजी शब्द प्राकृत से विकृत है, अन्यथा bull शब्द में ll का कारण नहीं मिलता। प्राकृत पद में ० ल्ल है।

,,	,,	बैल	हिन्दी, पंजाबी में
,,	,,	**वृष**=verres	लैटिन में
		उस्र:=urus=wildbull	अंग्रेजी में
		=ouros	ग्रीक में
		वृषभ=verszis	लिथूएनियन में

Among common examples (of non-Aryan influence) in Sanskrit we may note घोटक which appears beside अश्व।

यह किसी अंग्रेजी लेखक ने लिखा है। इसी प्रकार उदयनारायण तिवारी कृत 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास', नामक पुस्तक में पृ० ३७४ पर लिखा है, 'घोटक (उत्तरकालीन संस्कृत)"।

शालिहोत्र की मूल द्वादश साहस्री संहिता महाभारत युद्ध से अनेक शती पूर्व का ग्रन्थ है। जब उसमें घोटकपद विद्यमान है, तो पूर्वोक्त अनर्गल लेख लिखना नितान्त अज्ञान का फल है।

मण्डूकवाची शब्द		दर्दुर=डड्डू	पंजाबी में
,,	,,	मण्डूक=मेंडक	हिन्दी में
,,	,,	प्लवंग=Frog	अंग्रेजी में

भारतीय वाङ्मय में महाभारत का स्थानविशेष—वेदपद-बहुला अति-भाषा का दिग्दर्शन कराने के लिये हम ने भारतसंहिता के अत्यधिक पद अथवा वचन उद्धृत किए हैं। प्राचीनतम लोकभाषा का ज्ञान जितना महाभारत से

होता है, उतना अन्य पुस्तकों से नहीं। निस्सन्देह अगाध-बुद्धि व्यास ने प्राचीन प्रयोगों का भूरि-संरक्षण किया है। भारतीय परम्परा में यह तथ्य अवगत रहा है।

(१) **देवबोध का साक्ष्य**—महाभारत के उपलब्ध व्याख्याकारों में पुरातन-तम देवबोध (लगभग १००० विक्रम सं० अथवा इससे पूर्व) को यह सत्य भले प्रकार विदित था। अतः उसने लिखा—

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ॥

अर्थात्—जिन पद रत्नों को महेन्द्र के व्याकरण-समुद्र से व्यास ने निकाला, क्या वे पाणिनि के गोष्पद में मिल सकते हैं।

(२) **वायु पुराण का साक्ष्य**—वायु पुराण १।१८ में सुन्दर प्रकार से संकेत है—

भारती चैव विपुला महाभारतवर्धिनी।

अर्थात्—महाभारत की भाषा अति विस्तृत रूप की है।

(३) **महाभारत-साक्ष्य**—महाभारत संहिता के उपोद्घात में भी इस बात का निर्देश है—

अलंकृतैः शुभैः शब्दैः समयैः दिव्यमानुषैः।

अर्थात्—भारतसंहिता शुभ शब्दों से अलंकृत है। इस के शब्द-रूप अनियमित नहीं हैं। यह गायकों की भाषा नहीं,[1] प्रत्युत भाषा के आचार्यों की प्राक्-पाणिनीय भाषा है। न ही इसका मूल प्राकृत है।

योरोपियन घबराहट—भारतीय इतिहास और भाषा-विद्या में महाभारत के साहाय्य का दर्शन होते ही योरोपियन लेखकों में कम्पन हो उठता है, उनका धैर्य समाप्ति पर आता है, और उनकी आँखों के सम्मुख अंधकार छा जाता है। फलतः इस भय का निवारण करने के लिए अनेक पक्षपाती और चालाक लेखकों ने बहुत दिन से महाभारत पर आक्रमण आरम्भ कर दिया था। उन्होंने कृष्ण द्वैपायन भगवान् व्यास के अस्तित्व पर हाथ फेरा।[2] उनमें से विण्टर्निट्ज और बरो के आक्षेप आगे लिखे जाते हैं।

---

१. **तुलना करो**—a popular form of Sanskrit, which was developed by the bards,—E. W. Hopkins, Camb. His. India, vol. I, p 252.)

२. **देखो, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३८४। इस मतान्धता का परिचय मोनियर विलियम्स ने सन् १८७६ में दे दिया था।**

विण्टर्निट्ज लिखता है—

(a) Fantastic as is all the information imparted to us in the introduction to the Mahabharata about its supposed author. (H. I. L., p. 324)

अर्थात्—महाभारत के कल्पित रचयिता के विषय में जो सूचना इस के उपोद्धात में दी गई है, वह सारी झूठी और असम्भव है।

समीक्षा—महाभारत के जिस रचयिता को कालिदास और भास, कौटल्य और आश्वलायन, धर्मकीर्ति और अश्वघोष आदि विभिन्न मतों के महा विद्वान् ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं, उसे कल्पित कहना विण्टर्निट्ज की धृष्टता है। इस से अधिक और क्या कहें।

और जिस प्रकार विद्युद्-विद्या से अनभिज्ञ पुरुष विद्युत्-विषयक अनेक बातों को असम्भव कह कर अपने मन को संतोष दे लेता है, उसी प्रकार सत्य योग-विद्या से अनभिज्ञ विण्टर्निट्ज़ यदि व्यास विषयक कई बातों को असम्भव कहे तो इसमें इतिहास का क्या दोष है। यह तो विण्टर्निट्ज का बालकथन मात्र है।

(b) *For us*, however, who do not look upoh the Mahabharata with the eyes of believing Hindus, but as critical historians of literature it is everything but a work of art; and in any case we can not regard it as the work of *one* author (p. 326)

अर्थात्—हम समालोचक ऐतिहासिक हैं। हम श्रद्धायुक्त हिन्दुओं के समान महाभारत को नहीं देखते। कुछ भी हो, हम महाभारत को एक ग्रन्थकार की कृति नहीं मान सकते।

समीक्षा—यदि शतशः पाठान्तरों और प्रक्षेपों के होते हुए भी चार शती पुराने शैक्सपियर के नाटक, उसी के माने जाते हैं, तो पाँच सहस्र वर्ष का पुराना, परन्तु स्वल्प पाठान्तरों और प्रक्षेपों वाला महाभारत एक रचयिता की कृति क्यों नहीं। स्मरण रहे कि श्रद्धावान् आर्य महाभारत को व्यास और समन्तु आदि उनके साक्षात् शिष्यों की कृति मानते हैं। विण्टर्निट्ज में तो आलोचक ऐतिहासिक के गुणों का गन्ध भी नहीं है।

(c) In truth, he who would believe with the orthodox Hindus and the above-mentioned Western scholars, that our Mahabharata, in its present form, is the work of one single

man,[1] would be forced to the conclusion that this man was, *at one and the same time,* a great poet and a wretched scribbler, a sage and an idiot, a talented artist and a ridiculous pedant. (p, 460)

With regard to language, style and metre, too, the various parts of the Mahabharata show absolutely no uniformity.······ In reality the language of the epic is in some parts *more archaic, i.e.* more closely related to the Ancient Indian of the Vedic prose works, than in other parts. (p. 461)

अर्थात्—सत्यता यह है कि जो कोई कट्टर हिन्दुओं और पूर्व-वर्णित पाश्चात्य विद्वानों (जर्मन डहलमन, सन् १८९५, तथा फ्रैञ्च सिल्वेन लेवी) के समान विश्वास करता है कि वर्तमान रूप का महाभारत एक ही मनुष्य की कृति है, वह इस परिणाम पर पहुँचने में विवश हो जाएगा, कि ऐसा मनुष्य एक ही काल में एक महान् कवि और घसीट करने वाला मन्दभाग्य लेखक, एक मुनि और एक मूर्ख, एक मतिमान् कलाकार और एक उपहासार्ह, विद्याडम्बरी था।

भाषा, शैली और छन्द की दृष्टि से भी महाभारत के विभिन्न भाग सर्वदा कोई ऐक्य नहीं दिखाते।······वस्तुतः महाभारत की संस्कृत कई भागों की अपेक्षा दूसरे भागों में प्राचीन अर्थात् वैदिक गद्य ग्रन्थों से घनिष्ट सम्बद्ध है। इति।

समीक्षा—रॉथ और मैक्समूलर के मण्डल के लोगों का यह स्वभाव है कि जो कोई उनके विरुद्ध हुआ, उसे कोसने लगे। ऐसे लोगों ने श्लैगल, शॉपनहायर, गोल्डस्टुकर और हाग के विरुद्ध लिखा। विण्टनिट्ज़ भी उसी पक्षपाती मण्डल का सदस्य है। अतः वह डहलमन और सिल्वेन लेवी पर बरसा। उसके लेख का पहला भाग शब्दों का वृथा प्रयोगमात्र है।

दूसरे भाग में वह भाषा के विषय में लिखता है। भोले पुरुष को ज्ञान नहीं कि महाभारत संहिता में अनेक आख्यान और उपाख्यान सम्मिलित हैं। यथा—ययाति उपाख्यान, शाकुन्तलोपाख्यान, नलोपाख्यान, षोडशराजोपाख्यान और रामोपाख्यान आदि। ये उपाख्यान व्यास से सहस्रों वर्ष पूर्व के कविसत्तमों के ग्रन्थों में उपनिबद्ध थे। उनकी भाषा में वेद पदों का बाहुल्य था। और व्यास के अपने काल में भी पाणिनि-प्रदर्शित भाषा-संकोच का आरम्भ नहीं

---

१. **विण्टर्निट्ज़ हाप्किन्स की प्रतिध्वनि मात्र करता है**—The epic was composed not by one person nor even by one generation, but by several,...(Camb. H. Ind. Vol. I, p. 261)

हुआ था। यह संकोच विस्तृत रूप में पाणिनि के कई सौ वर्ष पश्चात् आरम्भ हुआ।

महाभारत के पूना संस्करण के सम्पादकों ने कई वार प्राचीन पाठों को टिप्पण में दे दिया है, और नवीन पाठों को मूल पाठ स्वीकार कर लिया है। यदि वे भाषा के क्रमशः ह्रास का ज्ञान रखते, तो कभी ऐसा न करते। पर धन्यवाद है, उन्होंने अनेक बहुमूल्य पाठान्तर टिप्पणों में सुरक्षित कर दिये हैं।

वस्तुतः व्यास की भाषा शैली और उसके विपुल प्रयोग व्यास की प्राचीनता का प्रामाणिक-चित्र उपस्थित कर रहे हैं। व्यास की संस्कृत के रूप को समझने के लिए योरोप को वाकर्नागल और मैकडानल का पल्ला छोड़ना होगा।

महाभारत के कई भाग ही नहीं, प्रत्युत सारा ग्रन्थ प्राचीन प्रयोगों से ओत-प्रोत है।

बरो विण्टर्निट्ज से एक पग आगे बढ़कर लिखता है—

Among the common deviations of the Epic language a few characteristic types may be quoted. The distinction between the active and middle forms of the verb, which was still fully alive in Panini's time, and for which he caters in some detail, is beginning to be blurred in the Epic. Active forms are used for middle and vice-versa, and even the passive verb sometimes takes active endings (श्रूयन्ति 'are heard', etc.)......

....

These and other irregular forms correspond to what is found in early middle Indo-Aryan, indicating that Epic Sanskrit is a later form of Sanskrit than that of Panini. No pre-Paninnean forms are found in the Epic, which means that although the Mahabharata story was familiar to people before Panini's time, even the earliest portions of the present text must be distinctly later than him. (p. 52)

बरो का वदतो व्याघात—

The tendency to change is a good deal more noticeable in the morphology, and in classical Sanskrit the wealth of forms prevalent in the earlier language is considerably reduced. (p. 37)

अर्थात्—रामायण और महाभारत की भाषा की सामान्य च्युतियों में से कुछ विशेष प्रकार उद्धृत किये जा सकते हैं। क्रिया के परस्मैपद (active) और आत्मनेपद (middle) रूपों का भेद जो पाणिनि के काल तक पूरा सजीव

था—और जिसका उपभोग वह कुछ विस्तार से करता है, महाभारत में अस्पष्ट और मद्धम होना आरम्भ हो रहा है। परस्मैपद रूप आत्मनेपद के लिये और आत्मनेपद रूप परस्मैपद पद के लिए प्रयुक्त होते हैं, कर्मवाच्य क्रिया (passive verb) कई वार परस्मैपद के प्रत्यय भी लेती है (यथा—श्रूयन्ति–सुने जाते हैं, इत्यादि)······।

ये और दूसरे अनियमित रूप प्रारम्भिक पाली और प्राकृत के रूपों के अनुरूप हैं। इससे निर्दिष्ट होता है कि रामायण और महाभारत की संस्कृत पाणिनि की संस्कृत से उत्तरकालीन रूप की है। महाभारत में कोई प्राक्-पाणिनीय रूप नहीं मिलते। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि महाभारत की परंपरा वैदिक काल तक पहुँचती है, और महाभारत की कथा पाणिनि के काल से पूर्व लोगों को सुविदित थी, तथापि महाभारत के उपलब्ध पाठ के प्राक्तम भाग पाणिनि से स्पष्टतया और अवश्य उत्तरकालीन हैं।

समीक्षा

प्रथम आक्षेप—रामायण और महाभारत की भाषा की सामान्य च्युति। बरो का यह प्रथम आक्षेप है। उसका मत है कि महाभारत की भाषा में परस्मैपद के स्थान में आत्मनेपद और आत्मनेपद के स्थान में परस्मैपद का प्रयोग यथार्थ रूप से गिरना है। बरो और उसके गुरुओं को संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं। देखो, वेद को अति पुरातन काल का सब स्वीकार करते हैं। उसमें भी यह बात बहुधा देखी जाती है। अतिभाषा वेदपद-बहुला थी। अतः उसमें वह प्रवृत्ति स्वाभाविक थी। उस समय लोकभाषा में ये सब प्रयोग साधु माने जाते थे। जिन धातुओं को पाणिनि ने केवल परस्मैपदी अथवा आत्मनेपदी माना है, उनमें से कुछ को काशकृत्स्न उभयपदी मानता है। निस्संदेह काशकृत्स्न के काल में सजीव शिष्ट-भाषा में वैसे प्रयोग प्रचलित थे। पाणिनि ने भाषा की संकोच-प्रवृत्ति देखकर उन धातुओं को एक एक रूप में सीमित कर दिया। अतः पाणिनि के नियमों की दृष्टि से पुरातन रूपों को देखवा पुरातन भाषा से अनभिज्ञता प्रकट करना है।

महाभारत में आत्मनेपद और परस्मैपद का भेद अस्पष्ट नहीं प्रत्युत इस ग्रन्थ के अति प्राचीन होने का प्रमाण है।

द्वितीय आक्षेप—बरो का दूसरा आक्षेप है कि, आत्मनेपद और परस्मैपद का बहुधा अभेद, और अनियमित रूप, प्रारम्भिक पाली और प्राकृत के रूपों के अनुरूप हैं। अतः महाभारत की संस्कृत पाणिनि से उत्तरकालीन है।

इस पर प्रश्न होता है कि पाली और प्राकृत भाषाएँ कितनी पुरानी

पार्जिटर का परिश्रम स्तुत्य है। पर यदि उसे इतिहास का यथार्थ ज्ञान होता, तो वह ऐसी भूल न करता।

पार्जिटर का संकेत प्राप्त करके बरो आदि लेखक ऐसी अनेक कल्पनाएँ करते हैं।

आदि काल से आरम्भ करके पाणिनि के काल तक अतिभाषा का ह्रास कितने पड़ावों में हुआ, और उसके कई लाख रूप कैसे लुप्त हो गए। इसका सूक्ष्म विवेचन पुनः करेंगे।

कोश-निर्माताओं को चेतावनी

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी अथवा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के शब्द-कोश बनाने वालों से हमारा अनुरोध है कि जब तक उन्हें प्राचीन अतिभाषा (अतिविस्तृत संस्कृत) तथा प्राचीन संस्कृत के विशाल स्वरूप का ज्ञान न हो जाए, तब तक वे अपने-अपने दुरूह शब्दों का मूल वर्तमान संकुचित संस्कृत से ढूँढने का भ्रान्त प्रयास न करें। अन्यथा अनेक भ्रान्त कल्पनाएँ प्रसरित हो जाएँगी। उदाहरण के लिए—

१. हिन्दी की 'बलना' क्रिया का मूल 'बर्हण' नहीं है, अपितु प्राचीन संस्कृत में जलने अर्थ में प्रयुक्त 'बल' धातु है। देखो पूर्व पृष्ठ १७६ टिप्पणी ४।

२. इसी प्रकार की जर्मन अध्यापक बॉप की एक भ्रान्त-कल्पना की ओर हमने अपने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग प्रथम, पृष्ठ ६६ (द्वि० सं०) पर ध्यान आकृष्ट किया है।

भाषा के उत्तरोत्तर ह्रास का अत्यन्त सुस्पष्ट चित्र संस्कृत भाषा के इतिहास से सर्वथा प्रमाणित होता है।

३. **आक्सफोर्ड कोश** में संस्कृत के विधुर=मृतपत्नीक पद को ध्यान में न रख कर widower का जो सम्बन्ध widow शब्द से बताया है, वह अशुद्ध है। इसके लिए पूर्व पृष्ठ ६६ देखिये।

४. **मेहेण्डेल** ने अतिभाषा के गृह पद के पर्याय घर पद को न जान कर

+older Prakrit slokas p. x.

Prakrit used in the original slokas was a literary language not far removed from Sanskrit. p. xi.

पार्जिटर योग्य विद्वान् था। पर योरोपीय संस्कार के कारण वह स्वप्न में भी नहीं जान सकता था कि अति भाषा के शतशः रूप प्राकृत में स्वल्प अन्तर से विद्यमान रहे हैं। अतः उसने भी महती भ्रान्ति उत्पन्न की।

कल्पित इण्डोयोरोपियन का जो कल्पित ghoros शब्द माना है, वह सर्वथा व्यर्थ है। पूर्व पृ० १४६ देखिए।

५. हिन्दी में तोंद (=बढ़ा हुआ पेट) और तोंदी (=संस्कृत तुंड= नाभी) दो शब्द हैं। प्रामाणिक हिन्दी कोश के अनुसार उन का मूल पूर्व पंक्ति में दे दिया है। निश्चय ही, हिन्दी शब्दों का सम्बन्ध संस्कृत के तुन्दी पद से है, तुंड से नहीं। उसी का पंजाबी अपभ्रंश धुन्नी है।

६. **चाबुक**=कशा। प्रामाणिक हिन्दी कोश में इस शब्द को फारसी शब्द लिखा है। स्कन्दस्वामी ऋग्वेद १।२२।३ के अपने भाष्य में किसी कोश का पाठ उद्धृत करता है—**अश्वाजनी कशा चोदः**। वस्तुतः चोद और चोदक संस्कृत पद हैं। उनमें से चोदक का अपभ्रंश चाबुक है। चाबुक सीधा अपभ्रंश है, फारसीमात्र नहीं।

७. **गाजा-बाजा**। यह प्रयोग पंजाबी और हिन्दी में समान रूप से मिलता है। इसका वर्तमान अर्थ है—बाजों के साथ गर्जते हुए। परन्तु वस्तुतः इसका मूल अर्थ और था। पाणिनीय २।२।३१ के गण में गाज-वाजम् पद है। उस का व्याख्यान है—

गजानां समूहो, गाजम्। तथा **वाजिनां समूहो वाजम्**। अतः इसका अर्थ है - हाथी घोड़ों के साथ। पंजाबी अर्थ वज्ज, गज्ज के उत्तरकालिक अर्थ है।

८. **तंबूरा**=**तानपूरा**—इनमें से तानपूरा शब्द पर प्रामाणिक शब्दकोश में लिखा है—संस्कृत तान+हिं० पूरना। इस प्रकार संक्षिप्त आक्सफोर्ड कोश में tambour शब्द पर लिखा है—Drum......Arabic tambur—lute, drum. इन दोनों को पता नहीं कि तुम्बुरु मुनि के वाद्य के नाम के कारण ये अपभ्रंश हुए थे। पंजाबी का तंबूरा रूप भी इसी से सम्बद्ध है।

अतः अतिभाषा के ज्ञान के विना संसार की सम्पूर्ण अपभ्रंश भाषाओं का यथार्थ ज्ञान कदापि नहीं हो सकता।

ग्यारहवाँ व्याख्यान

भाषाओं का पाश्चात्य वर्गीकरण

(Classification of Languages)

इस वर्गीकरण का आधार—ईसाई और यहूदी 'भाषाविदों' का आरम्भ से यह प्रयास रहा है कि सैमेटिक भाषा समूह को येन केन प्रकारेण आर्यभाषा समूहों से सर्वथा पृथक् रखा जाए। वे सहन नहीं कर सकते थे कि कभी यह सिद्ध हो कि इब्रानी भाषा परम्परा से संस्कृत का विकार है। अतः सुस्पष्ट साम्यों को भी उन्होंने दृष्टिपथ से परे करने का यत्न किया। पर पश्चिम के ही अनेक लेखकों के अन्वेषण अब इस मत के विपरीत जा रहे हैं। उनका उल्लेख आगे होगा।

प्रस्तुत वर्गीकरण बहुत अधूरा और अनेक सत्यताओं को परे फेंककर चला है। फिर भी पाश्चात्य मत का दिग्दर्शन आगे कराया जाता है और यत्र तत्र उसके दोष भी प्रकट किये जाते हैं।

१. मेर्यो पाई लिखता है—

(a) Leibniz, at the dawn of the eighteenth century, first advanced the theory that all languages come not from a historically recorded source, but from a proto speech. (p. 19.)

(b) It has long been the dream of certain linguists to trace all languages back to a common source. Attempts to do this have so far proved largely fruitless. (p. 25.)

अर्थात्—(क) ईसा सन् १७०० के ठीक पश्चात् ही लाईबनिज़ ने यह मत उपस्थित किया कि सारी भाषाएँ किसी इतिहास-सिद्ध भाषा का रूपान्तर नहीं हैं। प्रत्युत, किसी प्राक्-भाषा से निकली हुई हैं।

(ख) कतिपय भाषाविदों का स्वप्न रहा है कि सारी भाषाओं का मूल कोई एक अति पुरातन भाषा सिद्ध हो। पर अब तक इस दिशा के सब प्रयत्न विफल हुए हैं।

समीक्षा—लाईबनिज का इतिहास-ज्ञान अति सीमित था। उसे संस्कृत भाषा अथवा उसके पूर्वतर और पूर्वतम अति प्राचीन रूपों का कोई ज्ञान नहीं था। अतः उसने ऐसा कथन किया। भारतीय इतिहास में मानव-भाषा का सम्पूर्ण इतिहास सुरक्षित है। उससे प्रमाणित होता है कि प्रागैतिहासिक काल की अद्यकालीन भावना कल्पनामात्र है। इसके विपरीत भारतीय इतिहास में

उस अतिभाषा का पर्याप्त अंश सुरक्षित है, जिसका विकार संसार की सब भाषाएँ हैं।

'Pre-Aryan-languages of India'[1] की कल्पना का आधार नहीं है। पहले काल्पनिक इण्डो-योरोपियन का मत खड़ा किया। फिर उस पर आश्रित एक दूसरा कल्पित मत कि आर्य लोग भारत में बाहर से आये, चलाया। फिर भारत में आर्यों से पूर्वकालिक भाषाओं का अनुमान प्रस्तुत किया। वस्तुतः एक असत्य पर दूसरा असत्य खड़ा किया है।

इसी प्रकार संस्कृत में 'loan words' अथवा foreign words का सर्वथा प्रमाण-शून्य कल्पितमत खड़ा किया गया। बीस सहस्र वर्ष से अधिक पुरानी संस्कृत भाषा में नवीन अपभ्रंश भाषाओं के शब्द किस प्रकार चले गए, यह विद्वानों की समझ से बाहर की बात है। पहले भारत और संसार के प्राचीन इतिहास का यथार्थ ज्ञान करना चाहिये और तत्पश्चात् ऐसा विवादास्पद प्रश्न सामने लाना चाहिये।

२. बाईबिल, पुरातन प्रतिज्ञा, में बाबेल के मीनार का वृत्त मूल में एक भाषा के अस्तित्व का संकेत करता है।

भारतीय इतिहास भी इसी पक्ष का समर्थक है। पुराकाल में दैत्य (पूर्व-देव) और देव सारी पृथिवी पर फैले थे। उन्हीं की भाषा देववाणी कहाती थी। इसे ही पुरातन संस्कृत अथवा आदि भाषा कहते हैं। आदि मानव की यही भाषा थी।

३. वर्गीकरण का श्रीगणेश—वर्गीकरण का विषय जटिल भी है और कठिन भी। गुणे लिखता है—

The whole question of language relationship is as difficult as it is vast. (p. 93.)

अर्थात्—भाषा-सम्बन्धों का सारा प्रश्न उतना ही कठिन है, जितना यह विस्तृत है।

इसका कारण है। भाषाओं का अभी पूरा-पूरा अध्ययन नहीं हुआ। और भाषाओं का तो क्या कहना, संस्कृत भाषा का अभी तक शतांश अध्ययन भी नहीं हुआ। आदि अर्थात् आर्यभाषा में धातु कितने अधिक माने जाते थे, और अब कितने थोड़े रख लिए गए हैं, इसका भी भाषा-विदों को ज्ञान नहीं है। पाठकों के परिचय के लिए ही इस विषय का संक्षिप्त उल्लेख हम गत अध्याय में कर आए हैं।

मेर्यो पाई ने वस्तुतः ठीक लिखा है—

---

1. Burrow, Preface. p. VI.

The world's languages have been in their majority very imperfectly studied and classified. (p. 25.)

अर्थात्—संसार की भाषाओं का अधिकाँश में बहुत अपूर्ण अध्ययन और वर्गीकरण हुआ है।

हम इस से इतना अधिक कहते हैं कि जिन भाषाओं के विषय में समझा जाता है कि उनका पूरा अध्ययन हो चुका है, उनका भी वस्तुतः आंशिक अध्ययन ही हुआ है, यथा संस्कृत का, और वह भी अत्यन्त लघु पाणिनीय व्याकरण के आधार पर।

४—योरोपीय वर्गीकरण, विकास-क्रम पर आश्रित—योरोप की वर्गीकरण की पद्धति को बाडमर सुस्पष्ट करता है—

Biologists who classify animals from an evolutionary point of view make the assumption that characteristics common to all—or to nearly all-members of a group are also characteristic of their common ancestor. Similar reasoning is implicit in the comparative method of studying languages; (p 175)

अर्थात्—प्राणि-विद्या के वेत्ता, जो पशुओं का वर्गीकरण विकास-दृष्टि से करते हैं, मान लेते हैं कि वे विशेषताएँ जो उपस्थित किसी एक समूह की सब अथवा लगभग सब पशु-जातियों में सामान्य हैं, वे उनके सामान्य पूर्वज में भी विशिष्ट रूप में मिलेंगी। यही तर्क भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के मार्ग में काम में लाया जाता है।

समीक्षा—वर्तमान पशु-वर्ग पूर्वतर वर्गों का विकार हैं, यह साध्य है। विकास पक्ष के मानने वाले इनमें कार्य-कारण की शृङ्खला आजतक उपस्थित नहीं कर सके। अतः बाडमर के लेख का पूर्वांश असिद्ध है। दूसरे, अर्थात् भाषा के वर्गीकरण में, जैसा हम पूर्व पृष्ठ ९५, ९६ पर सोदाहरण लिख चुके हैं, वही सत्य है कि भाषाओं के पदों के वर्तमान विकारों की तुलना मूल पर पहुँचने में पूरी सहायक नहीं हो सकती। हाँ, यदि इस तुलना में इतिहास की सहायता ली जाए तो परिणाम यथार्थ निकल सकते हैं। वह इतिहास भारतीय आर्यों ने ही सुरक्षित रखा है। तदनुसार भाषाओं का वर्गीकरण करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि संसार की सम्पूर्ण भाषाएँ एक अतिभाषा का परम्परागत विकारमात्र है।

५—वर्गीकरण के आवश्यक अंग—जब योरोप में भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आरम्भ हुआ, तो भाषा-विचारक केवल शब्दों की बनावट (morphology) पर ध्यान देते थे। पर धीरे-धीरे उन्हें ज्ञान हुआ कि केवल शब्दों की

बनावट का विचार अधिक सहायक नहीं। यथार्थ विचार के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

१. उच्चारण (phonetics)

२. भाषा व्याकरण (grammar)

३. शब्द-भण्डार (vocabulary)

४. लिपि—हम इनके साथ, लिपि को भी उतना ही आवश्यक अंग मानते कल्पनाएँ की हैं। उन्हें विषय पर जानते हुए भी मौन साधा है, अथवा अनर्गल हैं। पाश्चात्यों ने इस डर था कि लिपि का प्रश्न आते ही संस्कृत को आदि भाषा मानना पड़ेगा। यथा—

समिति (committee)

शंख (concha), लैटिन—

जीर्णक (chronic)

यहाँ अंग्रेजी 'कमिटी' शब्द में सकार ध्वनि के लिए c होने पर भी लिपि-दोष से c का क-ध्वनि का उच्चारण हो गया। कौञ्च में भी c ने यही ध्वनि पकड़ी। कानसाईज़ आक्सफोर्ड कोष में इसका ग्रीक रूप (kogkhe) माना है। पर यह शब्द मूल में एक अन्य सामुद्रिक क्षुद्र कीट को बताता है। घोगा (पंजाबी), घोंघा (हिन्दी) ग्रीक रूप के समीप हैं। और इनसे अर्थ की प्रतीति अधिक ठीक होती है।

५. वंश इतिहास—इनके साथ मानव जातियों अथवा वंशों का सत्य इतिहास जानना भी अत्यन्त आवश्यक है।

वस्तुतः इन पांचों के विना सत्य परिणाम का निकलना कठिन हो जाता है। पर ये पांचों भी पुरानी भाषाओं के विषय में सुलभ नहीं हैं। यथा—

१. पुराने उच्चारण के जानने वाले अब नहीं हैं। मिश्र और बाबल आदि की भाषाओं का उच्चारण अनुमानित-मात्र है। प्राचीन उच्चारण का लोप लिपियों की त्रुटि के कारण भी हो चुका है। उच्चारण में phonetical similarity अर्थात्—ध्वनि सदृशता का देखना आवश्यक होता है।

२. व्याकरण के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि अति प्राचीन काल के व्याकरण संस्कृत, ग्रीक और लैटिन के ही अब प्राप्त हैं। इन में से भी संस्कृत वैयाकरण पाणिनि मुनि की सूक्ष्मेक्षिका ही अधिक दूर तक पहुँची है।

अध्यापक एलन ब्लूमफील्ड का एतद्विषयक मत उद्धृत करता है—

Indo-European comparative grammar had (and has) at its

service only one complete description of a language, the grammar of Panini. For all other Indo-European languages it had only the traditional grammars of Greek and Latin, wofully incomplete and unsystematic...For no language of the past have we a record comparable to Panini's record of his mother tongue, nor is it likely that any language spoken today will be so perfectly recorded. (p. 1)

पर पाणिनि से भी अधिक विस्तृत, गम्भीर और सूक्ष्मता प्रदर्शन करने वाले आपिशलि, भारद्वाज और इन्द्र आदि के संस्कृत व्याकरण अब लुप्त हो चुके हैं।

अतः व्याकरण का अंश भी अब संसार में पूरा ज्ञात नहीं।

वर्गीकरण में व्याकरण के नियमों की सदृशता की महत्ता (similarity of grammatical structure) बाडमर (पृष्ठ १८०) के निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होगी—

संस्कृत के **तरप्, तमप्, ईयस् और इष्ठ** इन युगल प्रत्ययों में से आदि (तरप्) और अन्त के इष्ठ प्रत्यय अंग्रेजी, जर्मन और स्वीडिश में वैसे ही हैं—

अं०— thin, thinner, thinnest.

ज०— dunn, dunner, dunnest.

स्वी०—tunn, tunnare, tunnaste.

संस्कृत के इष्ठ प्रत्यय वाले कुछ पद द्रष्टव्य हैं—**नेदिष्ठ**=अन्तिकतम। **दविष्ठं**=अतिदूर। **ह्रसिष्ठः**= ह्रस्वतम। अणिष्ठः =अतिसूक्ष्म।

हेरवस की सेवा—वर्गीकरण में व्याकरण की महत्ता पर हेरवस ने सबसे पहले बल दिया—

Hervas (1801) was one of the first to recognize the superior importance of grammar to vocabulary for deciding qnestions of relationship between languages. (Jesperson, p. 22)

अर्थात्—हेरवस उन पहले विद्वानों में से एक था, जिन्होंने भाषाओं के सम्बन्ध के प्रश्नों के निर्णय में शब्द भण्डार की अपेक्षा व्याकरण की महत्ता पर अधिक बल दिया।

३. तीसरा अंग शब्द-भण्डार का है। इसका काम वाङ्मय और समृद्ध कोषों द्वारा चलता है। कोषों में भी नाम-पर्याय कोष अधिक आवश्यक हैं। यह

सामग्री अभी विपुलमात्रा में अनुपस्थित है। संस्कृत के श्रेष्ठ कोष अभी बने नहीं। अमर आदि के कोष बहुत अधूरे और अर्वाचीन हैं। उनमें पुरानी सामग्री का अभाव है।

समानार्थता आवश्यक—शब्दों की ध्वनि-समता का महत्त्व नहीं होता, जब तक उनमें समानार्थता न हो। बाडमर लिखता है—

(a) *Word similarity* is one of the three most important of these clues. It stands to reason that two closely related languages must have a *large* number of recognizably similar words (p. 175)

(b) Words of corsesponding meaning.

(क) अंग्रेजी में calm=काम, (अर्थ शान्त) शब्द है। हिन्दी में भी दो अर्थों में काम शब्द प्रचलित है। इन तीनों शब्दों का अर्थ-साम्य नहीं है।

(ख) इस के विपरीत संस्कृत में नीड (घोंसला) शब्द है। लैटिन में nidus तथा अंग्रेजी में nest शब्द है। नीड शब्द ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। अतः आज से पन्द्रह सहस्र वर्ष से कहीं पुराना है। तब लैटिन और अंग्रजी शब्द इसी के अपभ्रंश हैं। (तुलना करो, बरो की गप्प, ४५, ३७५)

(ग) इसी प्रकार पुरानी अंग्रेजी का hyttan
स्वीडिश का hitta
डेनिश का hitte
और अंग्रेजी का hit

आदि सब संस्कृत घात वा घातनं (चोट करना) के अपभ्रंश हैं।

४. लिपि—भाषाओं के वर्गीकरण में लिपियों की अपूर्णता तथा वर्ण-ध्वनि का ज्ञान अत्यन्तावश्यक है। इस विषय में पूर्व पृ० ४३-४५ तथा पृ० ८७ पर लिखा जा चुका है। इसका उदाहरण अरबी भाषा से दिया जाता जाता है। वहां **सेहत** एक शब्द है। इसका प्राचीन उच्चारण **स्वाहत** था। वस्तुतः यह शब्द संस्कृत **स्वास्थ्य** शब्द का अपभ्रंश है। दोनो भाषाओं में अर्थ और ध्वनि का साम्य है। अरबी लिपि में **स्व** स्वतन्त्र वर्ण रहा है। उर्दू में इसकी ध्वनि केवल स रह गई।

भाषाओं का योरोपीय वर्गीकरण

इस समय संसार में अनेक भाषायें प्रचलित हैं। उनके वर्गीकरण का एक सरल प्रकार निम्नलिखित रूप में प्रकट किया जाता है।
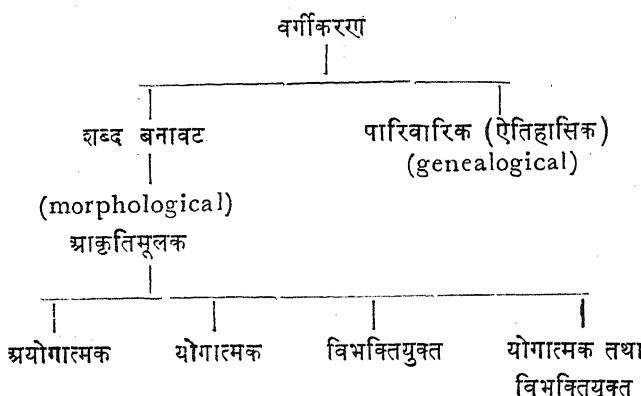
१. **अयोगात्मक** (root or isolating) भाषाएँ—इनमें धातुप्राधान्य रहता है। शब्द-रूपों की पूर्ण-रचना नहीं रहती (no complete word forms)। प्रत्येक शब्द की पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र सत्ता रहती है। एक ही शब्द वाक्य में स्थिति भेद से क्रिया, नाम और विशेषण आदि बन जाता है। यथा चीनी और ब्रह्म देश की भाषाएँ।

२. **योगात्मक** (agglutinative) भाषायें—इनमें प्रकृति, प्रत्यय मात्र रहते हैं, पर विभक्तियाँ नहीं रहतीं। धातु और उसके अर्थ के सम्बन्ध का योग इनमें वर्तमान रहता है। टर्की, हंगरी, फिनलैंड और तिब्बत की भाषायें इसी प्रकार की हैं।

इनके अश्लिष्ट, श्लिष्ट और प्रश्लिष्ट भेद भी बनाए गए हैं।
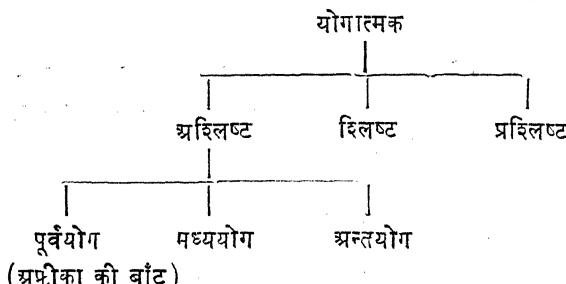
३. **विभक्ति-युक्त** (inflectional, amalgamating) भाषायें—इनमें शब्दों में विभक्तियाँ प्रधान होती हैं। उदाहरण—संस्कृत, हिन्दी, ग्रीक, लैटिन, गाथिक, जर्मन, इंगलिश, फ्रैंच आदि।

४. **योगात्मक तथा विभक्तियुक्त** (agglutinative-inflectional)—इनमें प्रकृति, प्रत्यय के योग और विभक्तियाँ दोनों देखी जाती हैं। यथा—

द्राविड भाषायें—तामिल, तेलुगू, मलयालम और कन्नड़। शक और तूरानियन भाषाओं से इनका अधिक सादृश्य है।

५. **ऐतिहासिक वर्गीकरण का महत्त्व**—इस महत्त्व को, चार्लस डार्विन ने भले प्रकार स्पष्ट किया है। यथा—

If we possessed a perfect pedigree of mankind, a genealogical arrangement of the races of men would afford the best classification of the various languages now spoken throughout the world.[1]

८. **मानव-इतिहास की तालिका भारतीय ग्रन्थों में**—डार्विन का उक्त कथन सत्यता के एकमात्र मार्ग का निर्देश करता है। मानव की वंश-परम्परा का अविच्छिन्न इतिहास मिश्र, बाबल और यूनान ने थोड़ा-थोड़ा सुरक्षित रखा और भारत ने तो इसकी असाधारण रक्षा की। यूरोप के पक्षपाती ईसाई और यहूदी संस्कृताध्येताओं ने उस भारतीय सामग्री को लांछित कर दिया, अतः डार्विन उसे समझ नहीं पाया। यदि डार्विन उसे समझ पाता तो विकास-मत की कल्पना कोई और रंग रूप लिए होती।

भारतीय सामग्री द्वारा प्रदर्शित तथ्य—भारतीय अविच्छिन्न इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि कभी सारा संसार अति-भाषा-भाषी था। संसार की अति प्राचीन आदि-भाषा वर्तमान लोक-भाषा संस्कृत का एक अति विस्तृत, प्राचीन और समृद्ध रूप लिए थी। इस महान्, जटिल विषय का संकेत हमने वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग, (द्वि० सं०) अध्याय तीन में कर दिया है। उस पर अधिक काम भारत के उत्तरवर्ती विद्वान् करेंगे। भारतीय सामग्री, और मिश्र का ज्ञान, जो हेरोडोटस ने सुरक्षित किया, निम्नलिखित तथ्य प्रकट करते हैं।

(**क**) **दैत्य**—दिति माता के पुत्र दैत्य अथवा दैतेय थे। उनमें हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, प्रह्लाद, विरोचन, कुम्भ, बलि, चन्द्रमा, अधिक प्रसिद्ध हुए। वे **पूर्व-देव** थे।[२] सारी पृथिवी उनके अधीन थी। वाल्मीकि इस तथ्य को कहता है—

दितिस्त्वजनयत् पुत्रान् दैत्यांस्तात यशस्विनः।
तेषामियं वसुमती पुरासीत् सवनार्णवा ॥

रामायण, दाक्षि० संस्क०, अरण्य १४।१५॥

अर्थात्—दिति ने जिन यशस्वी दैत्य नाम वाले पुत्रों को उत्पन्न किया,

1. Origin of Species—p. 422.
२. **यस्या दोषात् पूर्वदेवाः प्रमत्ताः। जातकमाला १७।२२॥**

पुरकाल में वन पर्वत और समुद्र युक्त यह सम्पूर्ण पृथिवी उनकी थी।

(ख) **देव = आदित्य**—माता अदिति के पुत्र बारह आदित्य अर्थात् देव थे। उनमें विवस्वान्, इन्द्र, विष्णु (=**सरकुलेश**) अधिक प्रसिद्ध हुए।

(ग) **दानव**—दनू के पुत्र दानव थे। उनमें पुलोम, गवेष्ठि, विप्रचित्ति प्रधान थे।

(घ) **दनायू** के पुत्र भी दानव थे।

दिति, अदिति और दनायू आदि सब भगिनियाँ ब्रह्मवादिनियाँ थीं।

(वायु पुराण ६५।११८)

अतः उनकी संतति-परम्परा में पहले सब संस्कृत-भाषी थे।

मिश्र का इतिहास—इनके साथ मिश्र देश के इतिहास के उन अंशों का जो हेरोडोटस ने सुरक्षित रखे, सन्तोलन आवश्यक है। वह लिखता है—

(a) Hercules is one of the gods of the second order, who are known as the twelve. (p. 189)

(b) and Bacchus belongs to the gods of the third order.

हेरोडोटस का **हरकुलेश** निश्चित ही **सरकुलेश विष्णु** है। वह बारह देवों में कनिष्ठतम था। वे बारह **पश्चात् देव** अर्थात् दूसरी श्रेणी के देव थे।[1]

और बेक्कस अथवा Dionysius निश्चय ही विप्रचित्ति **दानवासुर** था।

टायनबी—इंग्लैड का प्रसिद्ध किया गया ऐतिहासिक आर्नल्ड टायनबी हैरोडोटस के इस साधारण लेख को भी नहीं समझ सका। पक्षपाती ईसाई लेखकों में ऐसी योग्यता नहीं है।

ग्रीक इतिहास--ग्रीक इतिहास में Titants को elder gods लिखा है।

टाईटन्टस Titans=**दैत्य**--प्रत्येक भाषाविद् प्रथम दृष्टि में ही भाँप लेगा कि दैत्य और Titans एक ही थे। वे ही संस्कृत ग्रन्थों के **पूर्वदेव,** ग्रीक ग्रन्थों के elder gods और मिश्र देश के gods of the first order थे। संस्कृत ग्रन्थों में इन पूर्वदेवों को असुर भी लिखा है। वे बैबिलोनिया और असुर देश Assyria के भी प्राचीनतम निवासी थे।

ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है—

असुराणां वा इयं पृथिवी आसीत्। असुर सारी पृथिवी पर व्यापक हो गए।

योरोप बसा—इन्हीं असुरों, दैत्यों अथवा Titans ने योरोप का एक बड़ा

---

१. **इसका विस्तृत वर्णन भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ २१५-२२१ पर देखिए। द्वितीय संस्करण पृष्ठ२१२--।**

भाग बसाया। उन्हीं के वंशज 'टूटन' (अंग्रेजी में Teutons,[1] लैटिन में Teutones, गाथिक में Thiuda) कहाए।

२. **डच** (*Dutch*)— यह शब्द जर्मन में *deutsch*,[2] ओल्ड हाई जर्मन में diutisk=diutish, एंगलो सैक्सन में Theod और गाथिक में Thiuda (=एक जाति) रूप में मिलता है।

संस्कृत के **दैत्य** पद के उत्तर **त्य** भाग का प्राकृत रूप **इच्चो** (बहुला इच्चो=बहुलादित्यः लीलावती, १८), अथवा **इत्तो** (प्राकृतमणिदीप, पृ० ६२) होता है। संस्कृत के **अधिकृत्य** पद का अशोक के भब्र लेख में अधिगिच्य रूप मिलता है। अंग्रेजी का duchess शब्द भी दैत्य स्त्री का अथवा imposing woman का अर्थ देता है। अभिज्ञान शाकुन्तल २।१० के संस्कृत रूप **प्रत्यादेशः** का प्राकृत रूप **पच्चादेशो** है। यहां त्य=च्च है। Dutch पद में t का अवशेष **त्य** के त् के कारण स्पष्ट है।

३. *Dieutschland*[2] जर्मन देश का यह नाम आज भी प्रचलित है। स्ट्रैबो के अनुसार यह नाम रोमन लोगों ने दिया था। (भाग ३, पृ० १५३) इस नामका Dieutsch पद स्पष्ट ही दैत्य नाम का स्मरण कराता है।

४. *Danes*—इस नाम में दनू और उसके पुत्र **दानवों** की स्मृति निहित है।

५. Denmark शब्द में **दानव मर्क** पुरोहित का स्मरण हो आता है। Diana नाम में उसी मूल नाम की छाया है।

६. *Scandinavia*—टूटन जाति का स्थान, डेनमार्क, जर्मनी और Scandinavia था। स्कैण्डिनेविया पद में **षण्ड दानव** पुरोहित की ध्वनि आज भी सुरक्षित है।

७. *Sweden*—इस नाम के उत्तर भाग में den अथवा दानव नाम स्पष्ट है। और पूर्व भाग Swe में दानव विप्रचित्ति के पुत्र श्वेत की स्मृति है। **विप्रचित्तसुतः श्वेतः**।[3]

---

1. first mentioned in the 4th cent. B. C. (Concise Oxford Dictionary.)

   ट्यूटानिक जातियों में, जर्मन, स्कैण्डिनेविअन और एंगलो सैक्सन आदि हैं।

२. **यह दैत्य शब्द के प्राकृतरूप 'दइच्चो' (वाररुच प्राकृतप्र-काश १।३६) से मिलता जुलता शब्द है।**

३. **मत्स्य १७७।७॥ हरिवंश १।४७।६॥**

८. *Goths*—दानवों के मूल पुरुषों का एक व्यक्ति गवेष्ठि **गाथ**-जाति का मूलपुरुष था। महाभारत, आदि पर्व ६६।३० के अनुसार उसका नाम **गविष्ठ था।**

९. *Celts,Kelts*—कालकेय दानव के वंशज कैल्ट जातियों के मूल पुरुष थे।

१०. *Austrians*—निकुम्भ की सन्तान में आस्ट्रिया आदि बसे। आस्ट्रिया के पुराने नाम के विषय में लिखा है—

The Turks applied the Polish name *Niemiec* to the Austrians. Russian—*njemez*; Slovenian—*nemec*; Bulgarian—*nemec*; (L. S. L. vol. 1, p. 97)

महाभारत, शान्तिपर्व ६४।१४ में—**उष्ट्राः**, जाति का उल्लेख है। वे दनू और कश्यप पौत्री मारीच-सुग्रीवी के सन्तान में थे।

इन सब अपभ्रंशों में निकुम्भ की ध्वनि सुरक्षित है।

११. *Bavario*—ये लोग बाबल की राजधानी Bawri अर्थात् बभ्रु (पाली—बवेरू) से जाकर बसे थे। विष्णु पुराण ४।१६।१ के अनुसार—**द्रुह्योस्तु तनयो बभ्रुः**, अर्थात्—यताति के पुत्र द्रुह्यु का पुत्र बभ्रु था। उसने आदि में बभ्रु नगर बसाया।

१२. *Danube*—इस नाम से दनायू की स्मृति हो आती है। स्ट्रैबो के भूगोल के अनुसार इसके ऊपर के भाग का नाम Danuvius कहाता था।[1]

डेन्यूब का पुराना नाम Ister था। पुराने ग्रीक लोगों में यही नाम प्रचलित था। इस्तर तथा आस्ट्रिया में असुर नाम की ध्वनि अवशिष्ट है, पर स् के पश्चात् त का आगम गवेषणायोग्य है।

१३. Italy=अतल; Pretoria=प्रत्तल; Anatolia=अन-तल आदि देश नाम भी ध्यान देने योग्य हैं।

देशनामों का अर्थ—पूर्वप्रदर्शित देश-नाम-समता के विना योरोपीय भाषाओं में इन देश-नामों का कोई कारण नहीं मिलता। और देश अथवा नगर आदि नाम सदा सकारण पड़े हैं। कुशाम्ब राजा से बसाई गई नगरी कौशाम्बी है। इसी प्रकार दैत्य देश ही Dieutschland है।

योरोप कब बसा—योरोप की भाषाओं में संस्कृत की छाया अति स्पष्ट है। बेबिलोनिया के अनेक लेखों की भाषा में संस्कृत की छाया उतनी स्पष्ट नहीं। परन्तु बाबल के अति पुरातन लेखों में उस का आभास हमें मिला है। इससे प्रतीत होता है कि बाबल के देवयुग के समय ही योरोप बस गया था। उस

---

१. भाग ३ पृ० २१५।

समय वहाँ भी वेद-पद-बहुला भाषा का प्रचार था।

यह काल आज से दस सहस्र वर्ष से बहुत पहले का है।

इस प्रकार ऐतिहासिक वर्गीकरण का निम्नलिखित स्थूल रूप होगा—
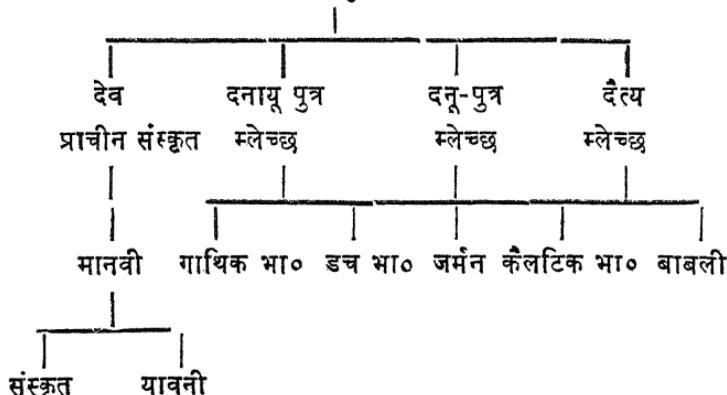
इन व्याख्यानों में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। आप मेरा ग्रन्थ भारतवर्ष का बृहद् इतिहास तथा वैदिक वाङ्मय का इतिहास देखें। वस्तुत: सारी योरोपीय जातियाँ प्राचीन दैत्य, दानव अथवा असुर सन्तानों में हैं। पहले असुरों की भाषा प्राचीन संस्कृत अथवा अति-भाषा थी। पाणिनि के उत्तर काल की संस्कृत नहीं, प्रत्युत उससे सहस्रों वर्ष पूर्व की संस्कृत। उस संस्कृत में वैदिक पदों की बहुलता थी।

अत: Proto Indo-European (पूर्व भारोपीय) भाषा की कल्पना व्यर्थ है।

पहलवी के इतिहास से सहायता—भाषा वर्गीकरण के प्रारम्भिक दिनों में पहलवी भाषा सैमेटिक वर्ग में रखी जाती थी। हाग सदृश विद्वान् का मत यही था। मैक्समूलर लिखता है—

Dr. Haug, held that Pehlevi though mixed with Iranian words, was a decidely Semitic dialect, (L. S. L. vol. 1, p. 242)

फिर एक लेखक ने लिखा—

The Pahlavi language—is a very curious mixture of Semetic and Iranian elements.

तत्पश्चात् यह लिखा गया—

In Pahlavi, though essentially it is an Indo-European language, the proportion of the Semetic element is so large that for a long time...it was classed as a Semetic language.

डा० तारापुरवाला ने अपनी पुस्तक Elements of the Science of Language में पहलवी को आर्यभाषा माना है। (पृ० ३९८)

इस विवाद का कारण—सैमेटिक और इण्डो योरोपीय वर्गीकरण के कारण यह वृथा विवाद चलता रहा। सम्पूर्ण सैमेटिक वर्ग इण्डो योरोपीय वर्ग के अति निकट है।

वैण्ड्रिएस का निष्कर्ष—सैमेटिक तथा भारोपीय के वर्गीकरण के विषय में लिखते हुए वैण्ड्रिएस ने लिखा है—

In the Semetic field, where the comparative work is well advanced, we find some characteristic features bearing a strange resemblance to Indo-European.

The fact is that Semetic, according to present indications, appears to be nearer to Indo-European than other linguistic groups so far delimited. (p. 303)

बामडर लिखता है—

In the Finno-Ugrian[1] group, the word for 100 is borrowed from Iranian;and Hebrew *schesh* (6) and *scheba* (7) are supposed to be derived from Aryan.[2] (p. 185)

Ancient Egyptian was one of the Hamitic languages. They derive their name from Ham, the Biblical brother of Shem...... Though the Semetic and Hamatic group diverge widely, their kinship is generally recognized. They share more root words than can be explained by borrowing; and they have some common grammatical peculiarities. (Bodmer p. 425.)

ग्रे को सत्य का आभास—ग्रे ने साहस पूर्वक लिखा—In theory, it is by no means impossible that great lgnguage-groups of the world now regarded as unconnected (Indo-European, Hamitio-Semetic, Uralic, etc.) may yet be found to be genealogically related. (p. 302)

अर्थात्—असम्भव नहीं कि वर्तमान में सर्वथा पृथक् माने गए संसार की

---

1. Finnish, Magyar (Hungarian), Esthonian and Lappish.
2. the likeness that exists between the names of numbers *six* and *seven* is merely accidental. (Ferrar, p. 307)
इबरानी और अरबी के सैकड़ों शब्द सूचना देते हैं कि इनका मूल प्राचीन संस्कृत थी। अतः इन संख्यावाची शब्दों का सादृश्य अकारण नहीं है।

भाषाओं के प्रधान-वर्ग कभी एक ही वंश-परम्परा के सिद्ध हों।

हमारा अध्ययन सिद्ध करता है कि संसार की सम्पूर्ण भाषाएँ अथवा बोलियाँ अतिभाषा का परम्परागत विकार हैं।

भारतीय विद्वान् हर्षे—डाक्टर R. G. हर्षे ने एक लेख लिखा—

The Vedic Reminiscences of a Chaldean Sun-Hymn—

इस लेख में उन्होंने बताया है कि—

it contains more than 50% words of Vedic origin and a complete identity of ideas with the Vedic Saura-Suktas.

(A. I. O. C, Annamalai, Summaries, p. 8)

पुनः—Vedic Names in Assyrian Records शीर्षक लेख में उन्होंने बताया,, a hundred names of the Vedic and Post-Vedic Antiquity with the names preserved in the Assyrian Records of the Kouyunjik Collection in the British Museum (ibid, p. 8.)

निष्कर्ष—निश्चय है, अधिक अध्ययन के पश्चात् कभी सैमेटिक वर्ग, भारोपीय वर्ग का अंग माना जाएगा।

मेयों-पाई का मत—ईसाई प्रभाव से दबा यह लेखक लिखता है—

No connection between Indo-European and SemitoHamatic (p. 361)

ब्लूमफील्ड का असमञ्जस—सैमेटिक और भारोपीय के अति निकट सम्बन्ध को सहन न करते हुए ब्लूमफील्ड लिखता है—

4. 5. Of the present-day families which border upon Indo-European, one or more may be distantly akin; the Semetic Hamitic and the Finno-Ugrian families seem to show some resemblance to Indo-European, but, in spite of much effort, no conclusive evidence has been found. (p. 65)

समीक्षा—भारतीय इतिहास का साक्ष्य अकाट्य है। इसे mythology कह कर टाला नहीं जा सकता। योरोपीय देश-नामों का संस्कृत पदों से साम्य आश्चर्य-जनक है। वस्तुतः इण्डो-योरोपीय और सैमेटिक भाषाओं का अति-प्राचीन मूल वैदिक-पद-बहुला अतिभाषा थी। भाषा-विद्या का साक्ष्य इसी पक्ष को पुष्ट करता है।

वर्गीकरण का तीसरा अंग—वर्गीकरण का यह अंग शब्द-भंडार और शब्दों के अर्थों के साम्य पर आश्रित है। तदनुसार वर्गीकरण के निमित्त—

---

1. Bulletin of the Deccan College R. Inst. Vol. XVII, No. 3, Dec. 1955, p. 172.

(क) परिवारों में सामान्यता से प्रयुक्त शब्दों की ध्वनि और अर्थ-समता,

तथा

(ख) गणना अथवा संख्या-वाची शब्दों का साम्य, आवश्यक है।

प्रथम समता में संस्कृत पितृ, ग्रीक pater, अंग्रेजी father आदि शब्द ध्वनि में लगभग और अर्थ में पूरा सादृश्य रखते हैं। इसी प्रकार संख्यावाची शब्दों में २-६ तक शब्द-ध्वनियां और अर्थ भारोपीय समूह में प्रायः मिलते हैं। अतः यह एक पृथक् वर्ग बना दिया गया है।

अरविन्द का आक्षेप—ग्रीक भाषा के असाधारण ज्ञाता, विद्वान् अरविन्द ने इस पर भी आलोचना की है। उन्होंने लिखा—

Sanscrit says पुत्र, Greek *huios*, Latin *flius*, the three languages use three words void of all mutual connection. (p. 37)

अर्थात्—संस्कृत में पुत्र, ग्रीक में हुइओस्, लैटिन में फीलियस तीन भाषाओं में सर्वथा असम्बद्ध तीन शब्द हैं।

पुत्र शब्द पारिवारिक प्रयोग का पद है। परस्पर सम्बद्ध भाषाओं में इस के विभिन्न प्रयोगों में इतना भेद क्यों हुआ।

इनमें से ग्रीक शब्द हुईओस संस्कृत पुत्र शब्द के माने हुए पर्याय सुत का रूपान्तर है।

और इसी प्रकार संस्कृत के एक पद के विषय में उनका मत है—

Sanscrit has abandoned the common word for the numeral one *unus, ein, one* and substituted a word एक, unknown to any other Aryan tongue:— (p. 38)

हिन्दी में, जो आर्य भाषा मानी जा रही है, एक शब्द विद्यमान है। ताश खेलने वाले जानते हैं कि इक्का अथवा यक्का और इसके अंग्रेजी रूप 'एस' (ace) में एक की प्रतिध्वनि सुरक्षित है।

इस शब्द के विषय में दूसरा सुझाव अगले व्याख्यान में है।

अरविन्द का कहना है कि भाषाओं का सम्बन्ध स्थापित करने में धातुओं और उनके व्यापक अर्थों पर अधिक ध्यान देना चाहिए, और उनके बाहरी रूपों पर बहुत थोड़ा।

अरविन्द का परिणाम—अरविन्द लिखता है—

Alone of the Aryan tongues, the present structure of the Sanscrit language still preserves this original type of the Aryan structure.

I think, that the Sanscrit alphabet represents the original vocal instrument of Aryan speech. (p. 47, 48)

शतम और कतम वर्ग—पाश्चात्य लेखकों ने जो आर्य वर्ग माना है उसके दो अवान्तर विभाग किए हैं। एक शतम दूसरा कतम। ग्रीक और लैटिन आदि में संस्कृत श के स्थान में बहुधा क की ध्वनि बोली जाने लग पड़ी थी। इसलिए इसे कतम वर्ग और संस्कृत, अवेस्ता आदि वाले को जिसमें श ही बना रहा, शतम वर्ग कहा गया। यह भेद लिपि और उच्चारण-दोष का फल है। अतः इस पर अधिक नहीं लिखा गया।

इसमें भी अपवाद—यह वर्गीकरण वैज्ञानिक कसौटी पर पूरा नहीं उतरता, क्योंकि—

१. ग्रीक में संस्कृत शोण का Sonus ही रहा है। तथा--

२. फ्रैंच भाषा लैटिन का रूपान्तर है। इसमें cent शब्द में c वर्ण 'स' की ध्वनि देता है, और उच्चारण **कैण्ट** नहीं होता।

अतः यह नियम ठीक नहीं। वस्तुतः लिपि और उच्चारण-दोष ही इस भेद का मूल कारण है।

वस्तुतः वर्गीकरण अति कठिन विषय है। इसमें पक्षपात-राहित्य की बड़ी आवश्यकता है। भारत के भविष्य के विद्वानों को इस ओर स्वतन्त्र रूप से ध्यान देना पड़ेगा।

बारहवाँ व्याख्यान

प्रोटो-इण्डोयोरोपियन (प्राक्-भारोपीय) भाषा

इस भाषा की कल्पना का कारण

फ्राईड्रिश श्लैगल[1]—सन् १८०८ तदनुसार विक्रम संवत् १८६५ में इस जर्मन ने एक ग्रन्थ लिखा। उसके विषय में बॉडमर लिखता है—

One of his pupils was a brilliant young German, Friedrich Schlegel. In 1808, Schlegel published a little book, Uber die Sprache und Weisheit der Inder (On the Language and Philosophy of the Indians.) This put Sanskrit on the Continental map. Much that is in Schlegel's book makes us smile today, perhaps most of all the author's dictum that Sanskrit is the mother of all languages. (p. 174.)

अर्थात्—हैमिल्टन का एक शिष्य एक तेजस्वी जर्मन युवक फ्राईड्रिश श्लैगल नामक था। सन् १८०८ में उसने भारतीयों की भाषा और विद्या पर एक पुस्तिका प्रकाशित की। उसने महाद्वीप योरोप के सामने संस्कृत को रख दिया। श्लैगल की पुस्तक का अधिकांश भाग आज हमारा उपहास उत्पन्न कर देता है। 'संस्कृत सम्पूर्ण भाषाओं की माता है', उसका यह कथन सबसे अधिक उपहासास्पद है।

ईसाई रोष—श्लैगल के लेख पर ईसाई और यहूदी संसार भयभीत हो उठा। उत्तर-काल में उसने कैथोलिक मत ग्रहण कर लिया था। संभवतः यह पादरी-प्रभाव के कारण हुआ। ईसाई भय का निदर्शन बॉडमर ने उचित शब्दों में किया है। वह लिखता है—

Custodians of the Pentateuch were alarmed by the prospect that Sanskrit would bring down the Tower of Babel. To anticipate the danger, they pilloried Sanskrit as a priestly fraud, a kind of pidgin classic concocted by Brahmins from Greek and Latin elements. (The Loom of L., p. 174.)

अर्थात्—बाईबिल की पुरातन प्रतिज्ञा की पहली पाँच पुस्तकों के संरक्षक उस दृश्य से भयाहत हो गए कि संस्कृत का अध्ययन बाबल के मीनार को नीचे गिराएगा।

---

१. सन् १७७२-१८२६।

पादरियों से बॉप को भय--तत्पश्चात् सन् १८२० में बॉप ने भाषा-विषय पर लिखा। इसका परिचय जैस्पर्सन ने दिया है—

Of Bopp's *Conjugations system* a revised, rearranged and greatly improved English translation came out in 1820 under the title *Analytical Comparison of the Sanskrit, Greek, Latin and Teutonic Languages*...........and in the following remarks I shall quote this...........

"I do not believe that the Greek, Latin, and other European languages are to be considered as derived from the Sanskrit in the state in which we find it in Indian books; I feel rather inclined to consider them altogether as subsequent variations of one original tongue, which, however, the Sanskrit has preserved more perfect than its kindred dialects. (p. *48*.)

अर्थात्--बॉप के नामाख्यातिक ग्रन्थ का एक संशोधित, सुसंस्कृत और बहुत परिमार्जित अंग्रेजी अनुवाद सन् १८२० में छपा। उसमें लिखा है--

मैं विश्वास नहीं करता कि ग्रीक, लैटिन और दूसरी योरोपीय भाषाएं उस संस्कृत से निकली हैं जो भारतीय पुस्तकों में आजकल मिलती है। मैं इस बात की ओर झुकता हूँ कि ये सब एक मूल भाषा के उत्तरकालीन रूपान्तर हैं। तथापि उन मूल रूपों को संस्कृत ने तत्सम्बन्धी दूसरी भाषाओं की अपेक्षा अधिक पूर्णता से सुरक्षित रखा है।

इस पर पादरी जगत् चिल्ला उठा। बॉप सहम गया। उसे लिखना पड़ा--

I cannot, however express myself with sufficient strength in guarding against the misapprehension of supposing that I wish to accord to the Sanskrit universally the distinction of having preserved its original character. I have, on the contrary, often noticed in the earlier portions of this work and also in my System of Conjugation, and in the Annals of Oriental Literature for the year 1820, that the Sanskrit has, in many points, experienced alterations where one or other of the European sister idioms has more truly transmitted to us the original form. (vol. II, p. 709; 1845.)

अर्थात्--मैं अपने आप को पर्याप्त बल से स्पष्ट नहीं कर सकता कि लोगों को इस उलटे समझने से सावधान करूँ कि मैं मानता हूँ कि संस्कृत ने मूल भाषा की बातों को व्यापक रूप से सुरक्षित रखा है। इसके विपरीत मैंने प्रायः अनुभव किया है और इस पुस्तक के पूर्व भागों में लिखा है और अपने नामाख्यातिक ग्रन्थ में तथा सन् १८२० के दूसरे लेखों में भी, कि कई बातों में

संस्कृत में रूप-परिवर्तन हो गया है और वहीं किसी एक अथवा दूसरी योरोपीय भाषा ने मूल भाषा की प्रायोगिक-वृत्तियों (मुहावरों) को अधिक सुरक्षित रखा है।

योरोपीय ईसाई पक्षपात के महान् अनर्थ का यह संक्षिप्त उपोद्घात है। इनको पढ़-सुनकर कौन विचारवान् विद्वान् है जिसको यह स्फुरित नहीं होगा कि योरोप का वर्तमान भाषामत पादरियों के पक्षपात का फल है। इसी मत के महा पक्षपाती लोगों ने प्राक्-इण्डोयोरोपियन भाषा के अस्तित्व की कल्पना की।

वस्तुतः संस्कृत के महत्त्व को न्यून करने के लिए और अतिभाषा से अपरिचय के कारण पक्षपाती लेखकों ने इण्डोयोरोपियन (भारोपीय) भाषा की कल्पना की। उसका वृत्त आगे है।

इस कल्पित भाषा के नामकरण का कारण अध्यापक फेरार की निम्न-लिखित पंक्तियों से बहुत स्पष्ट हो जाता है—

(a) *The Indo-European Language*—18. This is the name given to that language from which the whole family of the Indo-European languages are derived, and which therefore stand to it in the same relation as the Romance languages do to the Latin. As we could approximate to the roots and grammatical forms of the Latin language, even if we had no monuments of it, from a comparison of the roots and grammatical forms at present existing in the Romance languages, so analogously we may approximate to the roots and forms of the language of the Indo-Europeans from a comparison of the languages spoken by their descendants.

अर्थात्—यह नाम उस भाषा को दिया जाता है जिससे इण्डोयोरोपियन परिवार की सम्पूर्ण भाषाएँ निकाली जाती हैं। इस भाषा का इससे निकाली गई भाषाओं से वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा लैटिन भाषा से रोमांस भाषाओं का। जिस प्रकार वर्तमान रोमांस भाषाओं के धातुओं और व्याकरण-गत रूपों की तुलना से हम मूल लैटिन भाषा के धातु और व्याकरण-गत रूप जान सकते हैं, इसी प्रकार वर्तमान इण्डोयोरोपियन परिवार के लोगों से बोली जाने वाली भाषाओं की तुलना से हम मूल इण्डोयोरोपियन भाषा का ज्ञान कर सकते हैं।

समीक्षा—यह बात किसी सीमा तक ठीक है। परन्तु वर्तमान मनुष्य के ज्ञान के अति सीमित होने के कारण भाषाओं के जो धातु और व्याकरणगत

रूप नष्ट हो गए हैं, उनके अभाव में पुरानी मूल भाषाओं का यथार्थ ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ वर्तमान संस्कृत भाषा को देखने से पता चलता है कि पाणिनि के काल से अब तक पुरातन संस्कृत व्याकरण-सिद्ध अनेक धातु और प्रयोग बरते ही नहीं गए। काशकृत्स्न के धातुपाठ में ही पाणिनि-निर्दिष्ट धातुओं की अपेक्षा लगभग ४५० धातु अधिक हैं। अतः इण्डोयोरोपियन की कल्पना सुदृढ़ प्रमाणों पर खड़ी नहीं कही जा सकती।

अपभ्रंशों से मूल भाषा के रूपों के ज्ञान में जो अड़चन पड़ती है उसका उल्लेख हम पूर्व पृष्ठ ९५, ९६ पर कर चुके।

उसी दिशा का एक अन्य उदाहरण हम यहाँ उपस्थित करते हैं। अंग्रेजी में—

widow widower

दो शब्द हैं। पहले का अर्थ है—विधवा स्त्री, और दूसरे का अर्थ है—दुखी अथवा मृतस्त्रीक। इन शब्दों के विषय में Concise Oxford Dict. में—widow शब्द की संस्कृत विधवा शब्द से तुलना है, और widow शब्द से er प्रत्यय लग कर दूसरा शब्द बना माना है। यह बात सर्वथा अशुद्ध है। इसमें er प्रत्यय नहीं। widower शब्द का सम्बन्ध संस्कृत के एक सर्वथा दूसरे-**विधुर**[1] शब्द से है। इन दोनों संस्कृत शब्दों में **धव** और **धुर्** दो पृथक मूल शब्द हैं। किसी दूसरी कल्पना में अंग्रेजी शब्दों के अर्थ का भेद बाधा डालता है।

निस्सन्देह संस्कृत के विशाल ज्ञान के बिना भाषाओं के यथार्थ उद्गम का ज्ञान नहीं हो सकता।

ब्लूमफील्ड भी फेरार की बात को दोहराता है, पर इण्डोयोरोपियन के स्थान में आदि-इण्डोयोरोपियन नाम प्रस्तुत करता है। यथा—

(b) In the same way, finding that all these languages and groups (Sanskrit, Iranian, Armenian, Greek, Albanese, Latin, Celtic, Germanic, Baltic, Slavic)[2] resemble each other beyond the possibility of mere chance, we call them the *Indo-European family of languages*, and conclude, with Jones, that they are divergent forms of a single prehistoric language, to which we give the name *Primitive Indo-European* (Bloom. p. 13, 14)

---

१. कृत्यकल्पतरु मोक्ष काण्ड पृ० ३७ पर बौधायनसूत्र के विधुरे पद का मृतभार्ये पुरुषे, अर्थ है। बौधायन भाष्य २।१०।४ पर गोविन्द स्वामी भी विधुरः का अर्थ मृतभार्यः ही करता है। देखो, पूर्व पृष्ठ ९६।

२. तुलना करो बॉडमर का ग्रन्थ, पृष्ठ १८३।

अर्थात्—प्राक्-इण्डोयोरोपियन में अगली दस प्रधान भाषाएँ हैं—१. संस्कृत, २. ईरानियन (अवेस्ता), ३. आरमीनियन, ४. ग्रीक, ५. अल्बानी, ६. लैटिन, ७. कैल्टिक, ८. जर्मनिक (ट्यूटॉनिक), ९. बाल्टिक (लिथूएनियन आदि) और १०. स्लैविक (रूस के नीचे की भाषाएँ)।

इन दस में अब दो भाषा-वर्ग और जोड़े गए हैं, हित्ती और तुखार।

इण्डो-योरोपियन के वर्तमान नाम—जिस कल्पित भाषा को पहले इण्डोयोरोपियन कहा गया था, उसे अब—hypothetical Proto Indo European (Gray, p. 304), Primitive Indo-European (Bloom. p 304), Pro Indo-Aryan अथवा Pro-Indo-Germanic कहा जाता है।

आर्य नाम का दुरुपयोग

जिन लोगों ने इण्डो-आर्यन संज्ञा कल्पित की, उन्होंने आर्य शब्द का बहुत दुरुपयोग किया। आर्य शब्द श्रेष्ठ आचार वाले द्विज[1] अथवा भारतीय मनुष्यों के लिए प्रयुक्त हुआ है। यथा—

१—मनुस्मृति में—**म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः** ।१०।४५।।

कैवर्तमिति यं प्राहुः आर्यावर्तनिवासिनः ।१०।३४।।

२—रामायण अयोध्याकाण्ड ८२।१४।।९२।१३ आदि।

३—हारीत धर्मसूत्र में—**आर्यकृतम्**। (कृत्यकल्पतरु में उद्धृत)

४—निरुक्त २।२ में—**विकारमस्यार्येषु**।

५—महाभारत भीष्मपर्व—

तथा ह्युभे सत्पुरुषार्यगुप्ते ।२७।४।।

म्लेच्छाश्चार्याश्च ये तत्र ।४१।१०३।।

नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभिः।

६—**आर्यावर्तनिवासी-शिष्ट**। महाभाष्य।

पूर्वोद्धृत लेखों से स्पष्ट है कि आर्य शब्द का वही अर्थ है जो हमने ऊपर लिखा है। अतः भारतीय और आर्य पर्याय शब्द हैं। इसलिए भाषा का इण्डोआर्यन नाम सर्वथा अशुद्ध है। मूल भाषा तो आर्यभाषा अथवा अतिभाषा थी। उसी का विकार म्लेच्छ भाषाएँ अथवा योरोपियन भाषाएँ हैं।

पूर्व-इण्डो-योरोपियन की कल्पना का विरोध

पूर्व-इण्डो-योरोपियन की कल्पना बहुत उपादेय नहीं मानी गई। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने ही इसका विरोध किया।

---

१. **तुलना करो, आपस्तम्ब धर्मसूत्र प्र० २।२।४।।**

१ वैण्ड्रिएस लिखता है—

As they generally deal only with common languages hypothetically pieced together, the philologists who reconstruct Indo-European find themselves condemned to an even more schematic task. The Indo-European of the philologist has no concrete existence; it is only what has been called "a system of linguistic links" (p. 302)

२. बॉडमर अधिक स्पष्ट—

इससे अधिक स्पष्ट भाषण बॉडमर के शब्दों में मिलता है। वे आगे उद्धृत किए जाते हैं—

From the writings of some German authors we might gain the baseless impression that we are almost as well-informed about the language and cultural life of the proto-Aryans as we are about Egyptian civilization. One German linguist has pushed audacity so far as to compile a dictionary of hypothetical primitive Aryan,[1] and another has surpassed him by telling us a story in it. (p. 183)

इससे आगे बॉडमर ने उस चित्र पर उपहास किया है जो जर्मन भाषावादियों ने पूर्व-आर्य जाति का खींचा है। उसी चित्र का अनुकरण केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, प्रथम भाग, तथा श्री के० एम० मुंशी द्वारा प्रोत्साहित 'वैदिक एज' नामक इतिहास तथा अन्य ग्रन्थों में मिलता है। आज यही निराधार (baseless) पक्ष भारत के विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जा रहा है।

प्राक्-इण्डो-योरोपियन के वर्णन का उलटा प्रकार—प्राय: वर्तमान लेखक जब कभी उत्तरकालीन भाषाओं के शब्दों की तुलना में इस प्राक्-कालिका भाषा के शब्दों का उल्लेख करके कोई नियम वर्णित करते हैं, तो इस कल्पित भाषा को वास्तविक भाषा मानकर नियम का वर्णन करते हैं। यह विधि विज्ञान (science) के विपरीत है। इस से साधारण अध्येताओं पर उल्टा संस्कार पड़ता है। इन नियमों के वर्णन का यथार्थ प्रकार यह है कि उपलब्ध भाषाओं के रूपों को लिख कर आगे, अनुमान लिखना चाहिए कि अमुक कारणों से इस मूल शब्द की कल्पना की गई है। तालव्य नियम इसी उलटी-गंगा का फल है। इसी लिए इस अप्राकृतिक नियम के समझने में साधारण विद्यार्थी का क्लिष्टता अनुभव होती है।

---

१. **अभी एक और ऐसा कोष छप गया है**—

Dictionaire Etymologique du Proto-Indo-European, par Albert Carnoy, Professor, Universite de Louvain. 1955.

लिथूएनियन-विषयक मत—'वेद की अपेक्षा बाल्टो स्लैविक वर्ग की लिथूएनियन प्राक्-इण्डो-योरोपियन के अधिक निकट है', ऐसा योरोपीय लेखकों का मत है। ग्रे लिखता है—

Lithuanian and Lettish alike are characterised by conservatism in phonology and in the inflexion of the epithetologue, the vowel-system of Modern Lithuanian being, like that of Greek and Oscan, nearer to the Indo-European stage than is Vedic Sanskrit ; (p. 354)

अर्थात्—लिथूएनियन और लैटिश में ध्वनि-विचार और विशेषणों के विभक्ति-संवाद में विशेषता है। इन्होंने पुरानी परिपाटी को सजीव रखा है। आधुनिक लिथूएनियन में ग्रीक और ऑस्कन के समान पुराने स्वर स्थिर रहे हैं। अतः वेद की संस्कृत की अपेक्षा लिथूएनियन भाषा इण्डोयोरोपियन की निकटतर है।

यही निराधार बात बटकृष्ण घोष ने वैदिक एज पृ० २०२ पर लिखी है—

Moreover, of all the living Indo-European languages of the present day, it is Lithuanian, and not Sanskrit or any of its daughter dialects that has kept closest to the basic idiom reconstructed by Comparative Philology.

समीक्षा—पूर्व पृष्ठ १२५ से १३६ तक तालव्य नियम की विवेचना के अवसर पर हम बता चुके हैं कि जर्मनी के ब्रुगमन आदि युवक वैयाकरणों का मत, कि ग्रीक आदि भाषाओं ने मूल स्वरों का अधिक रक्षण किया है, सर्वथा अशुद्ध है। निस्सन्देह आदि भाषा की 'अ' ध्वनि ही ग्रीक आदि में ए, ओ के रूप में विकृत हुई है। इसी प्रकार लिथूएनियन के विषय में भी जानना चाहिए। जब ग्रीक स्वरों के विषय का जर्मन-मत खण्डित हो गया तो लिथूएनियन विषयक मत भी स्वभावतः खण्डित है।

पूर्वोक्त योरोपियन मत ऐसा ही है जैसा बॉप ने लिखा था कि अनेक योरोपियन भाषाओं की अपेक्षा बंगला संस्कृत से अति दूर चली गई है, क्योंकि संस्कृत स्वसा पद के सिस्टर आदि अंग्रेजी रूप संस्कृत के निकट हैं और बंगला का बोहिनी रूप संस्कृत से दूर जा पड़ा है। बॉप को पता नहीं था कि बंगला बोहिनी शब्द का संस्कृत भगिनी शब्द से सम्बन्ध है, न कि स्वसा से।[1]

पंजाब के अमृतसर आदि स्थानों में जंगली सूखे गोबर को एरना कहते हैं। यह पंजाबी शब्द संस्कृत अरण्य पद का विकार है। कोई विज्ञ पुरुष एरना शब्द

---

१. देखो, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ६६ (द्वितीय संस्क०)।

की ए ध्वनि को मूल-ध्वनि नहीं मानेगा। जिस प्रकार पंजाबी एरना पद स्पष्ट विकार है उसी प्रकार लिथूएनियन के शब्द भी परम्परा से संस्कृत का विकार मात्र हैं।

भारतीय अपभ्रंशों के विषय में वृथा कल्पनाएं—जिस प्रकार निराधार, तर्कहीन कल्पनाएँ करके इण्डो-योरोपियन का ज्वर उत्पन्न किया गया, उसी प्रकार की कई कल्पनाएँ प्राकृतों के विषय में भी उपस्थित की गईं। यथा—

संस्कृत **औषध** पद के प्राकृत अपभ्रंश अशोक के शिलालेखों में **श्रोसुढ** और **ओसुढ** मिलते हैं। एक लेख में **ओसध** रूप भी है। टर्नर नाम के अंग्रेज ने यहां भी एक काल्पनिक मूल शब्द का अनुमान प्रस्तुत किया। पर यह अनुमान भी असंगत ही रहा।[1]

ऐसी गप्पों पर आश्रित इण्डो-योरोपियन के अस्तित्व को विद्वानों ने नहीं माना।

लिथूएनियन एक अति नवीन अपभ्रंश विकारयुक्ता-भाषा—मोनियर विलियम्स के संस्कृत कोषानुसार निम्नलिखित शब्द द्रष्टव्य हैं—

संस्कृत	लिथूएनियन
भङ्ग	banga
भग	na-bagas
भू	buti

स्पष्ट है कि लिथूएनियन के शब्दों में 'ब' वर्ण संस्कृत पदों के 'भ' वर्ण का विकारमात्र है।

ईसाई-यहूदी लेखकों और उनसे डिग्री-प्राप्त भारतीयों के ज्ञान की यह दुर्दशा है।

भारोपीय का विस्तार-क्षेत्र—इण्डो-जर्मेनिक नामकरण की अशुद्धि को बताते हुए और इण्डो-योरोपीय नाम की आलोचना करते हुए बाडमर लिखता है—

Indeed the family does not keep within the limits indicated by the term *Indo-European*. It is spread out over an enormous belt that stretches almost without interruption from Central Asia to the fringes of western-most Europe. (p 183)

अर्थात्—भारोपीय परिवार उन सीमाओं में बन्द नहीं रहा, जिन्हें इण्डो-योरोपियन संज्ञा प्रकट करती है। मध्य एशिया से पश्चिमतम योरोप के किनारों तक का विस्तृत क्षेत्र अबाध रूप से इस भाषा का स्थान रहा।

टिप्पणी—अतः आर्यों के भारत में बाहर से आने का मत, जो इण्डो-

१. **देखो,** Historical Grammar of Ins. Prakrits, p. 5.

योरोपीय के पूर्व-अनुमानित-क्षेत्र-विस्तार पर आश्रित था, सर्वथा त्याज्य है। क्या तुखार लोग मध्य योरोप से चलकर मध्य एशिया में बसे थे। ऐसा कहना सत्य से कोसों दूर चले जाना है।

बॉडमर का पक्ष—योरोप का ही कोई स्थान आर्यों की आदि भूमि थी, इस विश्वास को बॉडमर युक्त समझता है—

If, as some philologists believe, Old Indic and the Persian of the *Avesta* have the most archaic features of Aryan languages known to us, it is not necessarily true that the habitat of the early Aryan-speaking people was nearer to Asia than to Europe. (p. 183)

यह बात बॉडमर को इसलिए लिखनी पड़ी कि हित्ती और तुखारी भाषाओं का अस्तित्व एशिया की ओर झुकने का प्रमाण दे रहा है।

टिप्पणी—यह सत्य है कि सम्पूर्ण इण्डो-योरोपीय वर्ग में अवेस्ता की भाषा और प्राचीन संस्कृत प्राचीनतम हैं। और अवेस्ता की अपेक्षा प्राचीन संस्कृत अधिक पुरानी है। बॉडमर का अगला मत भारतीय इतिहास के विपरीत है।

मेर्यो पाई का झुकाव—इतिहास की यथार्थ सामग्री न पढ़ कर मेर्यो पाई लिखता है—

The original homeland of the Indo-European speakers is unknown, but the Iranian plateau and the shores of the Baltic are the places most favoured. (p. 22)

वस्तुतः विशाल भारत आर्यों अथवा मानवों की आदि भूमि है।

भारोपीय वर्ग की विशेषताएँ

अतिभाषा के उत्तरवर्ती निकटतम वर्ग को अभी भारोपीय कह सकते हैं। इसमें भारत, मध्य एशिया की तुखार और योरोप की अनेक भाषाएँ (सारी नहीं) रखी जा सकती हैं। उसकी कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

१. सारे भारोपीय भाषा वर्ग में धातु प्रायः एक समान हैं।[1]
२. इन धातुओं में से नाम, आख्यात आदि पद लगभग समान रूप से बनते हैं।
३. नाम विभक्तियों और धातुओं की रूपावली लगभग एक प्रकार की है।
४. लगभग सात विभक्तियाँ मिलती हैं।
५. तुलना के अर्थ में **तर** तथा **तम** आदि प्रत्यय अंग्रेजी, स्वीडिश और जर्मन आदि में लग-भग समान रूप के हैं।

---

१. धातुओं की कल्पना इन्द्र और बृहस्पति आदि से आरम्भ हुई। उसे संसार मात्र ने स्वीकार किया। इसलिए इनमें प्रायः समानता उपलब्ध होती है।

६. संख्या-पूरक प्रत्ययों में 'थ' और 'म' प्रत्यय मिलते हैं।[1]
७. क्रिया के साथ तुमुन् प्रत्यय का योग भी प्राय: देखने में आता है।
८. विशेषण (adjectives) पृथक् पृथक् और नाम के साथ समान लिंग रूप में मिलते हैं।

The trademark of the Indo-European adjective as a separate entity is that it carries the suffix determined by one of the three gender classes to which a noun is assigned. (Bodmer, p. 207)

(b) An essential part is...........This is one of the most characteristic features of Indo-European, as grammatical congruence on this scale is hardly to be found elsewhere. (Burrow, p. 2)

९. इस समूह की मूल भाषाओं में द्विवचन भी प्राय: मिलता था।
१०. सर्वनाम, संख्यावाची और परिवार में प्रयुक्त शब्द प्राय: समान रूप के हैं।
११. लिपि-दोष से शतम और कतम दो वर्ग बन गए।

अरविन्द का सुझाव—सर्वनाम और संख्यावाची 'एक' पद के विषय में श्री अरविन्द लिखता है—

Sanscrit has abandoned the common word for the numeral **one** *unus, ein, one* and substituted a word एक unknown to any other Aryan tongue; all differ over the third personal pronoun; for moon Greek has *selene*, Latin *lund*, Sanscrit चन्द्र. But when we admit these facts, a very important part of our scientific basis is sapped and the edifice begins to totter (p. 38)

समीक्षा—अरविन्द जी की प्रतिभा ठीक ओर गई है। पर योरोपीय भाषाओं में unus, ein और one आदि शब्द संस्कृत शब्द ऊन के विकार-मात्र हैं। ऊनविंशति (=उन्नीस) में ऊन पद् अन्य अर्थ रखते हुए भी पूर्वस्थ-लुप्त एक ऊन का ही अर्थ दे रहा है।

इन्दु: और क्लेदु: चन्द्र पर्याय हैं। लैटिन—lund, इनके निकट है।

---

१. सप्तथम्। ऋग्वेद १।१६४।१५॥

तेरहवाँ व्याख्यान

वेद वाक्

वेद की दैवी वाक्—पाणिनि, यास्क और कठ आदि ऋषि मानव व्यवहार की वाणी को सदा भाषा अथवा मानुषी वाक् कहते हैं। अति प्राचीन काठक संहिता (१४।५) में लिखा है—

तस्माद् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति, दैवीं च मानुषीं च।

अर्थात्—इस कारण ब्राह्मण दो प्रकार की वाक् को बोलता है, दैवी अर्थात् देवों की वाक् को, और मानुषी को।

इससे स्पष्ट परिणाम निकलता है कि कठ ऋषि से कई सौ वर्ष पहले भारतीय विद्वानों में यह विश्वास, और नितान्त सत्य वैज्ञानिक विश्वास चला आ रहा था कि वेद वाक् मनुष्यों में व्यवहृत नहीं हुई, अपितु लोकभाषा अथवा व्यवाहारिकी भाषा वेद-पद-बहुला अतिभाषा थी।

इस सत्य का उच्छेद करने के लिए मैक्समूलर प्रभृति पक्षपाती लेखकों ने अधूरे भाषामत के आश्रय पर वैदिक काल, उत्तर वैदिक काल, ब्राह्मण-काल, उपनिषद-काल, सूत्र-काल और रामायण-महाभारत काल की जो प्रमाण-रहित कल्पना की, उसका निराकरण हम अन्यत्र कर चुके हैं।[1]

इसके साथ ही पाश्चात्य लेखकों ने भरसक प्रयत्न किया कि किसी प्रकार वेद वाक् को भी लोक-भाषा सिद्ध किया जाए। इस प्रयास से भारतीय इतिहास और भाषाविज्ञान से अनभिज्ञ लोग उलट विचार करने लग पड़े। वास्तविक विद्वानों ने उनकी बात को कभी स्वीकार नहीं किया।

वेद का साक्ष्य—ऋग्वेद के बृहस्पति ऋषि-दृष्ट ज्ञानसूक्त के १०।७१।२ मन्त्र में अति स्पष्ट शब्दों में घोषणा है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।

अर्थात्—सत्तु को जैसे चालनी से [छिलके से] पृथक् करते हैं, वैसे धीरों ने मन से [शुद्ध दैवी] वाक् को साधारण ध्वनियों से पृथक् कर लिया।

अन्तरिक्ष में दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की वाक् उत्पन्न हो चुकी थी। दिव्य ऋषियों ने दैवी वाक् को आसुरी वाक् से पृथक् ग्रहण किया।

इस दैवी वाक् की परम शुद्धता का यह अनुपम निदर्शन है। अगले मन्त्र में कहा है कि वह वाक् ऋषियों में प्रविष्ट हुई, और उसे संसार ने पाया।

---

१. **देखो भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृष्ठ ७२-७६ तथा संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ १४-१७।**

इस अतिसूक्ष्म रहस्य-ज्ञान को अल्प-पठित वर्तमान लोग प्राप्त नहीं कर सके। उनको भर्तृहरि आदि के अपूर्व ग्रन्थ देखने चाहिएँ।

वेद-विषयक ईसाई-यहूदी आन्दोलन

अब वेद वाक् के विषय में पाश्चात्य विचार के लेखकों के कुछ विचार लिखे जाते हैं—

१. वैदिक संस्कृत के विषय में ईसाई गुरुओं के ऋण को चुकाता हुआ गुणे लिखता है—

The Vedic language has preserved to us some of the oldest features of the original Indo-Germanic language. Its consonant system has preserved almost intact the old Indo-Germanic system, although in vowels it has suffered losses. (p, 141)

अर्थात्—वैदिक भाषा ने मूल इण्डो-जर्मनिक भाषा के कुछ प्राचीनतम रूपों को सुरक्षित रखा। इसकी व्यञ्जन पद्धति ने प्राचीन इण्डो-जर्मनिक पद्धति को लगभग पूर्ण सुरक्षित रखा है, पर स्वरों में त्रुटियां हुई हैं।

समीक्षा—'मूल इण्डो-जर्मनिक' कोई भाषा न थी। स्वरों का कोई नाश वेद-वाक् में नहीं हुआ, इसका स्पष्टीकरण पूर्व पृ० ६८-१०४ तथा १२५-१३६ पर कर चुके हैं।

२. उह्लनबेक लिखता है—

In the first place is to be mentioned the Vedic dialect, which was spoken in the Panjab and in Kabulistan 1500 before Christ. (p. 3, 4)

अर्थात्—वैदिक बोली पंजाब और काबुलिस्तान में ईसा से लगभग १५०० वर्ष पहले बोली जाती थी।

३. बाडमर लिखता है—

The most ancient stage of Indic is known as *Vedic* or *Vedic Sanskrit*, the language of the Vedas,.........Possibly it is as old as 1000 B. C. (p. 411)

अर्थात्—वैदिक संस्कृत सम्भवतः ईसा से १००० वर्ष पुरानी है।

४. ब्लूमफील्ड लिखता है—

The Rig-Veda is placed conservatively at 1200 B. C. (p. 63)

५ ईसाई-भक्त सुनीतिकुमार चैटर्जी लिखता है—

(क) Prof. Antoine Meillet ने ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा का मूल इस आर्यभाषी प्रदेश (पंजाब से पश्चिम फारस) की एक पश्चिमी बोली को ही बतलाया है। (पृष्ठ ५२)

(ख) इस प्रकार कुछ ऐसे सूक्तों की भाषा, जिन की रचना आर्यों ने भारत से बाहर ही भारतीय-ईरानी-काल में लगभग १५०० से १८०० वर्ष ई० पू० की होगी। (पृ० ५३)

(ग) लेखक का निजीमत तो यह है कि आर्यों का भारत में आगमन ई० पू० १५०० वर्ष से प्राचीन-तर तो हो ही नहीं सकता, चाहे कुछ शताब्दी पश्चात् का भले ही हो। (पृ० १७०)

६. कीथ का मत है कि आर्य लोग भारत में ईसा से २००० हजार वर्ष पूर्व से पहले नहीं आए। इससे उत्तर काल में आना सम्भव है। (भारतीय अनुशीलन)।

७. वैदिक रीडर में मैकडानल का मत है कि आर्य लोग ईसा से १३०० वर्ष पहले ईरानियों से पृथक् हुए। (भूमिका पृष्ठ १०)।

यह हुई अंग्रेज, डच और जर्मन आदि लेखकों और उनके अनुयायियों के कल्पित-अनुमानों की कथा।

इन अनुमानों में उसी की रुचि होगी, जो भारतीय इतिहास से सर्वथा अपरिचित है, अथवा जो ईसाई लेखकों के जाल में फंसा हुआ है। अब भारतीय पक्ष लिखा जाता है।

भारतीय इतिहास—भारतीय इतिहास के अनुसार तथागत बुद्ध के काल) (विक्रम से १७०० वर्ष पूर्व) में वेदाभ्यासी ब्राह्मण सर्वत्र विद्यमान थे। बुद्ध से अनेक शती पूर्व शौनक ने वेदों की कई अनुक्रमणियाँ लिखीं। शौनक से पूर्व कृष्ण द्वैपायन व्यास और उनके सुमन्तु आदि शिष्य वेद-शाखाओं का प्रवचन करते थे। कृष्ण द्वैपायन से पूर्व उनके पिता पराशर तथा वाल्मीकि-शिष्य, अग्निवेश आदि वेद पढ़ते थे। इनसे कुछ पूर्व रामायण के रचयिता वाल्मीकि भी वेद के उच्चारणों पर अपना मत प्रकाशित करते थे। उनसे पहले बार्हस्पत्य भरद्वाज ऋषि भी वेद जानते थे। भरद्वाज से बहुत पूर्व उनके पिता आङ्गिरस बृहस्पति और ईरान में असुरों के पुरोहित भार्गव उशना काव्य भी वेदों के पारङ्गत पण्डित थे। उनसे पूर्व विवस्वान् भी वेद-नि`णात थे।

विवस्वान् पहला मनुष्य था, जिसने सोम का प्रयोग किया। अवेस्ता यसन ९ में यही लिखा है—

वीव्ङ्हा माम्. पओइर्यो. मश्यो.
=विवस्वान्. मां पूर्व्यो मर्त्यः

भगवान् कृष्ण ने गीता में स्वयं कहा है, कि गीता-योग का आदि उपदेश उन्होंने विवस्वान् को दिया।

विवस्वान् से अनेक शती पूर्व सप्त ऋषि वेद जानते थे। इन्हें ही असुर-

बाबली लेखों में seven wise men लिखा है। वस्तुतः वेद उस काल से मनुष्य की सम्पत्ति बन रहा है। इस घटना का समय विक्रम से १४, १५ सहस्र वर्ष पूर्व का अवश्य है, न्यून नहीं, अधिक पुराना भले ही हो। वेद की विद्यमानता के काल पर यहाँ अधिक नहीं कहना। यही कालक्रम है जो आर्य इतिहास से सर्वथा प्रमाणित historical philology की आधार-शिला है।

यह सम्पूर्ण इतिहास असत्य है और कल्पित जर्मन पक्ष ठीक है, इस पर गम्भीर-विचार की आवश्यकता है, अस्तु। इतिहास किसी के इष्ट-पक्ष की पुष्टि नहीं करता। इतिहास सत्य घटनाओं को अङ्कित करता है। वर्तमान भाषामत मतमात्र है, यह पूर्व स्पष्ट किया गया है, अतः इन मतों पर सुदृढ़ पक्ष स्थिर नहीं किए जा सकते।

वेद मन्त्रों की विशेषताएँ

१. **नियतानुपूर्वी**—वेद के मन्त्रों में आनुपूर्वी नित्य (नियतानुपूर्वी) मानी जाती है। यज्ञ में वा अन्यत्र इस आनुपूर्वी को बदलने का आज तक किसी को अधिकार नहीं हुआ। जैसी मन्त्रों की ध्वनियाँ आकाश में उच्चरित हुईं, उनका क्रम वैसा ही रखा गया। शाखाओं में वर्णानुपूर्वी अनित्य हुई। इस आनुपूर्वी के महत्त्व का अणुमात्र संकेत भी किसी फाईलालोजि के ग्रन्थ में नहीं मिलता। यह तत्त्व किसी भी पाश्चात्य लेखक की समझ में नहीं आया। यह मन्त्रों की पहली विशेषता है। भाषा अथवा लोकभाषा संस्कृत में, अथवा संसार की किसी अन्य भाषा में यह बात पाई नहीं जाती।

इसी तत्त्व को न समझ कर मैकडानल को लिखना पड़ा—

Since metrical considerations largely interfere with the ordinary position of words in the Samhitas, the normal order is best represented by the prose of the Brahmanas, and as it there appears is, moreover, doubtless the original one. (p. 283-84)

अर्थात्—क्योंकि छन्दो-विचार संहिताओं में पदों की साधारण (युक्त) स्थिति में अधिकांश बाधा डालते हैं, अतः पदों का युक्त-क्रम ब्राह्मणों के गद्य में बहुत अच्छा मिलता है। निस्सन्देह यही क्रम मूल-क्रम है।

समीक्षा—वेद संहिताओं में पदों का क्रम normal युक्त नहीं, और यह ब्राह्मणों के गद्य में ही यथार्थ रूप में मिलता है, ऐसा लेख वेद-मन्त्रों की आनुपूर्वी के महत्त्व को न समझने से ही किया गया है। वेदमन्त्रों में पदों का क्रम दैवी है, ब्राह्मणों में ऐसा नहीं है। यदि छन्दोविचार की दृष्टि से भी देखा जाए तो वैदिक छन्दों के मात्रिक छन्द न होने के कारण उनमें पदों की युक्त स्थिति कोई बाधा नहीं डाल सकती। वेद-विद्या में डींग मारने वाले

पाश्चात्यों को इस साधारण सी बात का ज्ञान नहीं हुआ। आश्चर्य है कि वेद का व्याकरण लिखने वाला इस बात को नहीं समझा।

२. **नियत वाचो युक्ति**—लोकभाषा में किसी भी पर्याय से किसी पदार्थ का बोध कराया जा सकता है, परन्तु वेद में ऐसी बात नहीं है। लोक में अग्निवेश को वह्निवेश और हुताशवेश भी कहा है।[1] परन्तु वेद में **अग्निमीले** के स्थान में **वन्हिमीले** नहीं कहा जा सकता। यदि वेद किसी काल की लोक भाषाओं में होता तो यह लोकोत्तर युक्ति इससे संबद्ध न हो सकती।

३. **छान्दसी मुद्रा**—वेद के रूपों की विशिष्टता को कुमारिल ने छान्दसी मुद्रा का नाम दिया है। वह कहता है कि वेदानुकरण पर कोई रचना भी कर लो, वेद के सूक्ष्म विद्वान् उसमें छान्दसी मुद्रा का अभाव तत्काल बता देंगे।

४. **वेद शब्द सर्वतोमुख**— लोकभाषावत् वैदिक शब्दों में अर्थ की इयत्ता नहीं। एक ही मन्त्र में प्रकरण के बदलने से एक शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं। महाविद्वान् भर्तृहरि अपनी महाभाष्य-दीपिका (पृ० २६८) में लिखता है—**इदं विष्णु विचक्रमे** (ऋ० १।२२।१७) ऋचा में विष्णु शब्द एक अर्थ में बँधा हुआ भी प्रकरण-भेद होने पर अधिदैवत, अध्यात्म और अधियज्ञ में क्रमशः आत्मा, नारायण तथा चषाल को कहता है। इसी सूक्ष्म तथ्य का संकेत निरुक्त-वृत्ति (१।२०॥२।८) में दुर्गाचार्य ने किया है।

भाषा विज्ञान की वृथा की डींग मारने वाले पाश्चात्य वेदार्थ करने वालों ने इस तथ्य को न समझ कर वेदार्थ को अति संकुचित और हीन कर दिया है। वस्तुतः उनको वेदार्थ की समझ ही नहीं आई।

५. **आधुनिक संकुचित व्याकरण वेदार्थ में पूरा सहायक नहीं** - वेद-वाक् में वर्तमान-व्याकरण के कोई नियम भी पूर्णतया चरितार्थ नहीं हो सकते। इसी लिए मैकडानल को अपने (छात्रार्थ) वैदिक व्याकरण में लिखना पड़ा—

(a) The dual number is in regular use and, *generally* speaking, in strict application (p 287)

(b) The rules of concord in case, person, gender, and number are in *general* the same as in other inflexional languages, (p.289)

(c) When there are more than two subjects the verb is not *necessarily* in the pl; but may agree with only one of them. (p. 289)

(d) If the subjects are of different numbers the verb *may agree* with either one or the other; (p. 290)

(e) Irregular Vowel Sandhi (p, 24)

---

१. **आयुर्वेदीय चरक संहिता**।

(f) अन्य विषमताओं के लिए मैकडानल का पृ० २३, १५१, १६३ आदि दखो।

अर्थात् – (क) द्विवचन का प्रयोग नियमित है और प्रायः उसका कड़ा व्यवहार होता है।

(ख) कारक, पुरुष, लिंग और वचन की एकरूपता के नियम प्रायः अन्य विभक्तियुक्त भाषाओं के समान ही हैं।

(ग) जब वाक्य में दो अथवा अधिक कर्त्ता हों तो आवश्यक नहीं कि क्रिया द्विवचन अथवा बहुवचन में ही हो। क्रिया उन कर्त्ताओं में से किसी एक के अनुरूप हो सकती है।

(घ) यदि कर्त्ताओं के वचन भिन्न-भिन्न हों तो क्रिया का वचन उनमें से किसी भी कर्त्ता के वचन के अनुरूप हो सकता है।

(ञ) स्वरसन्धि के अपवाद।

समीक्षा—पूर्वोक्त उद्धरणों में टेढ़े (इटैलिक) टाइप में किए गए शब्द बताते हैं कि मैकडानल का लेख वर्तमान व्याकरण की दृष्टि से है। पुराने व्याकरण नियमों की सूक्ष्मताएँ अभी अज्ञात हैं और अतिभाषा तथा वेदवाणी में उन सूक्ष्मताओं का कितना साम्य था, यह भी अज्ञात है। अतः वैदिक विषमताओं पर भविष्य में काम करना पड़ेगा।

यदि कोई कहे कि वेद में अनेक बोलियों का सम्मिश्रण है, तो भी युक्त नहीं। एक ही ऋषि के सूक्त में, समान-विषय के मन्त्रों में भी वाक्-रचना का प्रकार भिन्न हो जाता है।

एक असत्य कल्पना को सत्य सिद्ध करने के लिए दूसरी कल्पना—व्याकरण की इस उलझन के कारण पाश्चात्य फाइलालोजिस्ट्स ने एक नई कल्पना की,एक अनृतमत फैलाया कि सूक्तों के ऋषियों की परम्परा झूठी है।[1] भारत का सारा प्राचीन इतिहास झूठा, और पाश्चात्य ईसाई कल्पनाएँ सत्य, इसे भला कौन विज्ञ पुरुष मानेगा।

पाणिनि की महत्ता—महान् वैयाकरण पाणिनि इस सत्य को जानता था। वह यह भी जानता था कि वेदवाक् कभी भाषा नहीं बनी। भाषा का स्थान अति-भाषा अथवा आर्य-भाषा का रहा। अतः उसने वेद-वाक् के वर्णन में **बहुलं छन्दसि** का एक जप जपा। उन दिनों के विद्वान् उस बहुलं के तत्त्व को समझते थे।

दैवीवाक् विषयक ब्लूमफील्ड का अधूरा ज्ञान—वैदिक वेरिएण्ट्स,

---

1. M. Bloomfield; Rigveda Repititions, p. 634. Winternitz, H.I.L. pp,57, 58, H. Oldenberg, Vedic Hymns, p. 25. 1897.

(पाठान्तर) भाग २ में मारीस ब्लूमफील्ड और फ्रैंकलिन ईजर्टन लिखते हैं—

1. The large mass of variants of this kind, clearly pointing to extensive influence of Middle-Indic phonetics in the earliest periods of the language, seems to us one of the most important results of the volume of the *Vedic Variants*. (p. 20)

2, ...interchange of vocalic liquids...........the Prakritic nature of this change is obvious. (p. 24)

3. n and m. The verbs concerned are obscure, and evidently taken from popular (vulgar) language. (p. 94)

समीक्षा—१.२. संख्या १ और २ में वैदिक पदों में प्राकृत रूपों का दर्शन माना है। यह सर्वथा असत्य है। प्राकृत और पाली में पदों के ऐसे रूप साक्षात् वैदिक पदों से आए हैं। अपने अल्प अध्ययन के कारण ब्लूमफील्ड, ईजर्टन और वाकर्नागल इसे जान नहीं सके। प्राकृत की तो प्रकृति ही वेद और प्राचीन संस्कृत है। अतः इससे अन्यथा कल्पना विद्वानों में आदरणीय नहीं है। योरोप के अर्ध-पठित लोग भले ही आग्रह करें।

३. evidently taken—यह स्पष्टतया आप की असिद्ध धारणा के कारण है। लोकभाषा की दृष्टि से भी अति प्राचीन काल में शिष्ट-पुरुष ही अधिक थे। उनकी भाषा 'vulgar' थी, यह लिखना ऋषियों का घोर अपमान है। क्या कहें, पक्षपाती ईसाईयों की प्रकृति ही ऐसी है।

६. संसार में धातु-ज्ञान का उद्गम वेद से—वाणी अथवा भाषा का मूल अधिकांश में वाक्यों = मन्त्रों से है। पदमूलावाक् अत्यल्पा है। पर मन्त्रस्थ पदों में अथवा सर्वथा स्वतन्त्र पदों में **शब्दार्थसम्बन्ध नित्य** है। शब्दों में अर्थ का ज्ञान निर्वचन-विद्या से प्राप्त होता है। इसी सत्य को न समझ कर ईसाई लेखकों और राजवाड़े तथा सिद्धेश्वर वर्मा आदि उनके शिष्यों ने निरुक्त के अनेक निर्वचनों को अशुद्ध बताया है। वस्तुतः शब्दार्थ और उनके सम्बन्ध की नित्यता को समझकर ही प्राचीन ऋषियों ने वेदों के समानार्थ और लगभग समान रूपों वाले पदों से धातुओं का आकर्षण किया। अर्थ का दर्शन उनको मन्त्रों के पदों के अन्दर ही हुआ था। ये अर्थ मानव-समझौते के कारण शब्दों में चिपकाए नहीं गए थे। प्रत्युत अर्थ तो शब्दों में निहित ही थे। अर्थों को चिपकाकर धातु कल्पित नहीं किए गए। अर्थ तो भौतिक नियमों द्वारा ईश्वर-विभूति के कारण स्वतः वेद-शब्दों से उद्भासित हो रहे थे।

ह्विटनि, बाप, ब्रुगमन आदि पाश्चात्य लेखक विकासमत के भार से दबे रहने के कारण इस स्पष्ट तथ्य को समझ नहीं सके।[१]

१. **देखो, जैस्पर्सन, लैंगवेज ग्रन्थ, पृ० ३६७।**

यह विद्या विज्ञानों का विज्ञान है और इसके मूल स्पष्टकर्त्ता आर्य ऋषि थे। विस्तरभय से यहाँ अधिक नहीं लिखा।

वेद-वाक् विषयक आवश्यक बातें—पूर्वोक्त लक्षणों के अतिरिक्त वेद में—

१. **लेट लकार का अस्तित्व**—व्याकरण का लेट लकार (Subjunctive) वेद अथवा उसके प्रवचन ब्राह्मण ग्रन्थों में ही है, लोक में नहीं।

२. क्रिया के भविष्यत-काल के प्रयोग-विषय में—

The simple future is in comparatively rare use in V., being formed from only fifteen roots in the RV. and from rather more than twenty others in the AV. (p. 346)

अर्थात्—साधारण भविष्यत्काल की क्रिया वेद में अत्यल्प है। ऋग्वेद में केवल १५ धातुओं से इसके रूप हैं और अथर्ववेद में इनके साथ कोई २० अन्य धातुओं के।

३. वेद में लिट् लकार में धातु का विकल्प से द्वित्व होता है। यथा—

विवेद	विविदतु	विविदुः
वेद	विदतु	विदुः

परन्तु वर्तमान संस्कृत में दूसरा रूप लुप्त है।

४. **क्रियारूपों की विविधता**—वैदिक रूपों पर टिप्पणी करते हुए केगी लिखता है—

जहाँ योरोपीय भाषाओं में से समृद्धतम ग्रीक भाषा में वर्तमान काल के लकारों के क्रिया में ६८ रूप बनते हैं, वहाँ वेद में एक कृ धातु के उसी सीमा में कोई ३३६ रूप बने हैं। (पृ० १२१)

इसी दृष्टि से मैकडानल ने वैदिक रीडर की भूमिका में लिखा—

It is, however, in verbal forms that its comparative richness is most apparent. (p. xvi)

भाव-प्रकाशन का यह अत्यन्त सूक्ष्म रूप है।

५. वेद में—तीन लिंग, तीन वचन और पूरे कारक हैं।

वैदिक लिंगों का आधार सृष्टि-रचना क्रम में निहित है। सृष्टि बनते समय जिस पदार्थ ने जैसा भाग ग्रहण किया, वही उसका लिंग हुआ। '**आपः**' प्रायः मातृ स्थानी थे, अतः उनका लिंग स्त्रीलिंग हुआ।

६. **विभक्तियों का प्रयोग**—मैकडानल लिखता है—

Owing to its highly inflectional character the Vedic language, like Latin and Greek, uses the nominatives of personal pronouns far less frequently than modern European languages do.

अत्यधिक विभक्तियुक्त भाषा होने के कारण लैटिन और ग्रीक भाषाओं के समान वैदिक भाषा में भी सर्वनामों की प्रथमा विभक्ति (अथवा कर्त्ता कारक) का प्रयोग आधुनिक योरोपियन भाषाओं की अपेक्षा बहुत न्यून होता है।

७. भवान्—त्वं के स्थान में आदर वाचक पद वेद में नहीं है। ब्राह्मणों में है।

८. देवेभिः—वेद में बहुधा प्रयुक्त तृतीया बहुवचन का यह प्रयोग लोक में अत्यन्त अल्प हुआ और अन्त में सर्वथा लुप्त हो गया।

९. वेद में उदात्त आदि स्वरों का अत्यधिक सावधानता से प्रयोग है। कभी सामान्य संस्कृत में भी यह बात कुछ थी, पर अब सर्वथा लुप्त है।

१०. ऋग्वेद और उत्तर-कालीन महाकवियों की संस्कृत में दो भेद हैं। मैकडानल लिखता है—

A comparison of the syntax of the RV. with that of classical Sanskrit shows:—

(1) that the use of the middle voice, the tenses, the moods, the inflected participles, the infinitives and the genuine prepositions is much fuller and more living in the former, while

(2) that of the passive voice and of indeclinable participles is much more developed, that of absolute cases and of adverbial prepositions with case-endings is only incipient, and that of periphrastic verbal forms is non-existent. The later Samhitas and the Brahmanas exhibit a gradual transition by restriction or loss in the former group and by growth in the latter to the condition of things prevailing in classical Sanskrit. (p. 283)

अर्थात्—वैदिक और लौकिक भाषा के वाक्य-विन्यास की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि—

१. वैदिक भाषा में आत्मनेपद, लकार, कृदन्त, उपसर्ग आदि का प्रयोग लौकिक भाषा की अपेक्षा अधिक व्यापी और सजीव है।

२. वैदिक भाषा में कर्मवाच्य तथा कृदव्यय का अधिक प्रौढ़ प्रयोग है, विभक्ति प्रतिरूपक अव्ययों का प्रयोग नाममात्र है, तथा अनुपयुक्त क्रियाओं का सर्वथा नहीं। परन्तु इसके विपरीत (पिछली, अवान्तर) संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में लौकिक भाषा की ओर प्रवृत्ति बढ़ती गई।

११. व्यञ्जन सन्धि का एक प्रकार द्रष्टव्य है—

पाणिनि के अनुसार मैकडानल ने लिखा—

चौदहवां व्याख्यान

ईरानी=पारसिक=पारसीकक भाषा

हैरोडोटस के अनुसार पारसीकों की दस जातियाँ थीं। उनकी भाषा में थोड़ा-थोड़ा भेद अवश्य होगा। पर हमें प्राचीनकाल से आए इस भाषा के केवल दो रूपों का ज्ञान है।

इनमें से एक रूप पहलवी का था। यह पल्लव लोगों की भाषा थी। आर्य वाङ् मय में पल्लव बहुत स्मृत हैं। यथा—

पारदा पल्लवाश्चीनाः । मनु० ।

बाल्हीका पल्लवाश्चीनाः । चरक संहिता, चि० ३०।३१६।।

इस पहलवी और पारसीक भाषा के दूसरे रूप को निम्नलिखित वृक्ष द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं—

```
                    ईरानी=अति भाषा का प्रथम विकार
                                |
                ----------------------------------
                |                                |
             अवेस्ता                         प्राचीन फारसी
                |                                |
              गाथा                               |
                |                                |
        उत्तरकालिका अवेस्ता                  अपभ्रंश फारसी
                                                 |
                                  --------------------------------
                                  |              |               |
                                पहलवी          सुगदी             शक
```
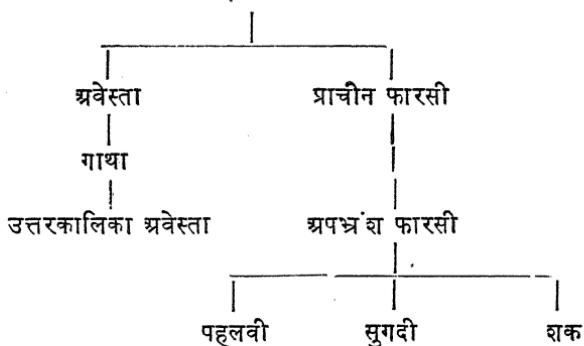
आश्चर्यजनक तथ्य— जिस प्रकार अवेस्ता के समय से ही प्राचीन फारसी प्रचलित आ रही थी, उसी प्रकार वेद चरणों के अस्तित्व में आने के काल से ही अतिभाषा अर्थात् प्राचीनतम लोक-भाषा में अनेक रचनाएँ होने लग पड़ी थीं।

अतः भारतीय इतिहास में मैक्समूलरकृत वेदकाल आदि युगों की कल्पना बाललीला है।

१. अवेस्ता के भाग—अवेस्ता के तीन भाग हैं। यसन, विस्परेद और वेन्दीदाद। यसन का गाथा भाग छन्दोबद्ध और प्राचीनतम माना जाता है। यह

ज़रथुश्त्र का उपदेश है ।

काल—ज़रथुश्त्र के काल-विषय में विभिन्न मत हैं । उनका अन्तर भूत-लाकाश का है । ईसा-पूर्व ६०० से ईसा-पूर्व ४००० तक का यह काल है । यूनान के विद्वानों का मत मैक्समूलर ने लिखा है—

Xanthus, the Lydian (470 B. C.), as quoted by Diogenes Laertius, places Zoroaster, the prophet, 600 before the Trojan war (1800 B. C.).

Aristotle and Eudoxus, according to Pliny, placed, Z.6000 before Plato; Hermippus 5000 before the Torjon war.

Pliny places Z. several thousand years before Moses the Judaean, who founded another kind of Mageia. (L.S.L., Vol.I, p. 242)

२. पाश्चात्य लेखकों ने अपना अभिप्राय सिद्ध होता न देखकर, सारे यूनानी साक्ष्य को परे फेंककर,[1] ज़रथुश्त्र का काल ईसा-पूर्व ८०० मान लिया है । यह कल्पनामात्र है, इससे अधिक नहीं ।

३. अवेस्ता की गाथाएँ यत्र-तत्र वेद-मंत्रों से मिलती हैं । ब्राह्मण-ग्रन्थों के भावों से बहुत अधिक मिलती हैं ।

अवेस्ता के कई पद स्पष्ट प्राकृत के स्तर में है । प्राकृत में—

भैरव	भइरवो
दैत्य	दइच्चो
दैवं	दइवं०[2]

इसी प्रकार अवेस्ता में—

ओजस्	अओजो
देव	दएव
भैषज्य	बएषज्यो
रोचयति	रओचयेइति
सोम	सओम
पूर्व्यो	पओइर्यो

१. वर्तमान योरोपीय पक्ष का अनुगामी माणिकलाल पटेल इन तिथियों को fabulous, कहानीमात्र कहता है । (देखो A.I.O.C., मैसूर, सन् १९३७, पृष्ठ १५९)

२. प्राकृत प्रकाश, पृ० २७ ।

मैकडानल आदि पक्षपाती ईसाई लेखकों ने वेद की अनेक देवताओं को pre-vedic लिखा है। यथा—

The deification of the Waters is pre-Vedic, for they are invoked as आप: in the Avesta also. (Vedic Reader, p. 116)

यह लेख साध्यसमहेत्वाभास है।

अवेस्ता, पुरानी फारसी, पहलवी और वर्तमान फारसी भाषा की कुछ विशेषतायें आगे लिखी जाती हैं—

४. उच्चारण में प्रधान भेद निम्नलिखित हुए—

क्, त्, प् को ग, द, ब हो गया। यथा—

संस्कृत	प्राचीन फारसी	पहलवी	वर्तमान फारसी
१. मारक	मर्क	मर्क	मर्ग (मृत्यु)
२. स्वत:	ह्वतो	खोत	खुद (आप)
३. आप्	आप्	आप्	आब् (जल)
४. दश (=प्राकृत—दह[1])			दह

च् को ज् होकर ज़् हो गया। यथा—

१. रोच	रोच	रोज़	रोज़ (दिन)

य के स्थान में प्राय: ज् हो गया। यथा—

१. यातु	यातु	जादु	जादु

५. लिपि—अवेस्ता की लिपि खरोष्ठी आदि के समान दक्षिण ओर से वाम ओर को चलती है।

पुरानी फारसी के लेख कीलकाक्षरों (cuneiforms) में होते थे।

अवेस्ता में स्वर-अंकन नहीं है।

ईरानी में टवर्ग और महाप्राण (वर्ग का दूसरा और चौथा) वर्णों का अभाव है।

६. पद—अवेस्ता के पद सब पृथक्-पृथक् लिखे जाते हैं। पार्थक्य-प्रदर्शन के लिए बिन्दु का प्रयोग होता है।

७. संस्कृत, अवेस्ता और पुरानी फारसी के कुछ तुलनात्मक उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

संस्कृत	अवेस्ता	पुरानी फारसी
१. अहि दानव	अज़ी दहाक	
२. आथर्वण	अथोर्नान्	
३. आर्यायने बीजे	अइर्यने कएज़हे	

---

१. **प्राकृत मञ्जरी, २।४०॥**

४. क्षत्र	ख्षथ्र	ख्षथ्र
५. गातु	गातु	गाथु
६. चित्र	चिथ्र	चिथ्र
७. जीवति	जीवति	जीवति
८. नमः		नमाज़
९, पीलु		फ़ील
१०. पुत्र	पुथ्र	पुथ्र
११. भूमि	बूमी	बूमी
१२. भैषज्य	बएषज्यो	
१३. भ्रातर्	ब्रातर्	बिरादर
१४. रथेष्ठा	रथेस्तार	
१५. वृत्र	वृथ्र	
१६. सप्ताह	हफ़्तः	हफ्तः
१७. सुतक्ष	हुतोख्ष	
१८. सुषुमा		शमा
१९. सोमः	हश्रोमो	होम
२०. सेना	हएना	
२१. सर्वं	हर्वं	
२२. हिरण्य	ज़रण्य	

अवेस्ता-व्याकरण की अन्य विशेषताएँ पण्डित राजारामकृत अवेस्ता पुस्तक में देखें। पूर्वोक्त अधिकांश विशेषताएँ वहीं से एकत्र की गई हैं।

अवेस्ता का सम्बन्ध कवि उशना अर्थात् शुक्र से है।[1] वह कवि उसा और कैकोस नाम से अवेस्ता और उत्तर-कालीन फारसी साहित्य (शाह नामा) में स्मरण किया गया है।

बॉप और जेंद—अवेस्ता का पहलवी अनुवाद जेंद कहाता है। अवेस्ता और जेंद की भाषा के विषय में बॉप का मत है—

Zend:—for this remarkable language, which in many respects reached beyond, and is an improvement on, the Sanskrit, and makes its theory more attainable, (p. IX)

टिप्पणी—बॉप का मत कुछ-कुछ पाणिनीय संस्कृत के विषय में प्रतीत होता है। पर अवेस्ता के पदों में बहुधा संस्कृत पदों के उत्तर-कालिक रूप हैं।

---

१. **काव्यं वेदविदां वरम्—वायु पुराण** ६५।७४॥

दरद भाषाएँ

पुरानी फारसी के अति समीप की दरद भाषाएँ हैं। सिन्धु नद का उद्गम-स्थान दरद देश में है। दरद पुराने आर्य क्षत्रिय थे।[1] वे अनेक छोटी जातियों में विभक्त थे।[2] कालान्तर में संस्कारहीन होने से वे म्लेच्छ हो गए।[3] पर यह काल भी भारत युद्ध से कई सहस्र वर्ष पहले का था। ज्योतिष की काश्यप संहिता में उन्हें म्लेच्छ लिखा है।[4] सिन्धु के उद्गम स्थान से काश्मीर तक सारा प्रदेश इनकी भाषाओं से ओत-प्रोत था। उनका स्थूल निदर्शन अगले चित्र से समझ आएगा—
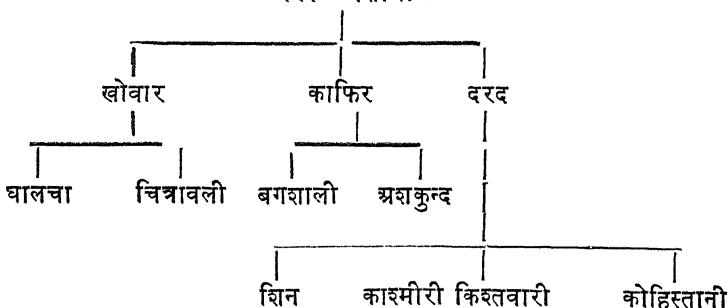
क्षीरतरंगिणी, पृ० २७० पर लिखा है—

> दरदो देशः। दरद् ईषदर्थे ऽव्ययम्।
> तस्य दरेति प्राकृते अपभ्रंशः।

अर्थात्—दरद का अर्थ है छोटा देश। उसका प्राकृत विकार दर है। क्या कश्मीर के दर ब्राह्मण कभी दरद देशवासी थे।

१. खोवार देश—दरद को ईरान से मिलाता है।

२. काफिर देश—इस देश की भाषाओं का अभी तक पूरा अध्ययन नहीं हो सका।

---

१. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग २, पृष्ठ १७४। तथा मनु।

२. महा० अनुशासन ७०।२०॥

३. तुलना करो, मनुस्मृति १०।४३,४४॥ इन्हीं सत्य बातों के प्रकट होने के भय से पाश्चात्यों ने मनु के वर्तमान ग्रन्थ का काल ईसा सन् १०० के समीप का कल्पित किया है। वस्तुतः यह कल्पना अविद्वानों की है।

४. अद्भुतसागर, पृ० ५७ पर उद्धृत।

३. दरद का काफिर वर्ग से सम्बन्ध स्पष्ट है।

४. शीना गिलगित देश तथा सिन्धु के एक भाग की भाषा है।

५. कश्मीरी में संस्कृत भ का अवेस्तावत् ब वर्ण हो गया है। कश्मीरी भी भूमि को बूमि कहते हैं।

(क) कश्मीरी में संस्कृत के अपभ्रंश बहुत हैं। यथा[1]—

द्राक्षा	दच्छ
परिपवनं=(चालनी)	पयरून=पैरुन
गूथं[2]	गूथ

१. कुमारी गार्गी काक द्वारा लिखवाए गए।

२. पुरीषं, वामन, लिंगानुशासन, करिका ४।

पंद्रहवां व्याख्यान

हित्ती भाषा

देश स्थिति—छोटा एशिया के मध्य में एक शैलों का क्षेत्र है। वहाँ विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व अथवा उससे भी कुछ पहले सुमेर-बाबल और असीरिया वालों का राज्य रहा था। उसी प्रदेश में हित्ती जाति का वास था।

नाम—इस भाषा को अंग्रेजी में Hittite कहते हैं। इस भाषा वाले देश की राजधानी Hatti (=हत्ती) थी।[1] यह शब्द क्षत्रिय, खत्री का विकार मात्र है। इसी कारण इस देश को खत्ती देश भी कहते थे। पुराणों में इसे क्षत्रियोपनिवेश देश के संकेत से स्मरण किया है। मिश्री भाषा में इस देश को **खेत** कहते थे।[2]

नैश—हित्ती के पुराने लेखों में "**कनेस** का गायक" प्रयोग उपलब्ध होता है।[3] इस लिए इस देश को **क-नेस** नाम भी देते हैं। व्याकरण महाभाष्य ४१।७ में **नैश** नाम के जनपद का उल्लेख है। सिकन्दर के पंजाब-आक्रमण वृत्तान्त में भी Nysa जनपद का वर्णन है। **क-नेस** का अर्थ छोटा नैश जनपद हो सकता है। भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त में कितने क्षत्रियोपनिवेश थे, यह जानना चाहिए।

इन खत्तियों को वेद से पूर्वकाल का मानना **भाषा**-विद्या का निरादर करना है।

भाषा और लिपि—हित्ती भाषा को नाशिलि अथवा नेशुम्निलि भी कहा है।[4] इस भाषा का काल ईसा से लगभग १४०० वर्ष पूर्व का अनुमानित किया जाता है। हमारा विचार है, यह भाषा इस काल से बहुत प्राचीन थी। योरोपीय बनावटी कालक्रम ठीक नहीं है। लिपि की दृष्टि से खत्ति जाति दो भागों में विभक्त हो चुकी थी। एक भाग कीलक (=cuneiform) अक्षरों का प्रयोग करता था और दूसरा पवित्राक्षरों (hieroglyphic) का। ये पवित्राक्षर मिश्र देश के पवित्राक्षरों से सर्वथा भिन्न कहे जाते हैं। इनके लेखों में अग्नि, इन्द्र (इन्दर) मित्र (मित्रशशिल)—वरुण (अरुनशशिल) और नासत्य (नशत्तियत्र) आदि देवता स्मरण किए गए हैं। उनके रथशास्त्र के कुछ शब्द हैं—

---

१. देखो ग्रे, पृ० ३२३।
2. The Hittites, p. 2.
३. ,, ,, ,, ,,।
4. Hrozny, Ancient History, p, 113.

ऐक-वर्तन्न, तेर-वर्तन्न, पञ्ज़ वर्तन्न और शहोत-वर्तन्न ।

वेद में—वेद में एकचक्र, त्रिचक्र, सप्तचक्र और शतचक्र रथों का वर्णन है। ऋग्वेद ४।३६।७ में—**त्रिचक्रः परिवर्तते रजः**, पाठ है। पुनः ऋक् ७।१०१।२ में **त्रिवर्त्तु** पद है। ऋ० १।२५।६ में **वर्तनि** पद है। ऋग्वेद में **हिरण्य-वर्तनि** पद भी है। ऋग्वेद १।१११।१ के **सुवृतं** पद का माधवभाष्य में **सुवर्तनं** अर्थ है। इसका अर्थ है—सुचक्रं ।

पूर्वनिर्दिष्ट तेरवर्तन्न और पञ्जवर्तन्न के आदि शब्द तेर और पञ्ज संस्कृत के त्रि और पञ्च शब्द के उसी रूप के अपभ्रंश हैं, जैसे त्रिदश का हिन्दी के तेरह में 'त्रि' का तेर, और पञ्च का पंजाबी में पञ्ज अपभ्रंश हुआ है। शहोत का हिन्दी में अर्थ है—बहुत ।

बरो की घबराहट—बरो और उसके गुरु इस भय से कि हित्ती भाषा, प्राकृत का रूप मानी जाकर वेद से बहुत उत्तर-काल की सिद्ध होगी, इन शब्दों को हित्ती में उधारे शब्द लिखते हैं। यथा—

The existence of these loanwords in the Hittite text shows clearly the priority of the Aryans in this field. (p. 28)

अर्थात्—ये आर्य शब्द थे, जो हित्ती में उधार गए। परन्तु वह इन आर्य शब्दों को वेद से पूर्व काल का मानता है। सत्य है, वृथा कल्पनाओं का ऐसा परिणाम ही होता है। निश्चित इतिहास को त्याग कर कल्पना के क्षेत्र में उतरना असत्य का मार्ग पकड़ना है।

ये शब्द प्राचीन संस्कृत के अपभ्रंशमात्र हैं।

होज़नि का मत—Further evidence proving the existence of the Aryans, especially Indians, in Mesopotamia in the second millenium-B. C., are Aryan, and even Indian numerical expressions I have found in some Hittite texts. They deal with horse breeding and the training of horses for vehicle drawing. These are from the famous *hand book* on *horse-breaking* from the 14th century B. C., whose author was the earliest known hippologist of the world, *Kikkulish*[2] of *Mitannu*.[1]

In the State of Mitannu there were obviously settled Indian inhabitants who, according to these texts, had taught to the Hittites and other nations [of] the ancient orient horse-breeding.[1]

---

1. Hrozny, Ancient History, p. 112.
२. **यह यादवों की एक उपजाति थी—कुकुरु। हित्ती लोग प्राकृत का ही एक प्रकार प्रयोग में लाते थे।**

The fact that the spread of the knowledge of the horse in the ancient Orient was due to the Aryans, is evidenced by the Babylonian, Hebrew and Egyptian words for this domestic animal; the Babylonian *sisu*, Hebrew *sus*, Egyptian sesemt, being derived from the Aryan, old Indian word *asvah* (अश्वः) (with श) and not from the Kentum.[1]

हित्ती राजा अपने को मर्यनि (मर्य—मरणधर्मा) लिखते थे। उनके देवता इन्दर, मिइत्तर, अ्रूवण और नस अत्तियस् थे। ये शब्द स्पष्ट संस्कृत के इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्य के अपभ्रंश हैं।

खत्ती भाषा में—एन, स्वामी अर्थ में विद्यमान है।[2] यह स्पष्ट ही संस्कृत इन पद का विकार है। खत्ती में हस्तैत, संस्कृत अस्थि से मिलता है।[3] आज की हिन्दी, पंजाबी में हड्डी शब्द प्रयुक्त होता है।

ह्रौज़नि ने—

१.	Vashanasha = dress	वसनं
२.	pade, padai	पद
३.	कुपश—grave	कूप

संस्कृत से मिलते हुए ये हित्ती के शब्द दिए हैं।[4]

खत्ती में **गेनू** संस्कृत **जानू** का विकारमात्र है।

यहां लिपि-दोष से संस्कृत **जानु** के ज की ग ध्वनि हुई है।

हित्ती में प्राकृत के समान ही द्विवचन नहीं है।

शौरसेनी प्राकृत—हित्ती के इस प्रकार के शब्द शौरसेनी प्राकृत के पूर्व रूपों की सूचना देते हैं।

कुछ लेखकों ने इण्डो-योरोपियन और हित्ती भाषा का सम्बन्ध निम्न-लिखित प्रकार का अनुमानित किया है—

1 Hrozny p. 112. २. **स्टुर्टिवण्ट का कोष। बाबल की भाषा में भी एनि=स्वामी शब्द मिलता है।** ३. **ह्रौज़नि, पृ० ११६।** 4. The Hittites p. 120.

पर वह अभी कल्पनामात्र है। जब भारत की पुरानी ग्रन्थ-सामग्री का यथार्थ अध्ययन हो जाएगा तो इन भाषाओं का परस्पर सम्बन्ध निम्नलिखित होगा—
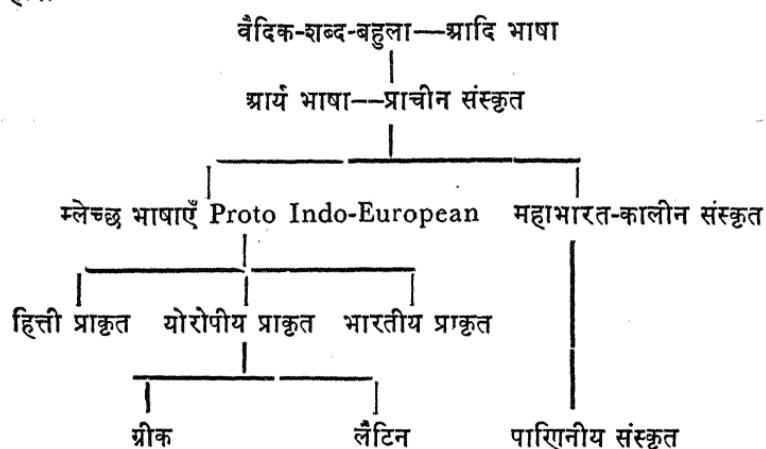
इस तथ्य का आभास अगले व्याख्यान में मिलेगा।

सोलहवाँ व्याख्यान

यावनी (=ग्रीक) भाषा

यवन—१. महाभारत आदि पर्व ७९।४२ में लिखा है—

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनाः स्मृताः ।

अर्थात्—ययाति के पुत्र तुर्वसु के सन्तान में यवन हुए। यथा—
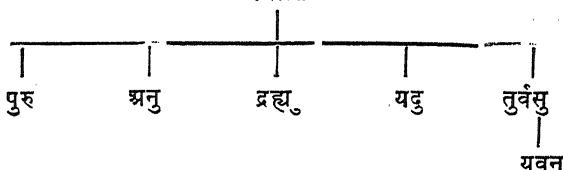
यवन विशुद्ध आर्य क्षत्रिय और संस्कृत भाषा-भाषी थे।

२. भारत-युद्ध से बहुत प्राचीन मुनि शालिहोत्र अपने अश्वशास्त्र में यवन घोड़ों का उल्लेख करता है।[१]

म्लेच्छ हुए—महाराज सगर के काल में यवन, शक, काम्बोज, पारद और पह्लव आदि क्षत्रिय जातियाँ दण्डित होकर संस्कार-हीन होने के कारण म्लेच्छ हो गईं। कालान्तर में उनकी भाषा भी विकृत होकर रूपान्तरित होती गई। यह घटना भारतयुद्ध से बहुत पूर्व की है।

इस तथ्य का उल्लेख मनुस्मृति १०।४३, ४४ में भी है। इस प्रकार के स्पष्ट, प्रामाणिक और ऐतिहासिक लेख का निरादर करके कौन हतभाग्य मनुष्य पाश्चात्य लोगों की निःसार कल्पनाओं में विश्वास करेगा। सत्यसन्ध ऋषियों ने किस उद्देश्य से यह 'असत्य' लिखा, इसका सोचना भी रोमाञ्च कर देता है।

महाभारत के युद्ध में यवन योद्धा लड़ रहे थे। भीष्मपर्व १०।६४ में उन्हें म्लेच्छ लिखा है।

विष्णु पुराण ४।३।२१ में स्पष्ट कथन है—

ते च निजधर्मपरित्यागात् ब्राह्मणैश्च परित्यक्ता म्लेच्छतां ययुः ।

वायुपुराण ८८।१४३ में शक, यवनों के क्षत्रियगण, महाराज सगर के काल तक रहे, ऐसा उल्लेख है।

---

१. **वीरमित्रोदय, लक्षण प्रकाश, पृ० ४२९ पर उद्धृत।**

योरोप के ईसाई लेखकों को यह बात अखरती है। पर क्या करें, हम सत्य प्रमाणों से प्रमाणित तथ्य का त्याग नहीं कर सकते।

भाषा—यवन भाषा को यावनी भाषा और लिपि को यवनानी लिपि कहते थे। (व्याकरण वार्तिक ४।१।४९।।)

यवनानी लिपि में दीर्घ-स्वर नहीं हैं, और वर्णों की संख्या २४ है।

पणियों से लिपि-ज्ञान—हैरोडोटस ५।५८ में सूचना देता है कि ग्रीक लोगों ने Phoenicians से वर्ण-ज्ञान सीखा। कालान्तर में उन्होंने कुछ अक्षरों के रूप बदल लिए।

यवन भाषा और कुमारिल—यवन और रौमक (लैटिन) आदि म्लेच्छ भाषाओं से भट्ट कुमारिल परिचित था। वह तन्त्रवार्तिक में लिखता है—

पारसी-बर्बर-यवन-रौमकादिभाषासु। (पृ० २२६)

यवन पद का अपभ्रंश—कर्टियस नामक वैयाकरण का मत फैरार ने लिखा है—

According to Curtius, we find intial i for y only in proper names like Iaonec = Yavanas.

फैरार का टिप्पण—Curtius is wrong here, for Yavanas is a borrowed word, (p. 83)

अर्थात्—यावनी भाषा में व्यक्ति नामों में आरम्भ का य, इ रूप को धारण करता है। इस प्रकार यवन शब्द Iaonec हो गया।

इस पर फैरार का मत है कि यवन शब्द उधारा शब्द है।

विण्टर्निट्ज योरोपीय स्वभाव के अनुसार एक गप्प हाँकता है—

On the other hand, however, it (Mahabharata) can only have received this form.........after Alexander's invasion of India, as the Yavanas, i. e. the Greeks (Ionians), are frequently mentioned. (H. I. L., p. 465)

यह प्रतिज्ञा प्रमाणहीन है। यवन शब्द कश्यप, पराशर आदि की ज्योतिष संहिताओं (४००० वर्ष विक्रम से पूर्व) में प्रयुक्त है।

यवन=योण—वस्तुतः संस्कृत का यवन शब्द अति प्राचीन है। और इसी का अपभ्रंश प्राकृत (Iaonec) है। नासिक गुफाओं की १८वीं संख्या के लेख में यह शब्द प्रयुक्त है। नासिक की प्रथम गुफा के लेख में **यौण** शब्द मिलता है। ग्रीक शब्द प्राकृत काल का है। तब संस्कृत शब्द के उधारा होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

भारतीय इतिहास और संस्कृत ग्रन्थों की अति प्राचीन तिथियों से डर कर

ही पक्षपाती लेखकों ने इस इतिहास और यहाँ के ग्रन्थों की तिथियों को ईसा से २००० वर्ष पूर्व के अन्दर-अन्दर लाने का यत्न किया है।

बोलियाँ—आईओनिअन्स चार विभिन्न बोलियाँ बोलते थे। (हैरोडोटस, भाग १, पृ० ७४, तथा स्ट्रैबो, भाग ४, पृ० ५) जिस प्रकार संस्कृत के एक पंजाब में ही विभिन्न विकार हुए, उसी प्रकार यवनों की चारों विभिन्न बोलियाँ भी संस्कृत का ही विकारमात्र थीं। उन्हीं और एटिक आदि कई बोलियों के मेल से आदर्श यावनी भाषा बनी। कई लेखकों के अनुसार **डोरिक**=Doric प्रधान भाषा बनी।

यावनी बोलियाँ संस्कृत का अपभ्रंश—जब श्लैगल ने संस्कृत को योरोपीय भाषाओं की माता कहकर ईसाई और यहूदी योरोप को धक्का दिया तो पक्षपाती जर्मन लेखक इस बात पर तुल पड़े कि इस सत्य को दृष्टि से ओझल कर दिया जाए। उन्होंने कल्पनाओं पर कल्पनाएं कीं। उनके परिश्रम का फल मैक्समूलर[1] ने लिखा है—

No one supposes any longer that Sanskrit was the common source of Greek, Latin and Anglo Saxon. (India What Can It Teach Us, p. 21)

अर्थात्—अब कोई नहीं मानता कि संस्कृत भाषा ग्रीक, लैटिन और एङ्गलो सैक्सन का सामान्य स्रोत है।

मैक्समूलर ने अन्यत्र भी लिखा—

No sound scholar would ever think of deriving any Greek or Latin word from Sanskrit, (L. S. L., vol. II, p. 444)

अर्थात्—कोई गम्भीर विद्वान् किसी ग्रीक वा लैटिन शब्द के संस्कृत से विकृत होने का कभी विचार नहीं करेगा।

हम मैक्समूलर के लेख के दो शब्दों का परिवर्तन करेंगे—

Every sound scholar would always think of deriving any Greek or Latin word from Sanskrit.

अर्थात्—प्रत्येक गम्भीर विद्वान् किसी ग्रीक वा लैटिन शब्द के संस्कृत से विकृत होने का सदा विचार करेगा।

यावनी के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थकार—होमर और हेसिअड दो ग्रन्थ-

---

१. **मैक्समूलर की योग्यता के विषय में ग्रे ने लिखा है**—
as a serious linguist he (Max Muller) was scarcely successful, and his work in this field no longer merits consideration. (p 441.)

कार हैं, जिनसे पुराने किसी ग्रन्थकार के ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं हैं। होमर को ईसा-पूर्व ८८०-८३० का मानते हैं।[१]

यावनी भाषा संस्कृत का प्राकृत-सदृश अपभ्रंश है। इसमें अनेक तत्सम शब्द आज भी सम्प्राप्त हैं।

ग्रीक में संस्कृत के तत्सम शब्द

१. अष्टौ	okto
२. अस्थि	asteon[2]
३. आर्ष[३]	arche[3] (origin, beginning, no longer in common use)
४. उषा	eos
५. ऊर्णा	erion
६. ओकस्[४]	cekos
७. कपाल	kephale—cephale
८. जनी	gyne (woman)
९. जनित	genete (birth)
१०. भार	baros
११. मधु[५]	methos
१२. मलिन	melaons
१३. मूष	mus(mys=mouse)
१४. शाला	schole
१५. शुनस्	cyon, cunos (dog)

पूर्वोद्धृत ग्रीक शब्दों में थोड़ा सा उच्चारण-दोष है। परन्तु अर्थसाम्य पूरा है।

---

१. हेरोडोटस, भाग १, पृ० १४१ नोट।

२. वररुचि के अनुसार अस्थि का प्राकृत में अट्ठी रूप है। यावनी रूप उसके कुछ पहले का विकार हो सकता है।

३. आर्ष शब्द तद्धित रूप है। इसका संस्कृत में यह अर्थ भी है—जो आधुनिक प्रयोग में नहीं रहा। केवल ग्रीक से इस अर्थ की व्याख्या असम्भव है। निस्सन्देह ग्रीक शब्द संस्कृत का अपभ्रंश है।

४. ग्रीक शब्द संस्कृत ओक का अपभ्रंश नहीं, देखो पूर्व पृ० ५८। ऋग्वेद १।४०।५ में ओकांसि पद पठित है।

५. जिस प्रकार वैदिक अध पद लोक भाषा में अथ है, उसी प्रकार मधु का ध ग्रीक में थ हुआ है। यह प्राकृत से पूर्व का रूप है। प्राकृत विकार मधु है।

संस्कृत पदादि च के ग्रीक में रूपान्तर

१. चक्र	कुक्लास
२. चर्म	derma[1] (skin)
३. चरित्र	kharakter
४. चल	kelo, okello
५. चित्रण	kharatto (engrave)
६. चूषणम्	kussen (kiss)

ग्रीक में भ की ब ध्वनि

१. अभ्र	oubros
२. भार	baross
३. भारिक	barys
४. भग	bagaios

ग्रीक में भ की फ ध्वनि

१. भ्राता	phrater

वररुचि में प्राकृत-विषयक इसकी विपरीत-दिशा का भी संकेत है । यथा—फो भः ।२।२६।।

ध की फ ध्वनि

१. ध्वनि	phone

ग्रीक में प्राकृतवत् रेफ तथा अर्ध रेफ का लोप

शौरसेनी प्राकृत में यह लोप बहुत अधिक हुआ है । ग्रीक में भी यह प्राय: मिलता है । यथा—

संस्कृत	ग्रीक	ओल्ड इंगलिश
१. क्रमेल	camelos	
२. क्रोध	kotos	
३. प्रस्तर	petra	
४. पात्र	pott	pott
अर्ध रेफ		
५. शर्करा	sakkharos	

ग्रीक में प्राकृत समान इस नियम को चरितार्थ होता देख कर कौन विज्ञ पुरुष ग्रीक को संस्कृत का अपभ्रंश नहीं मानेगा ।

---

१. संस्कृत पंच का यावनी में pente अर्थात् च को t हुआ है । त और द समान वर्गीय विकार हैं ।

अवेस्तावत् ग्रीक में संस्कृत स का ह

१. सप्त	hepta
२. सम-साम्य	homos
३. सरमा (वैदिक)	harema (dawn), mother of two dogs, (Chips from a Ger.)
४. सामि (= अर्ध)	hemi
५. सुत	huios[1]
६. सुरकुलेश	Hercules
७. स्वप्न	hypno (Lith., *sapnas*)[2]
८. स्वेदस्	hedys
९. शतद्रु	Hesidrus
१० शर्वरी (रात्रि)	hespera (evening)
११. शूर	heros
१२. षष् (= षट्)	hex

पर संस्कृत स की ग्रीक में बहुधा स ध्वनि भी बनी रही। यथा—

सुरुंग	syrinx
स्कन्द	scandalon (offense)
स्तारः (बहुवचन)	aster
स्फुलिंग	spinther (spark)

सुरुंग शब्द के विषय में कीथ लिखता है—

but probably later India borrowed सुरुङ्ग from syrinx in the technical sense of an underground passage, (H.S L., p. 25, 460)

अर्थात्—सुरुंग शब्द भूमिगत मार्ग के अर्थ में ग्रीक से उधार लिया गया है।

स्टाईन का भी यही मत है।[3]

समीक्षा—इस अर्थ में सुरुंग शब्द भरत नाट्य शास्त्र १७।५६, तथा महाभारत आदि अति प्राचीन ग्रन्थों में प्रयुक्त है। महाभारत, आदिपर्व में लाक्षा गृह से खनक द्वारा सुरुंग का खनन वर्णित है। कामसूत्र ५।६।२७ में भी यह शब्द

---

१. वेद में यहु पद इसी अर्थ में है। देखो ऋ० १।२७।१० पर स्कन्द भाष्य। स्कन्द स्वामी ने किसी पुरानी अनुक्रमणी से यही अर्थ उद्धृत किया है।

२. हिन्दी में आज भी सपना बोलते हैं। लिथूएनियन शब्द संस्कृत का स्पष्ट अपभ्रंश है।

३. देखो, इण्डियन हिस्टा० पृ० ४२९-४३२.

है। इन ग्रन्थों के रचयिता शिष्ट पुरुष और भाषा के पूर्ण ज्ञाता थे। उन्होंने यह शब्द उधारा नहीं लिया। उन्हीं का शब्द ग्रीक भाषा में गया है। सुरुंग एक वृक्ष का भी नाम है। अष्टांग संग्रह, चिकित्सा स्थान, अ० १७ में टीकाकार इन्दु सुरुंग का अर्थ मूर्वा करता है। अतः मूल शब्द संस्कृत का है।

संस्कृत वा यावनी में ou अथवा au अथवा ए

वरुण	ouranos
वक्षस् (वृद्धि)	auxans
वमित[1] अथवा वान्त	emetos (vomit)

यह भी प्राकृत के विकारानुरूप है।

अग्रागम—यवन भाषा में अग्रागम के कारण शब्दों के जो रूप बने, उनके छः उदाहरण पूर्व पृ० ५२ पर दिए गए हैं। उनके अतिरिक्त निम्नलिखित १ और ४ शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं—

संस्कृत	यवन	रौमक
१. ऋक्ष	arkots	
२. क्षुद्रक	Oxydrakoi	
३. नाम	onoma	
४. रजत	argyros	argentum
५. रतिः	erotiktos	
६. रुधिर	erythoros	
७. स्तारः	aster	

फैरार का साक्ष्य—इस विषय में कर्टियस के आधार पर फैरार ने लिखा है—

We frequently find a vowel prefixed to many Greek words which is absent in the corresponding words in the cognate languages.........Curtius points out that this prosthetic vowel is generally found before double consonants, nasals......(p. 67)

कर्टियस का विचार पूरा ठीक नहीं। संयुक्त व्यञ्जनों के आदि के अतिरिक्त भी स्वर का अग्रागम होता है।

---

१. **संस्कृत में इसका धातु वम् है। यावनी में** emes. **अंगेजी शब्द** emit **इससे सम्बन्ध रखता है।**

अन्य शब्द

अरित (ऋ० २।४२।१)	eretes (=rower)
आमाशय	stomachos (stomach)
काष्टीर (=टीन, हिन्दी में)	Kassiteros
नाविक	nautes
लोग	laos

ये शब्द भी प्राकृत स्तर के हैं ।

निस्सन्देह यावनी बोली प्राचीन संस्कृत का एक अपभ्रंशमात्र है । कभी संस्कृत भाषा सारे संसार में बोली जाती थी । ईसाई लेखक और उनके उच्छिष्टभोजी भारतीय छात्र इस तथ्य को तिरोहित नहीं कर सकते ।

सत्रहवाँ व्याख्यान

प्राकृत

नाम—प्राकृत शब्द के अगले अपभ्रंश-रूप विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं—पयय (गौडवहो ६५), पाग्रग्र (भरत नाट्य०), पाईया (ग्रनेक जैन ग्रन्थों में), पायय (कुवलयमाला), पायया (लीलावई, ४१)।

प्राकृत के अध्ययनार्थ सामग्री—प्राकृत के यथेष्ट ज्ञान के लिए निम्न-लिखित सामग्री उपादेय है—

१. **भरत का नाट्यशास्त्र**—यह ग्रन्थ अति प्राचीन है। महाभारत शान्ति-पर्व में इसका उल्लेख है। नाट्यशास्त्र के अंग्रेजी अनुवादक मनोमोहन घोष का मत है कि यह ग्रन्थ भरत के नाम पर बनाया गया था। उनका पूर्व मत था कि नाट्यशास्त्र ५०० सन् ईसा का ग्रन्थ है (कर्पूर मंजरी, सन् १९४८)। फिर उनका मत हुआ कि इसका वर्तमान पाठ ईसा के लगभग २०० वर्ष में बना। (अंग्रेजी अनुवाद, भूमिका पृष्ठ २५)।[1] ये दोनों मत युक्त नहीं। भरत नाट्य-शास्त्र के भाष्यकार राहुलक और मातृगुप्त तथा वार्तिककार हर्ष तीनों विक्रम के समीप काल के ग्रन्थकार हैं। भरत का ग्रन्थ उनसे बहुत पूर्व काल का है।

नाट्यशास्त्रान्तर्गत प्राकृत की प्राचीनता का उल्लेख करते हुए मनोमोहन घोष जी को भी बहुधा लिखना पड़ा—

This speaks of the high antiquity of the pkt. of the N. S.

इस नाट्यशास्त्र के १८वें (बड़ोदा संस्करण १७वें) अध्याय में प्राकृत-विषयक अनेक नियमों का वर्णन शौरसेनी प्राकृत में है। उन्हें भरत **प्राकृत लक्षण** कहता है।

२ **कोहल**—मार्कण्डेय कवीन्द्र के अनुसार कोहल के ग्रन्थ में भी प्राकृत का उल्लेख था।

भरत के ग्रन्थ के समान कोहल का भी नाट्यशास्त्र था। उसी में प्राकृत लक्षण का अध्याय था। देखिए अभिनवगुप्त लिखता है—

तेन दशरूपकस्य यद् भाषाकृतं वैचित्र्यं कोहलादिभिरुक्तं तदिह मुनिना सैन्धवाङ्गनिरूपणे स्वीकृतमेव। नाट्यशास्त्र, भाग ३, पृ० ७२।

---

१. **कीथ का मत है कि नाट्यशास्त्र 'कदाचित् तीसरी शती ईसा का ग्रन्थ है। (संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, सन् १९३०, पृ० ३१) ये सब कल्पित तिथियाँ हैं। इनका अभिप्राय है ईसाई-पक्ष को सिद्ध करना।**

३. भरत से उद्धृत बादरायण भी अपने ना० शा० में प्राकृत पाठ का विधान करता है। देखो, नाटकलक्षणरत्नकोश पृ० १३३।

४. **वाल्मीकि सूत्र**—इन पर त्रिविक्रम[1], सिंहराज, लक्ष्मीधर और अप्पय दीक्षित की व्याख्यायें उपलब्ध हैं। अति सम्भव है कि ये सूत्र रामायणकृत भगवान् वाल्मीकि के हों।

५, **शाकल्य**—मार्कण्डेय कवीन्द्र के अनुसार ही शाकल्य भी प्राकृत पर लिख चुका था।

शाकल्य नाम का एक ही आचार्य हुआ है। वह ऋग्वेद का पदपाठकार था। उसका काल भारत युद्ध से लगभग २०० वर्ष पूर्व था।

६. पाणिनि का कोई प्राकृत लक्षण ग्रन्थ था, पर यह अभी तक निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सका।

७. **वररुचिकृत प्राकृत लक्षण**—नाट्यशास्त्र के पश्चात् यह दूसरा उपलब्ध ग्रन्थ है, जो प्राकृताध्ययन में बड़ा सहायक है। इस पर भामह ने मनोरमा व्याख्या लिखी। भामह (विक्रम संवत् ६०० से पूर्व वा समीप) अपनी व्याख्या को संक्षिप्त वृत्ति कहता है। अतः उससे पूर्व कोई (बृहद्) वृत्ति अवश्य थी।[2] वररुचि का काल विक्रम की प्रथम शती है।

वररुचि के विरुद्ध योरोपीय लेखकों का बवण्डर

आचार्य वररुचि प्राकृत का पण्डित था। वह प्राकृत के बहुविध रूपान्तरों को पर्याप्त जानता था। उसके बताए मार्ग से पता लगता है कि प्राकृत के सब विकार निश्चित नियमों में बंधे हुए नहीं चलते। एक-एक वर्ण के अनेक विकार हो चुके हैं। इस निकष (कसौटी) पर संसार मात्र की भाषाएँ अति-भाषा संस्कृत का विकार सिद्ध होती हैं। इस सत्य को पाठकों की दृष्टि से ओझल करने के लिए योरोपीय विचारधारा के लेखकों ने वररुचि के महत्त्व को घटाने का यत्न किया। यथा मनोमोहन घोष लिखता है—

A typical instance of such limited knowledge has been displayed by वररुचि, whose sutras do not give us any informat-ion about the Pkt. of अश्वघोष's drama or of the खरोष्ट्री धम्मपद, or of the Jain canons, while पैशाची used in no available work, has been treated in them. (कर्पूर मञ्जरी, पृ० २९)।

---

१. ए० एन० उपाध्ये के अनुसार त्रिविक्रम १३वीं शती ईसा में था। A.B.O.R.I, XIII, पृ० १७१-७२।

२. भामह वृत्ति २।२ में इसका संकेत है।

अर्थात्—वररुचि का ज्ञान सीमित है।

क्या यह वररुचि का दोष है कि उसने अपने काल में व्यवहार में प्रयुक्त पैशाची का वर्णन कर दिया, जिसका वाङ्मय अब लुप्त है।

८. **प्राकृतदीपिका** – अभिनवगुप्त द्वारा स्मृत (भरत टीका पृ० ३७१)।

९. **चण्डकृत प्राकृत लक्षण**—इसमें महाराष्ट्री तथा जैन प्राकृतों का वर्णन है। मनोमोहन घोष कर्पूरमञ्जरी की भूमिका पृष्ठ २८ पर इसे लगभग ३०० ईसा सन् का ग्रन्थ मानता है।

१०. **हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण**—सुप्रसिद्ध है। यह व्याकरण सिद्धहेम शब्दानुशासन का आठवां अध्याय है।

११. **सिंहराज का प्राकृत रूपावतार**—इसका काल १४वीं शती ईसा बताया जाता है।

१२. **प्राकृत पिङ्गल**—इसका कर्ता अज्ञात है। इसमें अवहट भाषा के पद्यों द्वारा छन्दों के लक्षण लिखे गए हैं।

१३. मार्कण्डेय का प्राकृत सर्वस्व ग्रन्थ भी सम्प्रति मिलता है।[1]

प्राकृत वैयाकरणों पर योरोपीय सम्मति—कीथ ने इसका सार निम्न प्रकार से दिया है—

The value of the Prakrit grammarians has been strongly depreciated by Bloch and Gawronski, while it has been defended by Pischel among others. On the whole they do not make a very favourable impression,..............................On the other hand, recent investigations regarding Apabhranca have proved that they had often real grounds for forms which they give, (H. S. L. p. 436)

अर्थात्—ब्लौख और गारोस्की ने प्राकृत वैयाकरणों का महत्त्व बहुत अधिक घटाया है, दूसरी ओर पिशल ने उनका रक्षण किया है। सम्पूर्ण बात को समझ कर कहा जा सकता है कि वे मन पर अनुकूल प्रभाव नहीं डालते।.........

दूसरी ओर आधुनिक अपभ्रंशों पर गवेषणा ने सिद्ध किया है कि जो शब्द-रूप इन प्राकृत व्याकरणों में दिए गए हैं, उनके लिए प्रायः वास्तविक आधार थे। इति।

प्राकृत का वाङ्मय में प्रयोग—भरत और कोहल के ग्रन्थ त्रेता के आरम्भ में रचे जा चुके थे। उस समय से प्राकृत का प्रयोग वाङ्मय में होना आरम्भ हो गया था। नाटकों में निम्न श्रेणी के लोग इसी भाषा में बोलते प्रकट किये

---

१. **मार्कण्डेय प्राकृत पिंगल को उद्धृत करता है। यह मत I. H. Q. मार्च १९४९, पृ० ५६ पर लिखा है।**

जाते थे। भारत-युद्ध के काल में लोक-भाषा संस्कृत द्विजमात्र की व्यवहार की भाषा थी, और प्राकृत अधिकांश शूद्रवर्ग की।

प्राकृत शब्द का अर्थ—सब भाषाविद् विद्वानों ने प्राकृत का अर्थ प्रकृति से आगत अर्थात् मूल=आदि-भाषा से विकार को प्राप्त हुई भाषा कहा है। प्राकृत का स्वाभाविक अर्थ भी थोड़ा सा ठीक है। कारण, जो विना शिक्षण तथा अभ्यास श्रवणमात्र के पश्चात् स्वाभाविक बोली जाए, वह भी प्राकृत होती है। श्रवण के पश्चात् जब तक बालक को शिक्षा आदि के संस्कार से युक्त करके शुद्ध उच्चारण आदि का अभ्यास न कराया जाए, तब तक वह यथार्थ उच्चारण में सफल नहीं होता। वही उसकी अशुद्ध उच्चरित प्राकृत भाषा है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी की भ्रान्ति—ईसाई लेखकों के प्रभाव के कारण, विना स्वतन्त्र अध्ययन के द्विवेदी जी ने—'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' नामक पुस्तक में पृ० ३९ पर लिखा—

इस परिमार्जित भाषा का नाम हुआ "संस्कृत" अर्थात् "संस्कार की गई", "बनावटी" और इस नई भाषा का नाम हुआ "प्राकृत" अर्थात् "स्वभाव सिद्ध" या "स्वाभाविक"।

समीक्षा—द्विवेदी जी ने इस प्राकृत को कहा 'नई भाषा'। और उसे ही स्वाभाविक कहकर पहली होने का संकेत दिया। यह वदतो-व्याघात दोष है।

अनेक लेखक प्राकृत शब्द के वास्तविक अर्थ से घबराकर कई तर्कहीन कल्पनाओं में अपना समय वृथा नष्ट करते हैं।

और कारण—यदि प्राकृत से संस्कृत बनी होती तो एक ही प्राकृत रूप से विभिन्न अर्थ वाले कई संस्कृत शब्द न बने होते। इसका उदाहरण पूर्व पृष्ठ ९५, ९६ पर दिया जा चुका है।

प्राकृत से संस्कार द्वारा संस्कृत का विकास हुआ, ऐसा कहना भारतीय इतिहास से अनभिज्ञता प्रकट करना है। विद्वान् इस अर्थ पर उपहास करते हैं। इसी निराधार कल्पना के कारण महावीर प्रसाद ने भी लिखा—

वेदों के ज़माने में भी प्राकृत बोली जाती थी।[1] इति

'वेदों का ज़माना' यह भी एक निकृष्ट संज्ञा है। ऐसी एक अन्य कल्पना का फल Mid Indic संज्ञा है।

संस्कृत में प्राकृत शब्दों के ढूंढने की प्रवृत्ति—अनेक ईसाई-यहूदी और एतद्देशीय लेखक अपने अल्पज्ञान के कारण जब संस्कृत के प्राचीन शब्दों के

१ पृ० ४०।

विषय में पूरा विचार नहीं कर सकते, तब वे उन्हें प्राकृत का रूप मान लेते हैं। इसके उदाहरण पूर्व दिए हैं (पृष्ठ १७३, १७४)।

मैकडानल की कल्पना—इसी विषय में मैकडानल लिखता है—

अति न्यून अवस्थाओं में अ अक्षर ऋ का प्राकृत-प्रतिनिधि है, यथा **विकट** और **विकृत**। इति। (वैदिक ग्रामर, पृष्ठ ७, ३३, ३९)[1]

अर्थात्—विकट शब्द विकृत का विकार है।

समीक्षा—संस्कृत शब्दों की शुद्धता में शिष्टों का प्रमाण रहा है। अपने मत की पुष्टि के लिए मैकडानल ने उनमें से किसी एक का भी प्रमाण नहीं दिया। अतः मैकडानल का मत असिद्ध है।

ऐसी कल्पनाएँ 'वैदिक वेरिएण्टस्' नामक ग्रन्थ में बहुधा की गई हैं। देखो, भाग २, पृ० २०। तथा Progress of Indic Studies पृ० ६३ पर भी ऐसे लेखों का पता दिया गया है।

शिलालेखों और वाङ्मय में प्राकृत के रूप

इस अध्ययन में निम्नलिखित स्थानों से सहायता लेनी चाहिए।

१. भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध प्राकृत शब्द।
२. अशोक की धर्मलिपियों की प्राकृतें।
३. भास की प्राकृतें।
४. अश्वघोष की प्राकृतें।
५. कालिदास की प्राकृतें।
६. शूद्रक की प्राकृतें, मृच्छकटिक में।
७. जैन ग्रन्थ आयारंग सुत्तँ=आचारांग सूत्र आदि की प्राकृतें।
८, पादलिप्त की तरंगवई कथा की प्राकृत, इसके उद्धरणमात्र मिलते हैं।
९. हाल-सातवाहनकृत सप्त-शती में संकलित पुरानी प्राकृतों के छन्द।
१०. सेतुबन्ध=रावणवहो=दहमुहवहो की प्राकृत। आचार्य दण्डी के अनुसार यह महाराष्ट्री है।
११. वाक्पतिराजकृत गौडवहो।
१२. राजशेखरकृत कर्पूरमञ्जरी (१० शती वि०)।
१३. हेमचन्द्रकृत द्व्याश्रय महाकाव्यान्तर्गत, कुमारपालचरित।

इनके अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थ और शिलालेख आदि हैं, पर इतने प्रधान उदाहरणों से प्राकृत और उसके विभिन्न रूपों का यथेष्ट पता लग जाता है।

---

१. **तथा देखो कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृ० ८५, ८६।**

प्राकृत के सामान्य नियम

१. **तीन प्रकार के शब्द**—प्राकृत में तीन प्रकार के शब्द मिलते हैं।

(क) भरत नाट्यशास्त्र का वचन है—

समानशब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च ।।१७।३।।

अर्थात्—**समान, विभ्रष्ट और देशी** पद प्राकृत में हैं।

(ख) **तद्भवः तत्समो देशी त्रिविधः प्राकृतक्रमः** इत्युक्तम् (हरिपाल कृत गौडवहो टीका, पृ० ७१)।

यह टीका संवत् १२०० से पूर्व की है।

अर्थात्—प्राकृत में संस्कृत से विकृत, संस्कृत सदृश और देशी अर्थात् स्थानीय अपभ्रंश, ये तीन प्रकार के शब्द होते हैं।

देशी शब्द—प्राचीन अतिभाषा के देश=स्थान-विशेष में प्रयुक्त शुद्ध अथवा उनसे विकृत हुए ऐसे शब्द, जिनका उत्तरकाल में ह्रास को प्राप्त हुई संस्कृत से सम्बन्ध टूट गया, देशी शब्द कहाते हैं।

संस्कृत के शुद्ध शब्द भी देशी संज्ञा को प्राप्त हो चुके थे, इसके प्रमाण जैन आचार्य हेमचन्द्र की अभिधान चिन्तामणि की स्वोपज्ञ टीका में मिलते हैं। यथा—

१. **गोसो देश्याम्। संस्कृते ऽप्येके**। अर्थ, प्रातः काल, पृ० ५३।

२. तुंगी देश्याम्। संस्कृते ऽपि। पृ० ५५।

३. कन्तुर्देश्यां। संस्कृतेऽपि। पृ० ६८।

४. हड्डं देश्यां। संस्कृतेऽपि। पृ० २५४। यह पञ्जाबी में भी है।

२. भरत मुनि के नाट्यशास्त्र अध्याय १७ में निम्नलिखित गाथा है—

ए ओ आर पराणि अ अं आरपरं अ पाअए णत्थि।
व-स-आर मज्झिमाइ अ क-च वग्ग तवग्ग णिहणाइं ।।

अर्थात्—ए-ओकार से परे अर्थात् ऐ, औ; अंकार के परे अर्थात् विसर्ग प्राकृत में नहीं होते। तथा व-सकार के मध्य के श-ष वर्ण, तथा क च त वर्गों के निधनानि=अन्तिम वर्ण [ङ, ञ, न]।

इस गाथा की संस्कृत छाया निम्नलिखित है—

ए-ओकार-पराणि च अंकारपरं च पादसंख्यया नास्ति।
व-सकार मध्ये च क च वर्ग तवर्ग निधनानि ।।

इस छाया में **पाअए** का संस्कृत रूप **पादसंख्यया** लिखा है। यह चिन्त्य है। **पाअए** पद का बड़ोदा संस्करण का एक पाठान्तर **पाइए** है। यह प्राकृत पद का रूपान्तर है।

अभिनवगुप्त की नाट्यशास्त्र की टीका में पादसंख्या से चार अक्षर ऋ, ॠ,

ऌ, ॡ, का ग्रहण करके प्राकृत में लुप्त अक्षरों की संख्या बारह लिखी है।

३. साहित्यरत्नाकर में निम्नलिखित श्लोक उपलब्ध होता है—

ऐ-औ-कं-क-ऋ-ॠ-ऌ-ॡ-प्लुप्त-श-षाबिन्दुश्चतुर्थी क्वचित्।
प्रान्ते न-क्ष-ङ-ञा पृथग् द्विवचनं नाष्टादश प्राकृते।
रूपञ्चापि यदात्मनेपदकृतं यद्वा परस्मैपदम्।
भेदो नैव तयोर्न लिंगनियमस्तादृग्यथा संस्कृते॥

अर्थात्—ऐ, औ, कं, कः, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, प्लुत उच्चारण श, ष, अबिन्दु[1] तथा चतुर्थी विभक्ति कहीं-कहीं, तथा प्रान्त में न, क्ष, ङ, ञ और द्विवचन का सर्वथा पृथक् स्वरूप, ये अठारह प्राकृत में नहीं रहे।

आत्मनेपद ओर परस्मैपद के रूप का कोई भेद और लिंग नियम जैसा संस्कृत में है, वैसा प्राकृत में नहीं है।

४. प्राकृत पैंगल में उग्गाहा छन्द में निम्नलिखित गाथा है—

एओ, अं म ल पुरओ सआर, पुब्बेहि बे बि वण्णाई।
कच्चतबग्गे अंता दहबणा पाउए ण हूअंति॥

अर्थात्—ए, ओ, अं म, ल के अगले वर्ण (=ऐ, औ, ः, य, व), स से पहले दो वर्ण (श, ष) तथा क वर्ग च वर्ग और त वर्ग के अन्तिम वर्ण (ङ, ञ, न) प्राकृत में नहीं होते।

टिप्पण—इनमें से भरत का नियम प्राचीनतम शौरसेनी के विषय में है। साहित्यरत्नाकर का नियम अधिक विस्तृत है। प्राकृत पैंगल का नियम संकुचित है। परन्तु ये सब वर्णलोप तया व्याकरणगत नियम विभिन्न प्राकृतों में न्यूनाधिक पाए अवश्य जाते हैं। साहित्यरत्नाकर के लक्षण में 'कं क' और 'अबिन्दु' का अभिप्राय कुछ अस्पष्ट है।

५. श्रुति स्वारस्य-श्रुति वैरस्य—जब शिक्षा विहीनता के कारण संस्कृत पदों का प्राकृत में विकार हो रहा होता है, तो व्यञ्जनों के विषय में **लोपालोप** के समय श्रुति स्वारस्य और श्रुति वैरस्य नियामक होते हैं।[2]

५. ऊपर का अर्धरेफ—प्राकृत में ऊपर का रेफ प्रायः लुप्त हो जाता है। यथा—

---

१. अप्पय दीक्षित ने प्राकृतमणिदीप, बिन्दु प्रकरण १।१।४०-४७ में अन्त्य हल मकार तथा ङ्, ञ्, ण् और न् विषयक बिन्दु होने के नियम दिए हैं।

अङ्को = अंको। कण्ठो = कंठो।

२. प्राकृत मञ्जरी, पृ० १८, निर्णयसागर संस्करण।

कर्पूर	कपूर-काफ़ूर
खर्जूर	खजूर
धर्म	धम्म

संयुक्त अक्षर के साथ नीचे के र का लोप होता है—

प्रस्राव[1]	पेशाब—उर्दू, हिन्दी, पंजाबी
प्रावृष	पाउसो (वररुचि ४।११) पावस (हिन्दी)
भद्र	भद्द
महामात्र	महावत (हिन्दी)

कहीं-कहीं नीचे के संयुक्त रेफ का लोप नहीं हुआ। यथा—

चन्द्र	चन्द्र-चन्द, चन्दा
प्राहुणक	प्रौणा (पंजाबी) (अर्थ—अतिथि)

६. क, ख, घ, त, थ, ध, भ को प्रायः हत्व हो जाता है। यथा—

स्फटिक	फकिह[2] (प्राकृत मञ्जरी २।३)
मुख	मुह
मेघ	मेह
वसति	वसहि (प्राकृत मञ्जरी २।८)
रथ	रह
यथा	जहा=जह
दधि	दहि
शोभा	सोहा
भवति	होति
महाणुभाव	महाणुहाव (महावीरचरित)

७. श-ष का विकार स में होता है—

सशंक	ससंक
विषमेषु	विसमेसु

८. ट तथा त को प्रायः डत्व हो जाता है—

विट	विड
पति	पडि
कौतूहलेन	कोड्डेण (कर्पूरमञ्जरी)

९. धकार को ढत्व होता है—

वृद्धः	बुड्ढा
वृद्धि	वढि

---

१. **प्रस्राव-कुटी**=urinal, **चीवरवस्तु**।

२. **यही परिवर्तन निम्न-लिखित नियम में 'क'—को अंग्रेजी में ह करता है।**

१०. नकार को णकार होता है—

नयनं	णयणं
निद्रा	णिद्धा

११. पकार फत्व अथवा वत्व को प्राप्त होता है—

अपि	अवि
परूषक	फालसा

१२. ट तथा ठ ढत्व को प्राप्त होते हैं—

षट्	सढ
पठ	पढ

१३. संयुक्त वर्ण भ्य, ह्य तथा ध्य को ज्झ हो जाता है—

तुभ्यं	तुज्झं
मह्यं	मुज्झं
गुह्य	गुज्झ (पंजाबी)
मध्यम	मज्झं

१४. कुछ शब्दों में संयुक्त अक्षरों के विकार निम्नलिखित हैं—

ग्रीष्मो	गिह्मो (भरत, अ० शाकुन्तल, १)
दृष्टो	दिट्ठो
यक्षो	जक्खो
ब्रह्मा	बह्मा
आत्मा	अत्ता (अ० शाकुन्तल,१, भासकृत चारुदत्त)
	अप्पा[1] (अ० शाकुन्तल, ६)

१५. स्वर के बल से व्यञ्जन का लोप भी प्राय: देखा जाता है—

जानाति	जानाई	
तरंगवती	तरंगवई	
नकुल	नउल	(पंजाबी-न्योला)
वियोग	विओग	
प्रिय	पिअ	पिया
नदी	णई	
यदि	जइ (अ० शाकु०), जे (पंजाबी)	

१६. कुछ शब्दों में च को य होता है—

अचिर	अयिर
अचल	अयल

---

१. मार्कण्डेय १।४।८६॥

१७. चतुर्थी विभक्ति का लोप शौरसेनी में बहुत हुआ है। वररुचि का ६।१०७ सूत्र है- **चतुर्थ्याः षष्ठी**। प्राकृत मञ्जरी में इसकी व्याख्या में लिखा है—**चतुर्थ्याः सर्वशब्देषु षष्ठ्यादेशः प्रयुज्यते**। वेद में भी चतुर्थी के वर्तमान अर्थ में षष्ठी देखी जाती है। इस पर पाणिनि का सूत्र है—

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि

अर्थात्—वेद में चतुर्थी के स्थान पर प्रायः षष्ठी का प्रयोग होता है।

निरुक्त में प्रयोग है—**दण्डमस्याकर्षत**। इस लौकिक वाक्य में भी चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी है। अर्थात्—दण्ड उसके लिए। संस्कृत में ऐसी प्रवृत्ति शनैः शनैः लुप्त हो गई। प्राकृत के कुछ रूपों में चतुर्थी का कार्य षष्ठी से चल जाने के कारण चतुर्थी का सर्वथा लोप हो गया।

१८. प्राकृत में अर्ध ए, ओ की ध्वनि कहीं-कहीं पद के अन्त में रहती है।[1]

१९. पदादि के यकार को जकार हो जाता है। यथा—

यज्ञो	जण्णो	जग (पंजाबी)
यदि		जे ”
यम	जम	
यात्रा	जत्रा	

प्राकृतों के भेद

पूर्वोक्त वर्ण-लोपों और विकारों के कारण आदि भाषा का भारत में पहला विकार शौरसेनी प्राकृत में हुआ। तत्पश्चात् शौरसेनी प्राकृत के तीन भेद हो गए। यथा—
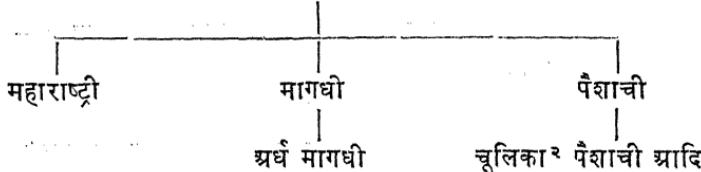
उत्तरोत्तर इनके भी कई भेद हो गए।

भरत नाट्य शास्त्र १७।४८ के अनुसार सात भाषाओं में—मागधी और अर्धमागधी भी हैं।

कुमारिल—भट्ट कुमारिल (पञ्चम शती विक्रम से पूर्व) तन्त्रवार्तिक में लिखता है—

---

१. देखो, लीलावई, कारिका १०६१ पर टिप्पण।

२. चूलिका नाम की पैशाची नाटकों में भी कभी-कभी होती है। देखो, नाटक-लक्षणरत्नकोश, पृ० १८, १९।

मागध-दाक्षिणात्य-तदपभ्रंशप्रायासाधुशब्द-निबन्धना (पृ० २३७) ।

यहाँ मागध से मागधी का और दाक्षिणात्य से महाराष्ट्री अथवा जैन प्राकृतों का अभिप्राय प्रतीत होता है।

१. **शौरसेनी**—इन सब में शूरसेन देश की प्राकृत प्राचीन है। भरत ना० शा० १७।४६ से यही प्रतीत होता है। यथा—

सर्वास्वेव हि शुद्धासु जातिषु द्विजसत्तमाः ।
शौरसेनीं समाश्रित्य भाषां काव्येषु योजयेत् ।।

वररुचि का प्राकृत प्रकाश प्रधानतया शौरसेनी के विषय में ही लिखा गया है। महा-विद्वान् वररुचि संस्कृत को शौरसेनी की प्रकृति मानता है।

शूरसेन देश मध्य देश अथवा आर्यावर्त का भाग है। और आर्यावर्त की भाषा अथवा व्यवहार की संस्कृत शिष्ट अर्थात् आदर्श भाषा थी। उस आदर्श संस्कृत का पहला विकार शौरसेनी था।

२. **मागधी**—मागधी के अन्दर उच्चारण अर्थात् वर्ण-विकार के ऐसे भेद पाए जाते हैं जिनका समाधान करना कुछ सरल बात नहीं।

स के स्थान में श—स के स्थान में श हो जाता है। यथा—शामवेद, शीता। भविश्शदि, पुत्तश्श।[1]

र के स्थान में ल—राजानः=लाआणो। पुरुषः=पुलिशे (शौ०), गरुड=गलुड। चारुदत्त=चालुदत्त। नगरान्तर=णगलान्त।[1]

य रहता है—ज के स्थान में भी य प्रयुक्त होता है। जानाति=याणादि। जायते=यायदे। जनपद=यणवद।

विलासः	विलाशे
निर्झरः	णिज्झले
हृदये	हडक्के
हसितः	हशिदु

३. **अर्धमागधी**—भारत युद्ध से अति पूर्वकालिका शालिहोत्र संहिता में अर्धमागधी का निम्नलिखित क्षेत्र लिखा है—

दक्षिणे हिमवत्पार्श्वे मागधात्पूर्वपश्चिमे ।
जायन्ते तत्र ये वाहा विज्ञेयास्तेऽर्धमागधाः ।।[2]

तीर्थङ्कर भाषा—अन्तिम जैन तीर्थङ्कर श्री महावीर स्वामी इसी भाषा में उपदेश देते थे। इस भाषा में च के स्थान में त देखा जाता है—

चिकित्सा	तेइच्छा

१. नमिसाधु श्लोक १२ की व्याख्या में लिखता है—रसयोर्लशौ मागधिकायाम्।

२. वीरमित्रोदय, लक्षण प्रकाश, पृ० ४३२ पर उद्धृत।

अन्य उदाहरण—

यथा	अहा
इतिवा	इवा
प्रत्युत्पन्न	पडुप्पन्न
अस्मि	अंसि (शौर० — म्हि)

४. **पैशाची**—पिशाच जाति के लोग इस भाषा को बोलते थे। महाभारत शान्तिपर्व (१८६।१८, १९) में लिखा है—

पिशाचा राक्षसाः प्रेता विविधा म्लेच्छजातयः।
प्रनष्टज्ञानविज्ञानाः स्वच्छन्दाचारचेष्टिताः॥

इस से स्पष्ट है कि पिशाच म्लेच्छ हो चुके थे। वे भारत-युद्ध में भाग ले रहे थे (भीष्मपर्व ४६।४९॥५४।५॥८३।८॥)।

पाणिनीय गण ५।३।११७ के अनुसार वे आयुधजीवी थे।

सांख्यदर्शन ३।४६ पर विज्ञानभिक्षु के भाष्य के अनुसार वे देवसन्तानों में थे।

निवास—ये लोग भारत के पश्चिमोत्तर में रहते थे।

भाषा—पिशाचों की भाषा पैशाची थी। कभी इस भाषा का बड़ा प्रचार था। महाकवि गुणाढ्य (दूसरी शती, विक्रम के आस पास) ने बृहत्कथा की रचना इसी भाषा में की थी।

बृहत्कथा के उद्धरण—१. बृहत्कथा का प्रथम श्लोक नाट्यशास्त्र, भाग ३, पृ० ७० पर उद्धृत है।

२. भोज के शृङ्गारप्रकाश में प्राकृत का एक उद्धरण है जिसे श्री वी० राघवन ने अनुमानित किया है कि यह गुणाढ्य की पैशाची बृहत्कथा का है। यह अनुमान कुछ ठीक प्रतीत होता है, अतः उसकी कुछ पंक्तियाँ संस्कृत छाया सहित नीचे उद्धृत की जाती हैं। यथा—

भो गंगारोल (गेण्टाकराल) पयच्छसु णो (नो) प (व) त्थानि
(भो गेण्टाकराल प्रयच्छ नो वस्त्राणि)
जानि मज्जान्दि (न्दी) णं त (तु) रा व (अ) पहितानि
(यानि मज्जन्तीनां त्वया अपहृतानि)
अम्हेहि सग्गे गन्तव्यं। कथ (थं)
(अस्माभिः स्वर्गे गन्तव्यं। कथं)
सिनान साग(ट) केसु परिहितेसु तत्थ व (ग) छामो ?
(स्नानशाटकेषु परिहृतेषु तत्र गच्छामः ?)

(भारत कौमुदी, भाग २, पृष्ठ ५८१।)

पैशाची के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

डिण्डीर	टिण्डीर[1]
तरुणी	तलुनी[2]
दामोदर	तामोतर[3]
नगर	नकर
माधवः	माथवो[4] (ग्रीक में—मेथु=मधु)
मेघः	मेखो
राजा	राचा[5]
वदनं	वतनं
व्याघ्रः	बग्घो (पंजाबी में—बग्गा)

प्राचीन प्राकृत में न का लोप हो चुका था। पैशाची में न का प्रयोग स्थिर रहा, अथवा पुनरुद्धार का फल है, यह विचारणीय है।

कातन्त्रान्तर्गत उणादि पाठ २।२३ की दुर्ग वृत्ति में—जूः जवनम्। पिशाच वाण्याम् पाठ है।

लकार को ळकार—प्राकृत मणिदीप, पृ० २८ पर लेख है—

पैशाच्यामेव लकारस्य ळकारविधानात्।

५. महाराष्ट्री—जैन महाराष्ट्री ही इसका अच्छा उदाहरण है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जैनागम इसी प्रकार की प्राकृत में हैं।

रामदासकृत सेतुबन्ध टीका में—**महाराष्ट्रभाषायां बहुवचने ऽप्येकवचन-प्रयोगात्**। पृ० १७४।

---

१. अमरकोश २।६।१ पर सर्वानन्द टीका में—बृहत्कथायाम्-पैशाचिके हि।

२. व्याकरण महाभाष्य ४।१।१५ के अनुसार तलुनी रूप संस्कृत का है। इस प्रकार पैशाची में यह पद संस्कृत का पूरा तत्सम होगा। कल्पद्रुकोश, पृ० २२ पर भी तरुणी और तलुनी दोनों रूप संस्कृत के माने गए हैं। रकार के स्थान में लकार का रूप शौरसेनी में थोड़ा था। वररुचि लिखता है—द्रादीनां रो लः।२।३०।। पैशाची में यह सर्वथा हो गया।

३. नमिसाधु, पृ० १४ के अनुसार दस्य तकारः। प्राकृत से पैशाची भाषा-गत वैशिष्ट्य रुद्रटकृत काव्यालंकार पर नमिसाधु की टीका, पृ० १४ पर हैं।

४. माथवो रूप शतपथ ब्राह्मण में भी है।

५. वैदिक ग्रन्थों में च, ज के समान पाठ हैं। अशोक के शिलालेखों में—कम्बोज=कंपोच।

तथाच—युद्ध = जुज्झ । सेतुबन्धु, पृ० ५०२ ।

वूलनर का मत है—

महाराष्ट्री तथा जैन महाराष्ट्री में ऐसे विशेष चिह्न पाए जाते हैं जिनके अवशेष अब तक मराठी में विद्यमान हैं। (पृ० ८६)

कर्पूरमञ्जरी में शौरसेनी और महाराष्ट्री दोनों हैं ।

अश्वघोष की प्राकृतें

अश्वघोष साकेत में लब्धजन्मा ब्राह्मण था । कालान्तर में वह बौद्ध भिक्षु हो गया । संस्कृत भाषा का वह असाधारण पण्डित था। उसने काव्यों के अतिरिक्त नाटक भी रचे थे । उन नाटकों में से दो के त्रुटितांश पत्रे चीनी तुर्किस्तान से उपलब्ध हुए थे । जर्मन अध्यापक लूडर्स ने महान् परिश्रम से उनको यथास्थान जोड़ कर उन पर लेख लिखा था। उस जर्मन लेख का आँगल भाषा अनुवाद श्रीमती तुहिनिका चैटर्जी ने किया था ।

लूडर्स का मत (p. 40) है कि इन नाटकों में—

We can distinguish clearly at least three dialects.

अर्थात्—इनमें प्राकृत की तीन बोलियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं ।

उनके आधार पर अगले उदाहरण दिए जाते हैं ।

ऋ—को उ, वृत्ते = वुत्ते[1]

ऋ—को ए, दृष्ट = देक्ख

औ—को ओ, कौमुदगन्ध = कोमुदगन्ध ।

संयुक्त व्यञ्जनों के पहले दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है—ब्राह्मण = बम्मण ।

ण के स्थान में न, पर बम्मण में नहीं ।

र को ल[2] = करोमि = कलेमि

कारणा = कालना

स को श = दासीपुत्र = दाशीपुत्त

सह = शह

---

१. यह प्रवृत्ति प्राकृत में प्रायः देखी जाती है। तथा भामह-वृत्ति में—प्रवृत्ति= पउत्ति । अभि० शाकुन्तल, अङ्क १ में संवृत्तः = संवुतो । तथा भासकृत चारुदत्त, १।१६ के पश्चात् पाठ में। खरोष्ठी शिलालेखों में वृद्ध = वुढ । गुरु नानक जी की वाणी में वृष्टे = वुट्ठे मिलता है। इसी के अनुसार वृत्तान्तस्य से वुत्तन्तस्स (अ० शाकु०, अं० ३) रूपान्तर हुआ है। महाराष्ट्र लोग आज भी ऋ को रु बोलते हैं।

२. महावीरचरित में—कुमार = कुमाल ।

क्य क्क	शक्यन् = शक्कन्
द्य = ज्ज	अद्य = अज्ज
स्य = श्श	कस्य = किश्श
ब्र = ब	ब्राह्मण = बम्मण[1]
र्क = क्क	मर्क = मक्कहो

कीथ का मत है (संस्कृत ड्रामा, पृ० ८६) कि अश्वघोष के नाटक का गोबं० पात्र पुरानी मागधी बोलता है। तदनुसार र के स्थान में ल हुआ। प्राचीन अतिभाषा में र और ल दोनों रूपों के रहने से यह मत ठीक नहीं।

प्राकृत और संस्कृत काव्य की समकालिता—लूडर्स का मत है, और उसमें सत्यता है कि किसी काल में संस्कृत और प्राकृत साथ-साथ काव्य भाषाएँ थीं। वह लिखता है—

The Kavya-poetry in Sanskrit was side by side to that in old-prakrit. (p. 70)

But it holds fast that the old prakrit was used from the second century before Christ to the second century after Christ. (p. 71.)

अर्थात्—संस्कृत और प्राकृत काव्य साथ-साथ थे।

पुरानी प्राकृत ईसा पूर्व २०० वर्ष से ईसा के २०० वर्ष तक थी।

लूडर्स का उत्तर मत युक्त नहीं। पुरानी प्राकृत इस काल से सहस्रों वर्ष पूर्व से चल रही थी।

पाश्चात्यों पर प्रश्न—यदि संस्कृत और प्राकृत एक साथ प्रचलित रहीं, और यदि अवेस्ता और पुरानी फारसी भी एक साथ प्रयुक्त हुईं, तो ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवचन-कर्ता तित्तिरि और वैशम्पायन ने लोकभाषा के श्लोक कहे, इसमें क्या आपत्ति है। वैशम्पायन अर्थात् चरक के श्लोक उसके गुरु की रची महाभारत-संहिता में पाए जाते हैं। अतः महाभारत के वर्तमान रूप को ईसा की प्रथम शती का कहना मिथ्या प्रलाप है।

शिलालेखों तथा शासनों की प्राकृत की विशेषताएँ

१. स्वरों में ऋ, ऐ, और औ का लोप सर्वत्र दिखाई देता है।

२. अ, इ, और उ कई बार दीर्घ हो गए हैं।

३. व्यञ्जनों में प को व, तथा य को ज हो जाता है।

४. श कहीं-कहीं सुरक्षित रहा है।

---

१. **बम्हणो—भासकृत अविमारक, २ अङ्क। वररुचि ३।८॥**
श्रमणक—समणओ, अविमारक, पृ० ११९।

५. त्य, त्स, द्य, ध्य को प्रायः च, छ, ज और झ होता है।

६. न को बहुधा ण हुआ है।

७. ऊपर के अर्ध रेफ का सर्वत्र लोप नहीं है।

इनमें से अनेक विकार भरत-मार्ग के अनुकूल हैं, और कुछ विकार प्रान्तीयता अथवा देशीपन के कारण हैं।

पाली की विशेषताएँ

शौरसेनी के साथ-साथ पाली रूपी प्राकृत का भी भारत में आधिपत्य रहा है। यह भाषा बौद्धों के हीन-यान सम्प्रदाय के सिद्धान्त ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त हुई थी। तत्पश्चात् त्रिपिटक की भाषा भी पाली हुई है। धम्मपद ग्रन्थ का एक पाठ पाली में ही माना जाता है।

शब्द का अर्थ—पाली शब्द का मूलार्थ सीमा वा रेखा है। हेमचन्द्र कृता अभिधान चिन्तामणि, पृ० २१७ पर प्राचीन कालिक शेष कोश की पंक्ति उद्धृत है। तदनुसार **पालिः श्मश्रु-योषिति।** अर्थात्—श्मश्रु वाली अपरूपा स्त्री पालि कहाती है।

पाली की विशेषताएँ—इनका वर्णन आगे किया जाता है।

पाली	वैदिक	उत्तर कालिक संस्कृत
देवेभि	देवेभिः	देवैः
पतिना	पतिना	पत्या
दातवै-दातवे	दातवे	दातुम्

१. इसमें प्राचीन व्याकरण के अवशेष अधिक हैं।

२. आत्मनेपद के रूप अधिक हैं।

३. लुङ् (सामान्य भूत)। यथा—अजनि, अजनिषाताम्, अजनिषत के रूप बहुत अधिक हैं।

४. उच्चारण में दन्त्य स ही रहा है। य भी है। र कभी-कभी ल हो जाता है।

५. अगले परिवर्तन ध्यान देने योग्य हैं—

भवति	होति
पृच्छति	पुच्छति
मृतः	मतो
कृतः	कतो

६. किसी-किसी शब्द में द्र, ब्र में र बना रहता है। भरत ने ह्रद, चन्द्र आदि के अतिरिक्त प्राकृत में इसका लोप कहा है।

डा० सुनीतिकुमार का मत—मध्य देश की बोलियों को आधार बनाकर पालि भाषा का निर्माण हुआ। (पृ० १८८)

इस मत में दोष—जब संस्कृत सारे मध्य देश की भाषा थी, तो उसका विकार पाली है।

कुमारिल का मत—बौद्धमत विध्वंसक भट्ट कुमारिल सम्भवतः पाली के विषय में तन्त्रवार्तिक में लिखता है—

शाक्यागम असाधुशब्दभूयिष्ठ है—

मागध-दाक्षिणात्यतदपभ्रंशप्रायासाधुशब्दनिबन्धना हि ते—'मम विहि भिक्खवे कम्मवच्च इसी सवे'। तथा 'उकखित्ते लोडम्मि उव्वे अत्थिकारणम्। पडणे णत्थि कारणम्। अणु भवे कारणं इमे संकडाधम्मा संभवन्ति। सकारणा अकारणा विणसन्ति। अणुप्पत्तिकारणम्'इत्येवमादयः (पृ० २३७, पूना)...... किमुत यानि प्रसिद्धापभ्रष्ट-भाषाभ्यो ऽप्यपभ्रष्टतराणि 'भिक्खवे' इत्येवमादीनि द्वितीया बहुवचनस्थाने ह्येकारान्तं प्राकृतं पदं दृष्टं न प्रथमाबहुवचने संबोधनेऽपि। 'संस्कृत'शब्दस्थाने ककारद्वयसंयोगोऽनुस्वारलोपः, ऋवर्णाकारापत्तिमात्रमेव प्राकृतापभ्रंशेषु दृष्टं, न डकारापत्तिरपि। सोऽयं 'संस्कृता धर्मा' इत्यस्य सर्वकालं स्वयमेव प्रतिषिद्धोऽपि विनाशः कृतः इत्यसाधुशब्दनिबन्धनत्वात्......। (पृष्ठ २३९, पूना।)

पूर्वोद्धृत वचनों में कुमारिल का यह अभिप्राय है कि बुद्ध के उपदेशों की भाषा अर्थात् पाली में प्राकृत और अपभ्रंशों के अतिरिक्त जो कई पदरूप पाए जाते हैं, वे भ्रष्टतर हैं। यथा 'भिक्खवे' शब्द न प्राकृत प्रथमा और न सम्बोधन के अनुरूप है।

अठारहवाँ व्याख्यान

दाक्षिणात्य वर्गीय भाषाएँ

द्रमिड, आन्ध्र आदि भाषाएँ

पुरातन इतिहास—पाण्ड्य, केरल, चोल नामक राजपुरुष उत्तर देशस्थ तुर्वसु के सन्तान में थे।[1] उत्तर से चलते-चलते ये लोग दक्षिण में जा बसे। उन्हीं के नामों पर दक्षिण में ये जनपद हुए।

द्रमिड, आन्ध्र—पूर्वोक्त तीन जनपदों के साथ अति प्राचीन काल से द्रविड और आन्ध्र भी थे। १. मानव धर्म-शास्त्र में द्रविड स्मृत हैं—

पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः।

२. इस प्रकार भरत नाट्यशास्त्र में द्रमिड और आन्ध्र दोनों स्मृत हैं—

द्रमिडान्ध्रमहाराष्ट्राः।

३. आयुर्वेदीय काश्यप संहिता पृ० १३७ पर चोर=चोल जनपद के साथ द्रविड जनपद का नामोल्लेख भी है।

४. भारत संहिता, भीष्मपर्व १०।५७ में भी द्रविडों का उल्लेख है—

द्रविडाः केरलाः प्राच्याः।

अतः पाण्ड्य, केरल, चोल, द्रविड और आन्ध्र नामक पांचों जातियाँ प्राचीन काल से भारत में रहती थीं।

उत्तर-चोल—महाभारत, सभापर्व २४।२० के अनुसार अर्जुन ने उत्तर-विजय के समय **उत्तर-चोलों** को जीता।

उत्तर केरल—रामायण के लाहौर संस्करण के अयोध्या काण्ड ६२।७ में **उदीच्य**=उत्तर, प्रतीच्य और दाक्षिणात्य केरल स्मृत हैं।

उत्तर-चोल और उत्तर-केरल के उल्लेखों से स्पष्ट है कि आर्य ऐतिहासिकों को इन दोनों जातियों के उत्तर और दक्षिण में होने का पूर्ण ज्ञान था।

क्षत्रिय-वंश—यह निश्चित है कि पाण्ड्य आदि पांचों जातियाँ क्षत्रिय-वंशों में थीं। पहली तीन तुर्वसु-कुल में होने से क्षत्रिय थीं। द्रविड भी मनु के अनुसार क्षत्रिय थे और आन्ध्र लोग मुनि विश्वामित्र के सन्तानों में थे। भारतीय इतिहास का यह पक्ष किसी प्रकार भी असत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

---

१. **देखो वायु पुराण ६६।४-६॥ मत्स्य ४८।३-५॥**

काल—इनमें से चोल लोग इक्ष्वाकु-कुल के महाराज सगर के काल तक क्षत्रिय थे ।[1]

भाषा भेद—दाक्षिणात्य भाषाओं के वर्तमान काल में चार प्रधान भेद माने जाते हैं।

१. **द्रमिड**=द्रविड । इस पद का स्पष्ट विकार **तमिल** अथवा **तामिल** पद है । जैन ग्रन्थ निशीथ-चूर्णि में द्रमिडा रूप का द्रामिला विकार मिलता है ।[2] Periplus के लेखन-समय में यवन लेखक इसे Damirica लिखते थे । यहाँ द्र के संयुक्त रेफ का लोप होकर **दमिरिक** रूप रह गया है ।

२. **आन्ध्र**—ये तेलुगु लोग हैं ।

३. **कर्णाट**—इन्हें ही कन्नड भी कहते हैं । संभव है, आन्ध्र प्रदेश के किसी भागविशेष को ही तैलंग कहते हों । व्याघ्रपाद स्मृति, श्लोक ३२ का पाठ है—**तैलंगा द्राविडास्तथा** । शालिहोत्र कृत अश्वशास्त्र में भी तैलंग पद उपलब्ध होता है ।

४. **केरल**—इन्हें मलियाली कहते हैं । प्रसिद्ध मलय पर्वत के क्षेत्र में होने से यह नाम पड़ा है ।

विभाषाएँ—भरत मुनि आर्यों की बधाई का पात्र है । उसने एक महान् ऐतिहासिक तथ्य सुरक्षित रखा है । वह द्रविड भाषा को विभाषा[3] पद से परिगणित करता है ।[3] अर्थात् यह भाषा आर्य भाषा का विकारमात्र है ।

द्रविड – Dravidian **वर्ग का अभाव**—दाक्षिणात्य वर्ग को अनेक वर्तमान लेखक द्रविड वर्ग का नाम देते हैं, यह उचित नहीं । इसका यथार्थ नाम है, दाक्षिणात्य वर्ग । द्रविड=तमिल भाषा उस का अंगमात्र है ।

इन भाषाओं की प्रकृति—द्रविड, आन्ध्र आदि भाषाएँ संस्कृत का विकार हैं । इस विषय में गत सहस्रों वर्ष में किसी विद्वान् को सन्देह नहीं हुआ । यह बात है भी प्रमाण-सिद्ध । इन चारों ही भाषाओं में संस्कृत-पदों की न्यूनाधिक भरमार है । प्रखरप्रज्ञ श्री अरविन्द का भी यही मत है ।

अंग्रेजी नीति और रास्क—ईसा की १९वीं शताब्दी के आरम्भ में ईरैस्मक रास्क ब्रिटिश ईसाई-सरकार द्वारा यहाँ बुलाया गया । उसने सिद्ध करने का यत्न किया कि द्राविड आदि भाषाएँ आर्यवर्ग से सर्वथा पृथक् वर्ग की हैं । इसी विचार के अनुसार ईसाई पादरी काल्डवेल्ल ने अपना व्याकरण

---

१. **वायु पुराण ८८।१४२॥**

२. **नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १०, पृष्ठ ६६५ ।**

३. १७।४९,५०॥

माल	सत्य
वैर्	उदर

द्राविड का चोर् शब्द उसी मूल संस्कृत शब्द का अपभ्रंश है, जिससे हिन्दी चावल और पंजाबी चौल शब्द विकृत हुए हैं।

शंकरमिश्र—वैशेषिक उपस्कार का कर्ता शंकरमिश्र सूत्र २।१।१७ पर लिखता है—

म्लेच्छा हि—

यव-वराह—वेतस शब्दान्

कंगु-वायस—जम्बुषु प्रयुञ्जते।

इन विद्वानों को एतद्विषयक आर्य-परम्परा का प्रशस्त ज्ञान था। चरक संहिता, २७।८ में चावल अर्थ में **शारिव** शब्द पढ़ा गया हैं। उसका चोर शब्द से निकटस्थ सम्बन्ध प्रतीत होता है।

तामिल वाङ्मय—गत दो सहस्र वर्ष अथवा इससे भी अधिक पूर्व से प्राकृत के समान तामिल भाषा भी साहित्यिक भाषा बन गई थी। इसका सबसे पुराना ग्रन्थ **तोलकाप्पियम** है। इसका व्याकरण भाग स्पष्ट दर्शाता हैं कि उनका व्याकरण भी ऐन्द्र व्याकरण पर आश्रित था।

टवर्ग श्रेणी—द्राविड भाषाओं में वर्णों की टवर्ग श्रेणी आज भी विद्यमान है। वह आकाश से नहीं उतरी थी, सीधी संस्कृत वर्णमाला से इनमें गई थी। वेद तो द्राविडों के मूल पुरुष तुर्वसु से भी पूर्व विद्यमान था। अतः टवर्ग विषयक मैकडानल द्वारा संकेतित मत निराधार है। उसने वैदिक ग्रामर में लिखा था—

According to most scholars, they (the cerebrals) are due to aboriginal, especially Dravidian, influence. (p. 33)

तामिल का मूल व्याकरण अगस्त्य ऋषि की देन है। जो सत्यवक्ता अगस्त्य वेद को अनादि मानता है, वह टवर्ग वर्णों को तामिल में संस्कृत से आया ही समझता था। जिस जाति का मूल नाम तामिल भी द्रामिड=द्रामिल का विकारमात्र है, उसकी भाषा की ध्वनियों का आगम संस्कृत से ही है।

डॉ० सि० नारायण राव ने—History of the Telugu Language लिखी। यह आन्ध्र विश्वविद्यालय का प्रकाशन है। डॉ० जी का मत है कि

आन्ध्र=तैलुगु भाषा का मूल संस्कृत भाषा है। उन्होंने लिखा है कि द्राविड भाषा का पैशाची से सम्बन्ध है।[1]

त्रिलिंग पद से तेलिंग,[2] यावनी रूप त्रिग्लिप्तोन और अन्त में तैलुगु रूप बना, यह अनुमान युक्त नहीं। शालिहोत्र संहिता में प्रयुक्त होने के कारण तैलंग ही साधु पद है।

इससे सिद्ध है कि आर्य लोग भारत में योरोप आदि से नहीं आए।

---

1. Journal of the Andhra His. Research Society, vol. XVI, parts 1-4. Article, Dravidic and Dravidian.
२. तैलंग रूप शालिहोत्रकृत अश्वशास्त्र में द्रष्टव्य है। देखो, वीरमित्रोदय, लक्षणप्रकाश, पृ० ४३१।

उन्नीसवाँ व्याख्यान

अपभ्रंश

अपभ्रंश शब्द का सामान्य अर्थ, विकार को प्राप्त, हम पूर्व पृष्ठ ७२, ७३ पर लिख चुके हैं।

अपभ्रंश का विशेष अर्थ—उत्तर काल में अपभ्रंश शब्द भाषा-विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा। भाषा-विशेष के लिए अपभ्रंश शब्द का सबसे पुराना प्रयोग चण्ड के प्राकृत लक्षण (३।३७) में मिलता है। चण्ड का अनुमानित काल तीसरी चौथी शती विक्रम है।

बहुत संभव है कि चान्द्र व्याकरण का रचयिता चन्द्र ही चण्ड (प्राकृत रूप) है।

अजयपाल—यह लेखक अपने नानार्थसंग्रह, अ वर्ग में लिखता है—

अपभ्रंशोऽपशब्दे च भाषाभेदापवादयोः।

नमिसाधु—उसके अनुसार **प्राकृतमेवापभ्रंशः**, है। (पृ० १५)

अपभ्रंश में तत्सम शब्द लगभग लुप्त हुए प्रतीत होते हैं। प्राकृतों के तद्भव पदों के उत्तर-विकारों के वचनों ने अपभ्रंश भाषा का रूप धारण कर लिया।

अपभ्रंश के पाश्चात्यों के लक्षण—इनके विषय में अध्यापक एस० एन० घोषाल ने लिखा है—

Various definitions of Ap. have been suggested by the scholars at different times and places, some of which directly contradict one another. (I. H. Q. Sept. 1954, p. 245)

अर्थात्—अपभ्रंश के अनेक लक्षण प्रस्तावित हुए हैं। उनमें से कई, एक दूसरे का स्पष्ट खण्डन करते हैं।

१. **अपभ्रंश काव्य का उल्लेख**—भामह (१।१६) ने तीन प्रकार अर्थात् संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों का उल्लेख किया है।

स्कन्द स्वामी (वि० सं० ६५०) भामह को उद्धृत करता है। अतः भामह संवत् ६०० से पूर्व का ग्रन्थकार है।[1]

२. इसी काल का कुमारिल तन्त्रवार्तिक १।३।१२ में लिखता है—

---

१. **कीथ के अनुसार ईसा सन् ७०० के समीप। (संस्कृत सा० इ०, पृ० ४३३) यह सर्वथा भ्रान्त मत है।**

ऋवर्णाकारापत्तिमात्रमेव प्राकृतापभ्रंशेषु दृष्टम् ।

कुमारिल भी स्कन्दस्वामी द्वारा उद्धृत है ।

३. बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति भी अपभ्रंश भाषा का उल्लेख करता है—

प्राकृतापभ्रंशद्रमिडान्ध्रभाषावत्...। वादन्याय पृष्ठ १०७ ।

अर्थात्—प्राकृत, अपभ्रंश, तमिल और तेलुगु आदि भाषाओं के समान ।

४. वलभी के राजा द्वितीय धरसेन ने अपने ताम्रपत्र में लिखा है कि उसका पिता गुहसेन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषात्रय की काव्य-रचना में निपुण था—

संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनानिपुणः ।

फ्लीट के अनुयायियों ने वलभी-ताम्रपत्रों की तिथि-गणना में भूल की है । वे धरसेन द्वितीय को छटी शताब्दी ईसा में रखते हैं । वस्तुतः इसका काल इससे पर्याप्त पहला है ।

इसी प्रकार बाण और दण्डी आदि उत्तर कालीन लेखकों ने भी अपभ्रंश भाषा का उल्लेख किया है ।

५. कालीदास—कालीदासकृत विक्रमोर्वशीय नाटक में अपभ्रंश के कुछ दोहे मिलते हैं । अनेक लेखकों का विचार है कि ये प्रक्षिप्त हैं । हम ऐसा नहीं मानते ।

वेलंकर का मत—महोपाध्याय एच० डी० वेलंकर लिखता है—

32. प्राकृत stanzas,

They are composed in the early अपभ्रंश language...... Thus both the kinds of stanzas must be considered to be original part of the act.

(Summaries :—A. I. O. C., Delhi, 1957, p. 91.)

इससे पता लगता है कि प्रथम शती विक्रम से पूर्व ही अपभ्रंश भाषा में काव्य-रचना आरम्भ हो गई थी ।

एक काल में तीन भाषाएँ—विक्रम की पांचवीं शती से ११वीं शती तक भारतीय इतिहास में तीन भाषाएँ साथ साथ प्रयुक्त होती थीं । अतः इस युग को 'मिडल इण्डो आर्यन' काल कहना और प्राकृत तथा अपभ्रंशमात्र से इनका सम्बन्ध जोड़ना सर्वथा अयुक्त है ।

अपभ्रंश वाङ्मय—आज से ५० वर्ष पहले अपभ्रंश की रचनाएँ दो चार ही संप्राप्त थीं । पर अब इस भाषा में बहुत अधिक रचनाएँ प्राप्त हो गई हैं । इनमें जैन आचार्य देवसेन के दोहे, धनपालकृत भविसत कहा, श्री चन्द्रकृत अपभ्रंशकथाकोश (११ शती ईसा), अब्दुल रहमान कृत सन्देश-

रासक[1], हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण और प्रबन्ध चिन्तामणि आदि में अपभ्रंश भाषा का अच्छा रूप मिलता है।

अपभ्रंश के भेद—नमि साधु ने उपनागर, आभीर और ग्राम्य तीन प्रकार की अपभ्रंश भाषाएँ कही हैं। मार्कण्डेय का कथन है कि अनेक लोग २७ भेद मानते हैं। इन्हीं अपभ्रंशों से भारत की वर्तमान प्रान्तीय बोलियाँ विकृत हुईं।

अपभ्रंश के सामान्य नियम (वर्ण-विकार)

अपभ्रंश में शौरसेनीवत् कार्य होता है।

१. जो स्वर प्राकृत में लुप्त हुए वे अपभ्रंश में भी प्रायः लुप्त रहे।

२. अर्ध ए और ओ अपभ्रंश में पाए जाते हैं।

३. स्वर के परे वर्तमान क, ख, त, थ, प, फ के स्थान में प्रायः ग, घ, द, ध, ब, भ यथा स्थान हो जाते हैं, पर पद के आदि में न होने पर।

४. ऊपर और नीचे के संयुक्त रेफ का लोप प्राकृतवत् हुआ है। नमि साधु पृ० १५ पर लिखता है—**न लोपोऽपभ्रंशे ऽधोरेफस्य।**

५. म् का व् में और व् का म् में विकार अपभ्रंश में सर्वत्र हुआ है। यथा—

एव	एमु
तावत्	ताम
पूर्व	पुरिम (ललितविस्तर)
	पुरिमं पुव्वं[2]
यावत्	याम

६. संस्कृत नामों की कई विभक्तियाँ नष्ट हुई हैं। विभक्तियों के प्रत्ययों का भी लोप हुआ है।

७. प्रथमा और द्वितीया के एकवचन और बहुवचन के प्रत्यय नष्ट हुए हैं।[3]

८. षष्ठी विभक्ति का प्रायः लुक् (लोप) हुआ है। (रूपावतार, पृष्ठ ९९)

९. लिंग का कोई नियम नहीं रहा (रूप० पृष्ठ १००)।

१०. असौ को ओई हुआ है। (रूप० पृष्ठ १०३)

इसी का पंजाबी में ओ है।

---

१. रासक रचनाओं का उल्लेख नाट्य ग्रन्थों में मिलता है। भामह १।२४ में रासक का नाम स्मरण करता है। भट्ट कुमारिल ने भी रासक का उल्लेख किया है। देखो तन्त्रवार्तिक १।३।२४, पृष्ठ २६३, पूना।

२. मार्कण्डेय, पृ० ६४। ३. स्यम्जस शसां लुक। हेम ४।३४४॥

११. अपभ्रंश में उपसर्गों का पार्थक्य नहीं रहता।

सोदय	सूद
सलवण	सलूण (यही रूप पंजाबी में है।)

१२. सर्वनाम इदम् का इमु।[1]

अपभ्रंश के कतिपय शब्द—आगे संस्कृत, अपभ्रंश और वर्तमान भाषाओं के शब्दों की तुलना की जाती है।

संस्कृत	प्राकृत	अपभ्रंश	हिन्दी	पंजाबी
एकविंशति	एकवीसति	एक्कबीस	एकईस इक्कीस	इक्की
अष्टाविंशति		अट्ठ-वीस	अठाईस	अठाई
अष्टविंशत्[2] = अष्टाविंशत्		अट्ठबीस		
चतुस्त्रिंशत्		चउतीस	चौंतीस	चौंती
पञ्चपञ्चाशत्		पण-पण्णास	पचपन	पचंविजा
पञ्चसप्तति		पञ्चसत्तर	पचहत्तर	
यदि	जेव	जई		जे
मया	मे	मईं	मैं (ने)	मैं
संध्या		संझा	सांझ	संझा
अप्सरा		अच्छरा		परी
मत्सर		मच्छर		
आज्ञा	आणा	आण		
चतुरस्र		चउरंस	चौरस	
दैव	दइव	दइव		द्यो
कपाट		कवाड़	किवाड़	
कूप[3]		कूव	कुआँ	खू
घट		घड़	घड़ा	
चित्र		चित	(तुलना चितेरा)	
जानाति	जाणाति	जाणइ	जानता	जाणदा

---

१. हेम ४।३६१॥

२. पार्जिटर का पुराण पाठ, पृ० १६, पंक्ति ५।

३. मेवाड़ी में कूड़ा।

अपभ्रंश छन्द—अपभ्रंश (मात्रा, वृत्त और तालवृत्त) छन्दों का वर्णन अध्यापक एच० डी० वेलंकर ने किया है।[1]

अपभ्रंश और अवहट—जैनाचार्य हरिभद्र सूरी (वि० ६ शती का अन्त)[2] अवहट का एक दोहा लिखता है। पुनः यह शब्द अब्दुल रहमान के सन्देश-रासक[3] में उपलब्ध होता है। तत्पश्चात् कीर्तिलता और प्राकृत पिंगल की टीकाओं में भी मिलता है। यह स्पष्ट ही अपभ्रष्ट शब्द का विकार है। अतः यह शब्द प्राकृत और अपभ्रंश दोनों के लिए प्रयुक्त होता रहा है।

---

१. भारत कौमुदी पृष्ठ १०६५—१०८१।

२. अनेक ग्रन्थकारों ने इस तिथि को उत्तर काल में रखने का यत्न किया है।

३. देखिए—संनेहय रासय। दोहा ६।

बीसवाँ व्याख्यान

हिन्दी-पञ्जाबी

भारतीय बोलियाँ—भारत में साक्षात् अथवा परम्परा से संस्कृत से अपभ्रंश-रूपा लगभग १८० बोलियाँ प्रचलित हैं। इनमें से लगभग ५० अधिक विस्तृत हैं। उनमें से भी १० प्रधान हैं। इन्हें भाषा पद से अलंकृत किया जाता है।

दस प्रधान भाषाएँ—हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती, उड़िया, सिन्धी, तामिल, तेलुगू, कन्नड और मलियालम प्रधान भाषाएँ मानी जाती हैं।

नाम की पुरातनता—भाषा का हिन्दी नाम अधिक पुराना नहीं है।

लिपि—ग्रन्थ साहब में इस लिपि का बावनी नाम प्रसिद्ध है। इसके ५२ अक्षरों में से १४ स्वर और ३८ व्यञ्जन हैं।[1]

हिन्दी का संसार में स्थान—बोलने वाले मनुष्यों की संख्या की दृष्टि से कतिपय भाषाओं का निम्नलिखित क्रम है—

चीनी	४५००००००
अंग्रेजी	२५००००००
हिन्दी	१७००००००
रशियन	१४००००००

हिन्दी की साधारण अवस्था—जहाँ अंग्रेजी, रशियन आदि भाषाएँ संसार-मात्र पर अपना प्रभाव डाल रही हैं, वहाँ हिन्दी का प्रभाव अभी अत्यल्प है। उच्च वाङ्मय हिन्दी में नगण्य है। अभी तक विशाल संस्कृत वाङ्मय के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के युक्त अनुवाद भी इसमें नहीं हो पाए।

हिन्दी पर विभिन्न भाषाओं का प्रभाव—वर्तमान हिन्दी पर निम्नलिखित भाषाओं का न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा है—

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रज, अवधी, फारसी, अरबी, तुर्की, पुर्तगाली फ्रैंच[2] और अंग्रेजी।

---

१. संवत् १४७५ में प्रतिलिपि किए गए कुमारपाल-प्रबन्ध, पत्र ८१ का लेखांश देखिए—चतुर्दशस्वराष्टत्रिंशद् व्यंजनरूपाद्विपंचाशदक्षरप्रमाण-मातृकैवोपदिष्टा......। Des. Cat. Mss. Pattan, Baroda, 1937. पृ० १६।

२. हिन्दी का आंगल (=अंग्रेजी) शब्द फ्रैंच anglais (=आंगले) का रूपान्तर है।

इनमें से वर्तमान हिन्दी में ६५ प्रतिशत शब्द साक्षात् संस्कृत अथवा अपभ्रंश के विकार हैं।

हिन्दी का विस्तार क्षेत्र—हिन्दी का विस्तार जिन प्रदेशों से हुआ, उनका निदर्शन निम्नलिखित चित्र से प्रकट किया जाता है—
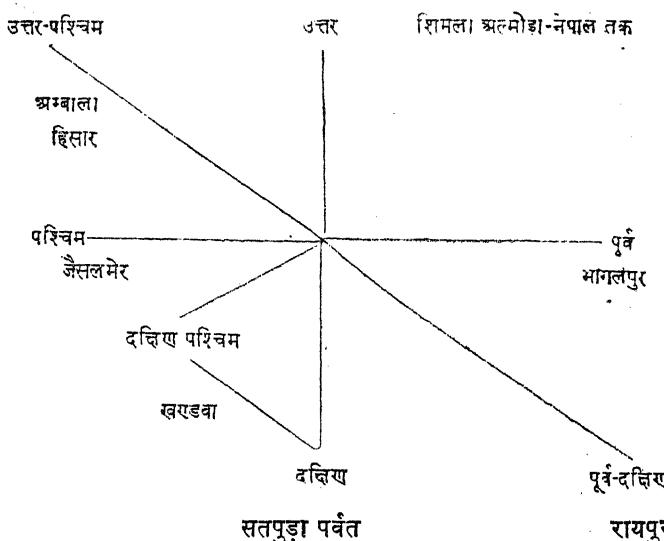
उत्तर में शिमला, अलमोड़ा आदि पार्वत्य स्थानों से, दक्षिण में सतपुड़ा पर्वत तक, पश्चिमोत्तर में अम्बाला से, दक्षिणपूर्व में रायपुर तक तथा पश्चिम में जैसलमेर प्रदेश से पूर्व में भागलपुर तक हिन्दी का विस्तार है।

हिन्दी की विशेषताएं—हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। इसमें संस्कृत के स्वर प्रायः स्पष्ट रूप में मिलते हैं। अर्ध ए, ओ, ऐ, औ तथा विसर्ग सुरक्षित रहे हैं। कश्मीरी तथा पूर्वी बंगला में स्वर दुरूह हो गए।

२. व्याकरण के रूप थोड़े और नियम सरल हैं।

३. विभक्तियाँ बनी रही हैं, पर विभक्ति के प्रत्ययों का प्रायः विप्रकर्ष (=पार्थक्य) हो गया।

हिन्दी का प्रारम्भ और उसका परिष्कार—हिन्दी का आरम्भ अपभ्रंशों से हुआ। उसका प्रारम्भ विक्रम सं० १००० से हो गया। सं० १२०० से इसके साहित्यिक भाषा होने के प्रमाण मिलते हैं। सं० १६०० तक इसकी गति मन्द रही। २०वीं शताब्दी के आरम्भ से हिन्दी का परिमार्जन आरम्भ हो गया। इसके परिष्कार का श्रेय स्वामी दयानन्द सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,

महावीरप्रसाद द्विवेदी, जयशंकरप्रसाद और सुमित्रानन्दन पन्त आदि शतशः लेखकों को है।

बाजारू हिन्दी को हिन्दुस्तानी का नाम देकर उसे राष्ट्र-भाषा पद पर आसीन करने का जो प्रयत्न कुछ अदूरदर्शी लोगों द्वारा किया गया था, वह तिरस्कृत हो चुका है।

शब्दाध्ययन—हिन्दी में साधु शब्दों के विकार के लगभग वे ही प्रकार हैं, जो प्राकृत आदि के व्याख्यानों में पहले कह आए हैं। अतः संक्षेपार्थ उनका यहां दोबारा उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार के कुछ आवश्यक शब्द आगे दिए हैं—

अ का इ में रूपान्तर

घर्षणं	घिसना
चटक	चिड़ा
पञ्जर	पिंजरा
ह्लनं (=कम्पनं[1])	हिलना

हिन्दी में कतिपय साधु शब्दों का विभ्रष्ट रूप निम्नलिखित ढंग से हुआ है।

संस्कृत	**अपभ्रंश**	**हिन्दी**
कीदृश	कीदिस	कैसा
कीनाश[2]		किसान
कुचैल (कुत्सित वस्त्र)		मैले-कुचैले
कुसूल		कसोरा (दूध-पानी पीने का मिट्टी का बर्तन)
कृषिवार्ता		खेतीबाड़ी
कोकिल		कोयल
कोटपाल		कोतवाल
कोष्ण		कोसा
क्रम[3]		कदम (करम पंजाबी)

---

१. वीरमित्रोदय, आह्निक प्रकाश, पृ० ६४।

२. कीनाशाः=कर्षकाः, वीरमित्रोदय, व्यवहारप्रकाश, पृ० २३।

३. शास्त्रवचन है—'ग्रामाद् क्रमशतम्'। अर्थात्—ग्राम से सौ क्रम। कल्पसूत्रों में इसी अर्थ में प्रक्रम शब्द प्रयुक्त हुआ है। अरबी का कदम शब्द भी इसी का रूपान्तर है।

खल[1]		खलिहान
गर्त[2]	गड्ड	गाड़ा[2]
गर्त[3]		गड्ढा, गढ़ा (खड्ड)
ग्रन्थी	गण्ठी	गाँठ
चतुष्किका		चौगाठ, चौखट
चत्वर		चबूतरा
चर्म		चमड़ा
ताम्र		ताँबा
दंष्ट्रा		डाढ़
दक्षिणं	दाहिणं[4]	दाहना
दर		दराड़ (तरेड़—पंजाबी)
दुर्लभ	दुल्लह	दूल्हा
पदाति	पयायी	पांई
प्रस्राव[5]		पेशाब

---

१. वीरमित्रोदय आह्निक प्रकाश पृष्ठ ३५ पर लिखा है—'खलं सस्यमर्दन-देशः। मध्यदेशे खरिहानमिति प्रसिद्धम्।

२. देखो पूर्व पृष्ठ ३६। निरुक्त में लिखा है—'रथोऽपि गर्त उच्यते' (३।५)। प्रामाणिक हिन्दी कोष में 'गाड़ा' को संस्कृत 'शकट' पद का विकार माना है। यह अशुद्ध है। वीरमित्रोदय, संस्कार-प्रकाश, पृ० ५३३ पर श्रुति का पाठ है—स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानमिति। मित्रमिश्र अर्थ करता है—गर्तः शकटम्।

३. संस्कृत में 'गर्त' शब्द खड्ड अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। यथा त्रिगर्त (जिस पार्वत्य प्रदेश में सतलज, व्यास और रावी के बहने से तीन खड्ड बने हैं) शब्द में। अतः हिन्दी का गड्ढा, गढ़ा और हिन्दी-पंजाबी में प्रयुक्त खड्ड भी स्पष्ट रूप से गर्त का विकार हैं। प्रामाणिक हिन्दी-कोष में खड्ड का मूल संस्कृत का 'खात' शब्द दर्शाया है।

४. नाटक लक्षणरत्नकोश, पृ० २२।

५. प्रस्राव शब्द का अर्थ मित्रमिश्र लिखता है—'प्रस्रावे मूत्रोत्सर्गे' (आह्निक प्रकाश, पृष्ठ २६)। तथा दशपादी उणादिवृत्ति ८।८३ पर मूत्रम् = प्रस्रावः,। महाभारत आदि में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी का अपभ्रंश 'पेशाब' है। प्रामाणिक हिन्दी कोशकार पेशाब शब्द को फ़ारसी का शब्द मानता है। पर यह भूल है।

प्रस्रावकुटी[1]=मूत्रकुटी=वर्चकुटी	टट्टी
बलीवर्द[2]	बैल, बद्द (जि० अलीगढ़) बर्धा तथा बलद (मारवाड़ी)
बुभुक्षा	भूख
मर्त	मर्द (मद्द—जि० अलीगढ़)
यत्न	जतन
यादव	जादव
रिष्ट	रीठा
लक्ष	लाख (संख्यावाची)
लाक्षा	लाख
लिण्ड अथवा लेण्ड[3]	लेण्डी, लीद, लिद्द (पंजाबी)
वट	बड़
वर्ष	बरस
वर्षा	बरखा
वाप	बाप
सुरा	शराब
शिङ्घाण	सींड
शृङ्ग	सींग (सिंग—पंजाबी)
स्थानाधिकृत	थानेदार

वास्तविक अर्थ के अज्ञान से शब्दों का रूपान्तर—संस्कृत का एक शब्द है 'अहिच्छत्र'। वर्षा-ऋतु में खुम्ब (साँप की छतरी) उत्पन्न होती है, उसका रूप छतरी के समान होता है। अतः इसका अर्थ है—अहि=मेघ से उत्पन्न

---

१. चीवर वस्तु, पृ० ८१।

२. संस्कृत के एक बलीवर्द शब्द से हिन्दी के दो शब्द बने। बली से 'बैल' और वर्द से 'बद्द' (अलीगढ़) तथा 'बर्धा' (मारवाड़ी)। प्रामाणिक हिन्दी कोश में बैल का मूल संस्कृत का 'बलद' शब्द माना है। मोनियर विलियमस् के संस्कृत कोश में हमें 'बलद' शब्द नहीं मिला। अतः मारवाड़ी में बैल अर्थ में प्रयुक्त 'बलद' शब्द 'वर्द' का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है। अंग्रेजी का bull इसी संस्कृत बली के प्राकृत बइल्ल शब्द का विकार है।

३. लेण्ड रूप राजपुत्र के अति प्राचीन ग्रन्थ में। अद्भुत सागर, पृ० ५६७ पर उद्धृत।

छत्र। संस्कृत में अहि का दूसरा अर्थ सर्प=साँप है। इस कारण अहिच्छत्र के पूर्व भाग 'अहि' के मेघ अर्थ के अज्ञान से हिन्दी में अहिच्छत्र का नाम 'साँप की छतरी' हो गया। संस्कृतेतर अपभ्रंश भाषाओं में वास्तविक अर्थ के भूल जाने से इस प्रकार के अनेक काल्पनिक नाम बने हैं।

संस्कृत-इतर शब्दों के विभ्रष्ट होने में प्रमाण—ग्रीक, लैटिन, गाथिक, अंग्रेजी, जर्मन, हिन्दी, मराठी और पञ्जाबी आदि के शब्द सर्वथा विभ्रष्ट हैं। इसमें प्रबल प्रमाण हैं।

(क) संस्कृत का एक शब्द है 'कोटपाल'। उसका अर्थ है, दुर्ग अथवा परकोटे की रक्षा करने वाला अधिकारी। इसका हिन्दी रूपान्तर है 'कोतवाल'। हिन्दी कोतवाल शब्द का आदि अवयव 'कोत' है, परन्तु 'कोत' शब्द हिन्दी पंजाबी आदि भाषाओं में दुर्ग अथवा परकोटे अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता।[1] इस कारण कोतवाल शब्द अपने वास्तविक अर्थ को प्रकट करने में असमर्थ होने के कारण स्पष्ट रूप से विभ्रष्ट है।[2]

(ख) इसी प्रकार पंजाबी, हिन्दी का एक शब्द चितेरा है। यह चित्रकार शब्द का विभ्रष्ट है। चित्र का विकृत रूप चित्त तो मिलता है, पर चिते हमारी दृष्टि में नहीं पड़ा। कार का भी यहाँ रा रह गया है। इस प्रकार इस शब्द का अर्थ तो रह गया, पर विकृत चितेरा रूप अपने अर्थ के स्पष्ट करने की सामर्थ्य खो बैठा। यह विभ्रष्ट ही है।

(ग) इसी प्रकार अंग्रेजी में boot (=पांव का जूता) शब्द है। इसका एक अर्थ Concise Oxford कोष में दिया है—Outer foot-covering. पुनः लिखा है—etym. dubious. वस्तुतः यह संस्कृत के पत्र (=पत्-त्राण =पाँव का रक्षक)[3] पद का ही अपभ्रंश है।

अतः जो लोग साधु और असाधु शब्दों का भेद नहीं मानते, वे घोर अन्धकार में हैं। हिन्दी भाषा का इतिहास भी भाषा-ह्रास का स्पष्ट चित्र उपस्थित करता है।

---

१. मूल संस्कृत शब्द 'कोट' तो अपने यथार्थ अर्थ में वर्तमान हिन्दी, मारवाड़ी आदि में प्रयुक्त है, परन्तु उसका अपभ्रंश 'कोत' कहीं प्रयुक्त नहीं होता।

२. इसी विचार से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा था—'जब (हिन्दू शब्द) संस्कृत भाषा का नहीं है, तो इसका वास्तविक अर्थ कभी हो ही नहीं सकता।' (ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन)

३. वीरमित्रोदय, आह्निक प्र०, पृ० ९४।

पंजाबी

बोली—भारत की दस प्रधान भाषाएँ पहले लिखी गई हैं। पंजाबी अभी तक उनके समीप नहीं पहुँच सकी। वस्तुतः हिन्दी का ही एक रूप पञ्जाबी बोली है। पंजाब में वस्तुतः अनेक बोलियाँ प्रचलित हैं। उनमें द्वाबी, माझी, रेड़की(=बटाला और व्यास के बीच के २२ ग्रामों की संज्ञा), लैंहदी (=पश्चिम लत्थ जाए), मालवाई, मुलतानी, डोगरी और पोठोहारी[1] आदि अधिक प्रचलित हैं।

पंजाबी बोली पर वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का पर्याप्त प्रभाव है।

पंजाबी वाङ्मय—पंजाबी का पुराना साहित्य अति संकुचित है। इसमें वारिस शाह की हीर[2], सस्सी पुन्नू, पूरन भगत् और सोहनी महीवाल आदि छोटे-बड़े काव्य-ग्रन्थ हैं। एक-दो आयुर्वेद के ग्रन्थ भी पंजाबी में लिखे गए। कुछ साहित्य और भी है, पर वह प्रकाशित नहीं हुआ। पृथ्वीराज रासो में पंजाबी-हिन्दी के कई शब्द हैं। स्मरण रहे कि चन्द का जन्म लाहौर में हुआ था।

लिपि—पुरानी पंजाबी, फारसी, नागरी और गुरुमुखी अक्षरों में लिखी जाती थी। हीर-काव्य प्रायः फारसी अक्षरों में ही था।

गुरुमुखी लिपि का उद्गम अभी कल की अर्थात् लगभग ४०० वर्ष पूर्व की बात है। कहते हैं दूसरे गुरु श्री अंगदेव जी ने लण्डा लिपि[3] से इस लिपि की वर्णमाला के निर्माण में कुछ सहायता ली थी।[4] इसमें केवल पैंतीस वर्ण हैं।

---

१. पोठोहार का पुराना नाम पोटाहार है। यह देश महाभारत काल में भी इस नाम से प्रसिद्ध था। पाण्डव नकुलकृत अश्वशास्त्र में पोटाहार अश्वों का उल्लेख है। वीरमित्रोदय, लक्षणप्रकाश, पृ० ४१५ पर उद्धृत।

२. इस हीर-राञ्झा कथा का मूल दामोदर कविकृत हीर-कविता थी। दामोदर कवि हीर का समकालिक था। J. A. S. B., Letters, vol XIX, No. 21, 1953, p. 128.
अपने विषय में दामोदर लिखता है—

दामोदर नाँमी ख़ुशकलामी, हिन्दी ख़्वानी ताजा बयानी, दोहरा बन्दी शेअरी बुलन्दी,
रास्तगो सफाजू, साकन झंग-सयाल-दरशेर हिन्दी साहब कमाल। ध्यान रहे कि वह पंजाब की बोली का हिन्दी नाम ही लिखता है।

३. लाहौरी, सिन्धी, मुलतानी आदि कई प्रकार की लण्डा लिपि है।

४. श्री दुनीचन्द कृत पंजाबी और हिन्दी का भाषा-विज्ञान, पृ० ३१।

जन्म साखी का साक्ष्य—लिखा है कि गुरु अंगदजी ने भाई बाला को कह कर गुरु नानक जी की जन्मपत्री उनके घर से मंगवाई। उसे प्राप्त करके बड़े आदर पूर्वक अपनी आंखों और सिर पर रखी—"जाँ खोलकर देखी तां अक्खर शास्त्री हैन.........। अग्गे अक्खर सासत्री सारे संसार में परसिध हैगे सन्। एह गुरमुखी अक्खर सिरी गुरु नानक जी बणाए, अते सिरी गुरु अंगद जी जगत बिच्च बरताए।......... किओ जो संसकिरत समझनी पढ़नी बड़ी औखी सी, अते गुरमुखी सुखैन ही समझी जादी है। कलजुगी जीवाँ दी बुध मोटी जान के सिरी गुरुनानक जी गुरमुखी अक्खर रच दीए हैन। (जन्मसाखी, भाई बाला, मुफीदे-आम-प्रेस, लाहौर, १९१४, पृ० ३, ४।)]

इससे प्रतीत होता है कि गुरमुखी लिपि की रचना में गुरु नानक जी का पूरा हाथ था।

नागरी से भेद—(१) गुरुमुखी लिपि में हिन्दी सदृश तत्सम शब्द अपने शुद्ध रूप में लिखे नहीं जा सकते। यथा—

हिन्दी	मनुष्य	अक्षर	नियम
पंजाबी	मनुख	अक्खर	नेम

२. हिन्दी में संयुक्ताक्षरों का प्रयोग अपने शुद्ध रूप में होता है। इसके विपरीत पंजाबी में प्राय: स्वरभक्ति = विप्रकर्ष हो जाता है। यथा—

अभ्यास	अभियास
अवस्था	अवसथा
कर्म	करम
दीर्घ	दीरघ
प्रधान	परधान
वस्त्र	वसतर
स्त्री	इसतरी

३. **कारक अथवा नाम विभक्तियाँ**—हिन्दी और पंजाबी बोली के भेद का मुख्य स्थान यही है। अत: दोनों के रूप आगे लिखे जाते हैं—

कारक	हिन्दी	पंजाबी
कर्ता	ने, अथवा विभक्ति-शून्यता	ने, (शून्यता)
कर्म	को	नूँ
करण	से, द्वारा, के द्वारा	दी, राहीं, नाल[1]

---

१. हुकम रजाई चलना नानक लिखया नाल।

सम्प्रदान	के लिए, वास्ते	लई, दी लई, वास्ते
अपादान	से	तों, थों
सम्बन्ध	का, के, की	दा, दे, दी
अधिकरण	में, पर, अन्दर	विच्च, उत्ते, अन्दर
सम्बोधन	हे, अरे, अजी	ओए, वे

हिन्दी—देव ने मोहन को उँगली के संकेत से बुलाया।

पंजाबी—देव ने मोहन नूँ उँगली दे इशारे नाल बुलाया।

सर्वनाम—सर्वनाम को पंजाबी में **पड़नाँव** कहते हैं। संभवतः अंग्रेजी pronoun का यह विकार हो। पंजाबी सर्वनाम निम्नलिखित है—

मैं, तेरी, साडी, असी
तूँ, तेरी, तुहाडी, तुसि, आप
ओह, एह

ना अव्यय—संस्कृत में समानार्थक तीन अव्यय हैं—न, ना और नो। पंजाबी का दीर्घ ना संस्कृत का साक्षात् अवशेष है। यथा-तूं ना कर।

तत्सम शब्द

इनमें से जिनके आगे पृष्ठ अंक दिया है, वे दशपादी अणादि वृत्ति से लिए गए हैं—

कच्छः	(पृ० १७१)	कच्छ
कुडः	(पृ० १८६)	कुड़ी
कूची	(पृ० १७०)	कूची
खण्डः =इक्षुविकार	(पृ० १७६)	खण्ड
गलः		गल
घरः		घर
जटा		जटा

पंजाबी के विकृत शब्दों के कतिपय रूप

संस्कृत	पंजाबी
अधुना	हुण
अधस्तात	हेठाँ
आपोतक	पोणा
उडक	गिड्ड (नेत्रमल) (गीड-हिन्दी)
उत्खात	उखाड
एकस्था	अकट्ठा

कच्छप-कूर्म	कच्छु कुम्मा
कटाह[1]	कट्टा (भैंस का)
काष्ठेक्षु[2]	काठा गन्ना (ईख)
कृशरा	खिचड़ी
खुट्ट (तोड़ना)	खुट्टी (खुट्टई—कर्पूर-मंजरी)
चिक्खल:	चिक्कड़
गर्भित	गब्भरण
गाजरं[3]	गाजर
गुप्त	गुत्त, (जो दुपट्टे से गुप्त अर्थात् ढकी रहे)
गुह्य	गुज्झा
गूढद्रव्य	घूस
छिक्का तथा छिक्का (आह्निक प्रकाश, पृ० ५०४)	निच्छ,[4] (छींक-हिन्दी)
जाङ्घिक (जंघा का)	जाँघिया
तप्त (प्राकृत-तविओ)	तत्ता
दर्दुर	डड्डू
देवदारु	द्यार (वृक्षविशेष)
द्रोण	डोना
नाणक (प्राचीन मुद्रा)	नाँवाँ (=रकम, नाँणा-गुजराती)
पटल	पटड़ा
पाषि (चीवर वस्तु, पृ० ३३)	पाथी
पुरीष (=विष्ठा)	फोस

---

१. भैंस का बच्चा। यह अर्थ संस्कृत कोषों में है। मोनियर विलियम्स ने भी यह अर्थ सन्निविष्ट किया है।

२. हर्ष चरित। चरक सं० सूत्र० २५।४८ में काण्डेक्षु।

३. ब्रह्मपुराण, वीरमित्रोदय, श्राद्धप्रकाश, पृ० ५७ पर उद्धृत। मोनियर वि० के कोश में यह शब्द नहीं है।

४. होशियारपुर आदि में 'छिक्क' और अमृतसर आदि में निच्छ, दो मूल शब्दों के दो विकार स्थान-भेद से प्रयुक्त होते हैं।
अंग्रेजी का sneeze इसी प्रकार का विकार है।

पौण्ड्र-इक्षु	पोण्डा, पोना (गन्ना)
बलीवर्द	बैल, बल्द
भाटक	भाड़ा
भ्रमण	भौण, (भौणी-कूप की। भुम्राटणी)
मच्छः (प्रमत्त पुरुष)	मच्छरिया होया
रक्षा (जंगल)[1]	रख
रज्जु	लज्ज
रज्जुवर्तक	लज्ज वट्टण वाला
वल्गा	वाग (घोड़े की)
विस्वर	बेसुरा

(पंजाबी के अन्य अपभ्रंशों के लिए पूर्व पृष्ठ ३९ देखो)

संस्कृत	प्राकृत	पंजाबी
कीनाश (कृपण)		कञ्जूस
जामातृ	जामाअरं	जुआई
दुहिता	धीआ	धी
नकुल	णउल,	निओला
नख	णहो	नौंह
नृत्यति	नच्चइ	नच्चदा
पुस्तक	पोत्थओ[2]	पोथी
प्रदीप्तम्	पलित्तं	पलीता
मानुष	माणुसो	माणु
रश्मि	रस्सी-रसी=रासी[3]	रास
राजा	राआ	रा[4]
विस्तीर्ण=आस्तीर्ण		बिस्तरा
शपथ	सवहो	सौंह
श्मशान	मसाणं	मसाण

---

१. देखो वैजयन्ती-कोश।

२. पुस्तके=पुत्थए (भासकृत अविमारक)।

३. ह्रस्वस्यापि क्वचिद्दीर्घो—रश्मी रासी निगद्यते। प्राकृतमञ्जरी, पृ० ५१।

४. जम्बू रा।

इक्कीसवां व्याख्यान

अंग्रेजी

Historical linguistic=**ऐतिहासिक भाषा-विद्या**—यह निश्चय है कि भाषा-विद्या का यथार्थ अध्ययन ऐतिहासिक काल-क्रम के पौर्वापर्य-ज्ञान के विना कभी नहीं हो सकता। भाषा-विद्या का व्याख्यान इतिहास के आधार पर होना चाहिए। एतदर्थ इतिहास का निर्माण कल्पित-भाषा-विद्या के आधार पर कदापि नहीं किया जा सकता। योरोप के ईसाई लेखकों ने महती चालाकी से भोले पाठकों की आंखों में धूल झोंकी है। उन्होंने अतिभाषा तथा संस्कृत के वास्तविक कालक्रम को झूठा कह कर, इसका एक कल्पित कलेवर खड़ा कर दिया है। हमने उनके माया-जाल के खण्डन के निमित्त भारतवर्ष का बृहद् इतिहास विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है। विद्वान् जानते हैं कि भारत में आर्यों का इतिहास दस-बीस सहस्र वर्ष से कहीं पुराना है। अतः भाषाओं के अध्ययन में संस्कृत और उससे भी पूर्व-कालिका अतिभाषा का ही ऐतिहासिक-क्रम सबको स्वीकार करना पड़ेगा। संसार की सम्पूर्ण भाषाएं संस्कृत भाषा से सहस्रों वर्ष पश्चात् की अपभ्रंश-बोलियाँ ही हैं। बस, इस सत्य के सामने आते ही भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन एक सीधी सड़क पर चल पड़ता है। उसके रूप में कृत्रिमता नहीं रहती।

अंग्रेजी का रूप—भाषाओं की तुलना के लिए जिन चार तथ्यों का जानना अत्यन्त आवश्यक है, उनका वर्णन पूर्व पृष्ठ १८० पर कर दिया गया है। तदनुसार अंग्रेजी में उच्चारण-प्रकार, अंग्रेजी के प्रायः व्याकरण-नियम, अंग्रेजी का शब्द भण्डार, और अंग्रेजी के लिए अपनाई गई लिपि के विषय में पूर्व पृष्ठों में थोड़ा-थोड़ा लिखा जा चुका है। अंग्रेजी का शब्द-भण्डार संस्कृत अथवा अतिभाषा के अपभ्रंशों से भरा पड़ा है, इसका दिग्दर्शन आगे कराया जाता है।

१. युक्त अक्षरों में ऊपर का अक्षर लुप्त

वररुचि का सूत्र—प्राकृत प्रकाश में सूत्र है—**उपरि लोपः क-ग-ड-त-द प-ष-साम्** ।३।१॥

अर्थात्—युक्त अक्षरों में क-ग आदि आठ वर्णों का, जब वे ऊपर लिखे गए हों, लोप होता है।

टिप्पण—इससे यह स्पष्ट है कि वररुचि के काल से पहले भी युक्त अक्षर ऊपर और नीचे लिखे जाते थे। यथा क्त, ग्ध, स्त आदि।

अब अनेक अंग्रेजी शब्दों में इस नियम का चरितार्थ होना देखिए—

अत्र	here
कुत्र	where
तत्र	there

यहां सर्वत्र ऊपर के त का लोप हुआ है।

२. वररुचि ३।३ के अनुसार ऊपर वाले रेफ का लोप होता है। संस्कृत के अर्क पद का अपभ्रंश अक्क होता है। ऐसे ही अंग्रेजी में—

शर्करा	sugar
चर्वणं	chewn

३. उच्चारण-दोष से गकार का क-ध्वनि में अपभ्रंश

संस्कृत	इंगलिश	पुरानी इंगलिश
गणन	count	
गर्त	cart	
गाजर	carrot	
गौ	cow	cu
नग्न	naked	nacod

४. अंग्रेजी का इष् प्रत्यय

अंग्रेजी में—child-ish, redd-ish, yellow-ish शब्दों में इषान्त रूप बने हैं। इस इष् का मूल संस्कृत का इष अथवा ईषत् पद है। यथा—बालिश तथा ईषत् स्पृष्ट पिङ्गल। ईषत् स्पृष्ट इत्यादि। reddish में ईषत्-पिंगल सदृश अर्थ है।

५. पौर्वापर्य

संख्या ४ के अन्तर्गत अंग्रेजी ने इष् को शब्दान्त में रखा है। यह आद्यन्त विपर्यय अन्यत्र भी है।

६. आद्यन्त विपर्यय

पञ्चषष्टि	sixtyfive
चतुश्चत्वारिंशत्	fortyfour

यहाँ पूर्व के पञ्च का स्थान five ने अन्त में लिया है।

७. सर्वत्र नहीं

अंग्रेजी में ही क्रम यथामूल भी रहा है—

संस्कृत	पुरानी इंगलिश	इंगलिश
त्रयोदश	threotene	thirteen
त्रिंशति	thritig	thirty

८. संस्कृत पदों के समानार्थक अंग्रेजी अपभ्रंश

विद्वान् पाठकों के लिए अगली सूची उपादेय होगी—

इतर	other	
ईर्म (निरुक्त ५।२५)	arm	
उष्ट्र (=ऊंट और पक्षी भी)	ostrich	
ऊर्मिका	ring	
कपि	ape	
कुटि	cot	
गति	gait	
चिहुरा (अभिधान चिन्तामणि, मर्त्य का० श्लोक २३१)	hair	
ज-लौक	leech	
डर	dread	
तक्र	curd	
दक्ष (=चतुर)	dextrous	
द्रप्सः	drop	
नासा	nose	
पारावत (निरुक्ति २।२४)	parapat	
पोत	boat	
प्लव	flow	
प्लवंग	frog	
भर (निरुक्ति ४।२४)	war	
भुर्ज	birch	(लैटिन—birk)

मशक	mosquito	(लैटिन—musca)
मुख-स्राव (चरक सं०, सूत्र २६।६७)	saliva	
लघु	light	
वर्तक (चरक सं०, सूत्र ३०।७२)	bird	
वान्त	vomit	(वमन दूरस्थ मूल है)
शारिवा (चरक सं०)	rice	
हेड (=अनादर)	hate	

इनके अतिरिक्त अनेक संस्कृत पद और उनके अंग्रेजी अपभ्रंश पूर्व पृष्ठों पर यत्र-तत्र लिखे जा चुके हैं।

अंग्रेजी आदि भाषाएँ संस्कृत का विकार नहीं है, यह मिथ्या-उक्ति कौन विज्ञ पुरुष करेगा। सत्य छिपा नहीं रह सकता। ईसाई और यहूदी अध्यापकों ने इस तथ्य को तिरोहित करना चाहा था। उन्होंने साइंस के नाम पर असत्य पक्ष खड़े करने का भरसक यत्न किया। पर यह नाम भी उन्हें नहीं बचा सका। सच पूछिए, तो ईसाई-लेखक साइंस के समीप भी नहीं गए थे।

संसार के विद्वानों को चाहिए कि वे अपभ्रंशों के मिथ्या-प्रेम को त्याग कर संस्कृत का प्रयोग आरम्भ करें।

आवश्यक पद-सूची